आरोग्य के विचार से विशेष उत्तम हैं। पहाड़ी प्रदेशों का जल भारी होने के कारण वहां के निवासियों का स्वास्थ्य रेगिस्तानवालों के जैसा अच्छा नहीं रहता। राजपूताने के अन्य विभागों की अपेक्षा रेतीले प्रदेशों में शीत काल में अधिक सर्दी और उष्ण काल में अधिक गर्मी[1] रहती और लू तथा आंधियां भी बहुत चलती हैं। मेवाड़ आदि के पहाड़ी प्रदेशों में ऊंचाई के कारण गर्मी कम रहती है और लू भी उतनी नहीं चलती। आबू पहाड़ पर उसकी अधिक ऊंचाई के कारण न तो उष्ण काल में पसीना आता और न गरम हवा चलती है, इसीसे वह राजपूताने का शिमला कहलाता है।

जल वायु

राजपूताने के पश्चिमी रेगिस्तानी विभाग में पूर्वी विभाग की अपेक्षा वर्षा कम होती है। जैसलमेर में वर्षा की औसत ६ से ७ इंच, बीकानेर में १२, जोधपुर में १३; सिरोही, अजमेर, किशनगढ़ और बूंदी में २०-२१ के बीच, अलवर में २२, जयपुर में २३, उदयपुर में २४, टोंक, भरतपुर और धौलपुर में २६, डूंगरपुर में २७, करौली में २९, कोटे में ३१, प्रतापगढ़ में ३४, ड़ में ३७ और बांसवाड़ा में ३८ इंच के करीब है। आबू पर अधिक के कारण वर्षा की औसत ५७ और ५८ इंच के बीच है।

वर्षा

रेगिस्तानवाले प्रदेश में रेता अधिक होने से विशेष कर एक ही फसल खरीफ (सियालू) की होती है और रबी (उनालू) की बहुत कम। कोटा, बूंदी, झालावाड़, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के पूर्वी विभाग आदि में माळ की ज़मीन अधिक होने से बिना पिलाये ही रबी की फसल हो जाती है, परंतु कुए या तालाव से पीनेवाली ज़मीन की अपेक्षा उसमें उपज कम होती है। बाकी के हिस्सों में, जहां न तो विशेष रेतिली और न माळ की भूमि है, कुओं आदि से पानी पिलाने पर दोनों फसलें अच्छी होती हैं। पहाड़ों के ढाल में भी खरीफ में खेती होती है, जिसको यहां वालरा (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। पहाड़ों के बीच की भूमि में, जहां पानी भर जाता है, चावल की खेती भी होती है। राजपूताने की मुख्य पैदायशी चीज़ें गेहूं, जौ, मक्की, जवार, बाजरा, मौठ, मूंग, उड़द, चना, चावल,

ज़मीन और पैदावारी

(१) ता० १० जून सन् १८९७ ई० को जोधपुर में १२१ डिगरी गर्मी हो गई। जैसलमेर में जनवरी महीने में रात के वक्त कभी कभी इतनी सर्दी पड़ती है जम जाता है।

हुए, किंतु उनका लोगों पर विशेष प्रभाव न पड़ा। विक्रम संवत् के पूर्व की पांचवीं शताब्दी में मगध के राजा अजातशत्रु के समय गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म के, और उसी समय महावीर स्वामी ने जैन धर्म के प्रचार को बढ़ाने का बीड़ा उठाया। इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों में जीवदया मुख्य थी, और वैदिक वर्णाश्रम को तोड़, साधर्म्य अर्थात् उन धर्मों के समस्त अनुयायी एक श्रेणी के गिने जावें, ऐसी व्यवस्था की गई, जिसमें ऊंच-नीच का भाव न रहा। गौतम ने जीवमात्र की भलाई के विचार से अपने सिद्धांतों का प्रचार बड़े उत्साह के साथ किया। उनकी जीवित दशा में ही अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य वर्ण के लोगों ने उक्त धर्म को स्वीकार किया और दिन दिन उसकी उन्नति होती गई। मौर्यवंशी राजा अशोक ने कलिंग-युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार किया, जिसके पीछे उसकी बौद्ध धर्म की ओर रुचि बढ़ी। उसने उस धर्म को स्वीकार कर उसे बड़ी उन्नति दी, अपने विस्तृत राज्य में यज्ञों का होना बंद कर दिया और हिंसा को भी बहुत कुछ रोका। राजपूताने में भी उसीके समय से बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। बौद्ध धर्म के सामने वैदिक धर्म की सुदृढ नींव हिलने लगी, और ब्राह्मण लोग अपने धर्म को फिर से उन्नत करने का प्रयत्न करते रहे। मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसका शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म का पक्ष ग्रहण कर दो अश्वमेध यज्ञ किये। उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया हो ऐसा बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है। राजपूताने में मध्यमिका नगरी (चित्तोड़ के प्रसिद्ध क़िले से ७ मील उत्तर में) के राजा ने भी वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के आसपास अश्वमेध यज्ञ किया, जिसके पीछे राजपूताने में प्राचीन शैली से अश्वमेध करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। गुप्तों के राज्य के प्रारंभ तक बौद्ध धर्म की उन्नति होती रही, फिर समुद्रगुप्त ने बहुत समय से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ किया। वाकाटकवंशी राजाओं के राज्य में भी कई यज्ञ हुए। गुप्तों के समय से ही बौद्ध धर्म का पतन और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। वि० सं० ६९७ (ई० स० ६४०) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग राजपूताने में आया उस समय यहां बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। वह गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल (जोधपुर राज्य में) के प्रसंग में लिखता है कि "यहां की बस्ती घनी है, विधर्मियों (वैदिक धर्म को माननेवालों) की संख्या बहुत और बौद्धों

की थोड़ी है। यहां एक ही संघाराम (बौद्ध मठ) है, जिसमें हीनयान के १०० साधु रहते हैं जो सर्वास्तिवादी हैं। ब्राह्मणों के देव-मंदिर कई दहाई (बहुत से) हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायों के अनुयायी वास करते हैं[1]"। वि० सं० ६९२ (ई० स० ६३५) के आसपास वही यात्री मथुरा से १०० मील पश्चिम के एक राज्य में पहुंचा, जिसका नाम उसने 'पो-लि-ये-टो-लो' दिया है। संभव है कि यह नाम वैराट (जयपुर राज्य में) का सूचक हो। यह तो निश्चित है कि हुएन्त्संग का लिखा हुआ यह स्थान राजपूताने में ही था। उसके संबंध में वह लिखता है कि "यहां के लोग बौद्ध धर्म का सम्मान नहीं करते। यहां आठ संघाराम हैं जो प्रायः ऊजड़ पड़े हुए हैं। उनमें थोड़े से हीनयान संप्रदाय के बौद्ध साधु रहते हैं। यहां (ब्राह्मणों के) १० देवमंदिर हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायों के १००० पुजारी आदि रहते हैं[2]"। उसी समय मथुरा में अनुमान २० संघारामों का होना वही यात्री बतलाता है, जिनमें २००० श्रमण रहते थे। साथ ही में वहां ब्राह्मणों के केवल ५ देवमंदिर होना उसने लिखा है। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में महमूद ग़ज़नवी ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय वहां ब्राह्मण मत के १००० मंदिर थे। राजपूताने से वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म का नाम निशान भी उठ गया, और जो लोग बौद्ध हो गये थे वे समय समय पर पीछा वैदिक धर्म ग्रहण करते रहे[3]।

यद्यपि जैनधर्म की स्थिति के ऐसे प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलते, तो भी अजमेर ज़िले के बर्ली नामक गांव से वीर संवत् ८४ (वि० सं० पूर्व ३८६=

(१) बील; बु० रे० वे० व०; जि० २, पृ० २७०।

(२) वही, जि० १, पृ० १७९।

(३) वैदिक काल में व्रात्य अर्थात् पतित एवं विधर्मियों को वैदिक धर्म में लेने के समय 'व्रात्यस्तोम' नामक शुद्धि की एक क्रिया होती थी, जिससे उन व्रात्यों की गणना द्विज वर्णों में हो जाती थी। व्रात्यस्तोम का वर्णन सामवेद के 'तांड्यब्राह्मण' (प्रकरण १७) और 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' (६।८) में मिलता है (बंब० ए० सो० ज०; जि० १९, पृ० ३५७-६४)। बौद्धधर्म की उन्नति के समय में करोड़ों वैदिक मतावलंबी (हिंदू) बौद्ध हो गये थे, परंतु उक्त धर्म की अवनति के समय वे पीछे हिंदू धर्म को ग्रहण करते गये। उस समय व्रात्यस्तोम जैसी कोई शुद्धि की क्रिया होती रही हो ऐसा पाया नहीं जाता।

ई० स० पूर्व ४४३) का एक शिलालेख मिला है[1], जिससे अनुमान होता है कि अशोक से पूर्व भी राजपूताने में जैन धर्म का प्रचार था। जैन लेखकों का यह मत है कि राजा संप्रति ने, जो अशोक का वंशधर था, जैन धर्म को बड़ी उन्नति दी और राजपूताना व इसके आसपास के प्रदेशों में भी उसने कई जैन मंदिर बनवाए थे। वि० सं० की दूसरी शताब्दी के बने हुए मथुरा के कंकालीटीले-वाले जैन स्तूप से तथा इधर के कुछ अन्य स्थानों से मिले हुए प्राचीन शिला-लेखों तथा मूर्तियों से पाया जाता है, कि उस समय भी यहां जैन धर्म का अच्छा प्रचार था। वि० सं० की १३ वीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकी राजा कुमार-पाल ने अपने प्रसिद्ध विद्वान् गुरु हेमचंद्राचार्य के उपदेश से जैन धर्म ग्रहण कर उसकी बहुत कुछ उन्नति की। उस समय राजपूताने के कई राजाओं ने हिंसा रोकने के लेख भी खुदवाए, जो अब तक विद्यमान हैं। कुमारपाल के पूर्व से लगाकर अब तक के सैंकड़ों भव्य जैन मंदिर यहां विद्यमान हैं, जिनमें कई एक स्वयं कुमारपाल ने बनवाए थे।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म को बड़ी हानि पहुंची, इतना ही नहीं, किंतु उसमें परिवर्त्तन करना पड़ा और वह एक नये सांचे में ढल कर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती जुलती धर्म संबंधी बहुतसी नई बातें प्रवेश कर गईं, इतना ही नहीं, किंतु बुद्धदेव की गणना विष्णु के अवतारों में हुई और मांस-भक्षण का भी बहुत कुछ निषेध किया गया।

दिल्ली में मुसलमानों का राज्य स्थिर होने के पीछे उन्होंने राजपूताने में लोगों को बहुधा बलपूर्वक या लालच देकर भी मुसलमान बनाना शुरू किया, तभी से यहां इस्लाम को माननेवालों की संख्या बढ़ने लगी।

ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) से राजपूताने का संबंध सरकार अंग्रेज़ी के साथ जुड़ने के पीछे ईसाई पादरी भी इस देश में आकर अपने धर्म का प्रचार करने और लोगों को ईसाई बनाने लगे हैं। इन देशी ईसाइयों में प्रायः हलकी जाति के हिन्दू व मुसलमान ही विशेष हैं।

ज़रतुश्त मत के माननेवाले थोड़े से पारसी भी नौकरी या व्यापार के निमित्त राजपूताने में रहते हैं।

---

(१) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) की मनुष्य-गणना के अनुसार राजपूताने में भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

हिन्दू—९२२६४८८, इनमें ब्राह्मण धर्म को माननेवाले ८५२९३३३, जैन २९८१४४, आर्य ४६५२, ब्राह्मो २२, सिक्ख ८९२२, भील, मीने आदि जंगली लोग ४८५४१५ हैं। मुसलमानों की संख्या १००२११७, ईसाई १०४४२, पारसी ५४७, यहूदी ५१, बौद्ध १ और अनिश्चित मतवाले ९ हैं[1]।

जातियां

प्राचीन भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण मात्र थे, और वर्णव्यवस्था भी प्रायः गुण-कर्मानुसार होती थी। प्रत्येक वर्ण को अपने और अपने नीचे के वर्णों में भी विवाह करने का अधिकार था; परस्पर के खानपान में कुछ भी प्रतिबंध न था, केवल शुद्धता का विचार रहता था। गुप्तवंशी राजाओं के राज्य-समय से प्राचीन वैदिक धर्म में परिवर्त्तन होकर पौराणिक मत का प्रचार होने के पीछे धार्मिक संप्रदायों के बढ़ जाने से पुराने रीति रिवाजों का उच्छेद होकर जो आर्य जाति एक ही धर्म और एक ही राष्ट्रीय भाव में बंधी हुई थी उसके टुकड़े टुकड़े हो गये। विक्रम संवत् की सातवीं शताब्दी के आसपास मारवाड़ के ब्राह्मण हरिश्चंद्र की दो पत्नियों में से एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्रिय जाति की थी, ऐसा वि० सं० ८९४[2] तथा ९१८[3] के शिलालेखों से पाया जाता है। मारवाड़ ही से जाकर कन्नौज में अपना राज्य

---

(१) ई० स० १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में आर्य, सिक्ख, जैन, ब्राह्मो, भील, मीने आदि को हिन्दुओं से भिन्न बतलाया है, परंतु वास्तव में इन सब का समावेश हिन्दुओं में ही होता है, इनमें केवल मतभेद है।

(२) *विप्रः श्रीहरिचन्द्राख्य९ पत्नी भद्रा च क्षतृ(त्रि)या। .... ।*
तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा।
द्वितीया क्षतृ(त्रि)या भद्रा महाकुलगुणान्विता ॥
प्रतीहारा द्विजा भूता ब्राह्मण्यां येभवन्सुताः।
राज्ञी भद्रा च यान्सूते ते भूता मधुपायिनः ॥

राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में रक्खे हुए मूल लेख से।

(३) *विप्पो सिरिहरिअंदो भज्जा आसित्ति खत्तिआ भद्दा।*

घटियाले के शिलालेख की छाप से।

जलानेवाले प्रतिहारवंशी राजाओं में से राजा महेंद्रपाल के ब्राह्मण गुरु राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुंदरी चौहान वंश[1] की थी। राजशेखर विक्रम संवत् ९५० के आसपास जीवित था। इस समय के पश्चात् ब्राह्मणों का क्षत्रिय वर्ण में विवाह-संबंध होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पीछे तो प्रत्येक वर्ण में भेदभाव यहां तक बढ़ता गया कि एक ही वर्ण में सैंकड़ों शाखा प्रशाखा फूटकर अपने ही वर्ण में शादी विवाह का संबंध जोड़े रहना तो दूर, किंतु खानपान का संसर्ग तक भी न रहा, एक ही जाति के लोग अपनी जातिवालों के साथ भोजन करने में भी हिचकने लगे; इस तरह देशभेद, पेशे और मतभेद से अनेक जातियां बन गईं, तो भी राजपूतों (क्षत्रियों) में यह जातिभेद प्रवेश करने न पाया। उनमें विवाह-संबंध तो अपनी जाति में ही होता है, परंतु अन्य तीनों वर्णों के हाथ का भोजन करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों में तो इतनी जातियां हो गई हैं, कि उनके परस्पर के भेदभाव और रीति रिवाज का सविस्तर वर्णन किया जावे तो कई जिल्दें भर जावें।

हिंदुओं में ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, कायस्थ, चारण, भाट, सुनार, दरोगा, दर्जी, लुहार, सुथार (बढ़ई), कुम्हार, माली, नाई, धोबी, जाट, गूजर, मेर, कोली, घांची, कुनबी, बलाई, रेगर, भांबी, महतर आदि अनेक जातियां हैं। जंगली जातियों में मीने, भील, गिरासिये, मोगिये, बावरी, सांसी, सौंदिये आदि हैं। मुसलमानों में मुख्य और खान्दानी शेख़, सैय्यद, मुग़ल और पठान हैं। अन्य मुसलमान जातियों में रंगड़, कायमख़ानी, मेव, मेरात, खानज़ादे, सिलावट, रंगरेज़, घोसी, भिश्ती, कसाई आदि कई एक हैं। शिया फ़िर्के के मुसलमानों में एक क़ौम बोहरों की है जो बहुधा व्यापार करती है।

राजपूताना के लोगों में से अधिकतर तो खेती करते और कई गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि जानवरों को पालकर उन्हींसे अपना निर्वाह करते हैं। कई सैनिक या अन्य नौकरी, दस्तकारी व मज़दूरी कर पेट भरते, और कई व्यापार करते हैं। व्यापार करनेवालों में मुख्य महाजन हैं,

पेशा

(१) चाहुआणकुलमोलिमालिआ राजसेहरकइन्दगेहिणी ।
भत्तुणो किइमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइउमेअमिच्छइ ॥ ११ ॥

राजशेखररचित 'कर्पूरमंजरी सट्टक;' हार्वर्ड-संस्करण, पृ० ७।

जो बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि दूर दूर के अनेक शहरों में जाकर व्यवसाय चलाते हैं। ब्राह्मण विशेष कर पाठपूजन, पुरोहिताई, व्यापार, भिक्षावृत्ति और नौकरी पर निर्वाह करते हैं।

पोशाक

भारतवर्ष के उत्तरी विभाग शीतप्राय और दक्षिणी उष्ण होने के कारण अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्त्र भिन्न भिन्न प्रकार के पहने जाते थे। थोड़ी शीतवाले प्रदेशों में रहनेवाले साधारणतया बिना सिये हुए वस्त्र का उपयोग विशेष करते थे, और शीत प्रदेशवाले सिये हुओं का भी। दक्षिण में अब तक मामूली वस्त्र बिना सिये हुए ही काम में लाए जाते हैं। इन बातों को देख कर कोई कोई यह मानने लग गये हैं, कि भारत के लोग सिये हुए वस्त्र मुसलमानों के इस देश में आने के पीछे पहनना सीखे हैं, परंतु यह भ्रम ही है। वैदिक काल से ही यहां कपड़ा बुनने की कला उन्नत दशा में थी और वह काम विशेषकर स्त्रियां ही करती थीं। वस्त्र बुननेवालों के नाम 'वयित्री[1]' 'वाय[2]' और 'सिरी[3]' थे। वस्त्र बुनने की ताने से संबंध रखनेवाली लकड़ी को 'मयूख[4]' (मेख ?) और बाने का धागा फेंकनेवाले औज़ार अर्थात् ढरकी को 'वेम[5]' (वेमन्) कहते थे। यही नाम राजपूताने में अब तक प्रचलित हैं। वस्त्र बहुधा रंगे जाते थे और रंगनेवाली स्त्रियां 'रजयित्री[6]' कहलाती थीं। सुई का काम भी उस समय में होता था। वेदों की संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम 'सूची[7]' और 'वेशी[8]' मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुई तीन प्रकार की, अर्थात् लोहे, चांदी और सोने की होना बतलाया है[9]। कैंची को 'भुरिज[10]' कहते थे। 'सुश्रुतसंहिता' में "सीव्येत्

(१) पंचविंश ब्राह्मण (१।८।६)
(२) ऋग्वेद (१०।२६।६)
(३) वही (१०।७१।६)
(४) ऋग्वेद (७।६६।३)। तैत्तिरीय संहिता (२।३।१।५)
(५) वाजसनेयि संहिता (१६।८३)
(६) वही (३०।१२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।७।१)
(७) ऋग्वेद (२।३२।४)। वाजसनेयि संहिता (२३।३३)
(८) ऋग्वेद (७।१८।१४)
(९) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।६।६)
(१०) ऋग्वेद (८।४।१६)

सूदमेण सूत्रेण" (बारीक डोरे से सीना) लिखा मिलता है । रेशमी चुगे को 'तार्प्य[1]' और ऊनी कुरते को 'शामूल[2]' कहते थे । 'द्रापि[3]' भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था जिसके विषय में सायण लिखता है कि, वह युद्ध के समय पहना जाता था । शिर पर बांधने के वस्त्र को उष्णीष[4] (पगड़ी या साफ़ा) कहते थे । स्त्रियों का मामूली वस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी, और बाहर जाने के समय उसपर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता था । स्त्रियां नाचने के समय लहंगे जैसा ज़री के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम 'पेशस्[5]' था; शायद आजकल का पिशवाज़ इसीका अपभ्रंश हो । ऐसे वस्त्रों के बनानेवाली स्त्रियां 'पेशस्कारी[6]' कहलाती थीं । स्त्रियों के पहनने के लहंगे[7] जैसे वस्त्र को, जो नाड़े से कसा जाता था, 'नीवि[8]' कहते थे । विवाह के समय जो जामे जैसा वस्त्र वर पहनता था उसको 'वाधूय[9]' कहते थे । यह प्रथा आज तक भी कुछ रूपांतर के साथ राजपूताने की

---

(१) अथर्ववेद (१८ । ४ । ३१) । तैत्तिरीय ब्राह्मण (१ । ३ । ७ । १)

(२) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१ । ३८ । ४)

(३) ऋग्वेद (१ । २५ । १३)

(४) ऐतरेय ब्राह्मण (६ । १) । शतपथ ब्राह्मण (३ । ३ । २ । ३) । अथर्ववेद (१५ । २ । १)

(५) ऋग्वेद (२ । ३ । ६)

(६) वाजसनेयि संहिता (३० । ९)

(७) मथुरा के कंकालीटीले से मिली हुई वि० सं० की पहली शताब्दी के आसपास के लेखवाली शिला पर एक राणी और उसकी दासियों के चित्र खुदे हुए हैं । राणी लहंगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किये हुए हैं (स्मिथ; मथुरा ऐंटिक्विटीज़, प्लेट १४) । उसी पुस्तक में एक जैन मूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियां हैं । ये तीनों स्त्रियां लहंगे पहने हुई हैं (प्लेट ८५) । उसी पुस्तक में हाथ में डंडा लिये बैल पर बैठे एक पुरुष का चित्र है, जो कमर तक कुरता या अंगरखा पहने हुए है (प्लेट १०२) । ये उदाहरण राजपूताने के ही समझने चाहियें । अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में ली हुई एक स्त्री का सुंदर चित्र बना है, जिसमें वह स्त्री कमर से नीचे तक आधी बांहवाली सुंदर छींट की अंगिया पहने हुए है (स्मिथ; ऑक्सफर्ड हिस्टरी ऑफ इंडिया; पृ० १५९ पर दिया हुआ चित्र) । इससे स्पष्ट है कि दक्षिण में भी सिये हुए वस्त्र पहने जाते थे ।

(८) अथर्ववेद (८ । २ । १६)

(९) ऋग्वेद (१० । ८५ । ३४)

बहुतसी जातियों में प्रचलित है। वस्त्र के नीचे लगनेवाली झालरी या गोट का नाम 'तूष[1]' था। ये सब वैदिक काल के वस्त्रों के नाम आदि हैं। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त वृक्ष और पौधों के रेशों के वस्त्र भी बनते थे जो 'वल्कल' कहलाते थे। महाभारत, रामायण आदि में इनका वर्णन मिलता है। ये वस्त्र बहुधा तपस्वी तथा उनकी स्त्रियां पहना करती थीं। सीता ने भी वनवास के समय वल्कल ही धारण किये थे। समय के साथ पोशाक में परिवर्तन होता ही रहता है। पाटलीपुत्र के राजा उदयन की-मूर्ति मिली है जिसके वदन पर मिरज़ई है और उसकी कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है[2]। गुप्तों के सिक्कों पर राजा सिये हुए वस्त्र पहने खड़ा दीख पड़ता[3] है।

राजपूताने में पुरुषों की पुरानी मामूली पोशाक धोती, दुपट्टा और पगड़ी थी। शीत काल में ऊनी सिये हुए वस्त्रों का उपयोग भी होता था। उत्सव और राजदरबारों के समय की पोशाक रेशमी ज़री के काम की भी होती थी। कृषिकार या साधारण स्थिति के लोग घुटनों या उनसे नीचे तक की कच्छ या कछनी भी पहना करते थे जिसके चिह्न अबतक कहीं कहीं विद्यमान हैं। स्त्रियों की पोशाक विशेषतः साड़ी, या नीचे लहंगा और ऊपर साड़ी होती थी। प्राचीन काल में स्त्रियों के स्तन या तो खुले रहते थे या उनपर कपड़े की पट्टी बांधी जाती थी, परंतु राजपूताने की स्त्रियों में 'कंचुलिका' (कांचली) पहनने का रिवाज भी पुराना है।

राजपूताने के लोगों की वर्तमान पोशाक विशेषतर पगड़ी, अंगरखा, धोती या पजामा है। बहुतसे लोग पगड़ी के स्थान में साफा या टोपी भी काम में लाते हैं। कोई कोई अंग्रेज़ी ढंग से कोट, पतलून या ब्रीचीज़ और अंग्रेज़ी टोप भी धारण करते हैं। स्त्रियों की पोशाक प्रायः साड़ी, लहंगा और कांचली है, परंतु अब शहर की स्त्रियों में कमीज़ और वास्कट पहनने की चाल बढ़ती जाती है।

---

(१) तैत्तिरीय संहिता (१। ८। १। १)

(२) ना० प्र० पत्रिका; भा० १, पृ० ४७, और उक्त मूर्ति के फोटो।

(३) जॉन् ऐलन्; कॉइन्स ऑफ दी गुप्त डाइनेस्टीज़; प्लेट १-४।

राजपूताने में प्राचीन काल में शिक्षा की वही पद्धति प्रचलित थी जो भारत के अन्य विभागों में थी, परंतु इस प्रदेश में कोई ऐसी नदी नहीं है, जो वर्षभर निरन्तर वहा करती हो। ऐसी दशा में यहां अन्य प्रदेशों के समान नदियों के तट पर बने हुए ऋषियों के आश्रमों में विद्यार्थियों का पठनपाठन होता रहा हो ऐसा पाया नहीं जाता। संभव है कि यहां राजाओं की ओर से स्थापित पाठशालाओं में एवं विद्वानों के घर पर ही विद्याभ्यास होता हो। प्राचीन शैली से बालकों को अक्षरबोध, लिखने पढ़ने तथा सामान्य गणित का बोध हो जाने के पीछे व्याकरण के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी कंठ कराई जाती थी। व्याकरण का ज्ञान हो जाने पर विद्यार्थी को वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, वैद्यक आदि शास्त्र उसकी रुचि के अनुसार पढ़ाए जाते और उनकी शिक्षा संस्कृत में ही दी जाती थी। जैन और बौद्धों के धर्मग्रन्थ प्राकृत अर्थात् प्रचलित (लौकिक) भाषा में लिखे हुए होने के कारण उनके उपाश्रय (उपासरों) तथा मठों में प्राकृत की पढ़ाई भी होती थी, परंतु विशेष ज्ञान संपादन करनेवाले जैन और बौद्ध विद्यार्थियों के लिये संस्कृत का पठन अनिवार्य था, क्योंकि काव्य, नाटक, तर्क आदि अनेक विषयों के ग्रंथों की रचना संस्कृत में ही हुई थी। इसी तरह नाटक आदि की रुचिवाले संस्कृत के विद्यार्थियों को प्राकृत भी पढ़नी पड़ती थी, क्योंकि नाटकों में विदूषक, स्त्रियों तथा छोटे दर्जे के पात्रों की भाषा प्राकृत होने का नियम था। राजपुत्रों की शिक्षा कभी अन्य विद्यार्थियों के साथ उक्त पाठशालाओं में और कभी नगरों के वाहर उनके लिये स्थापित किये हुए स्वतंत्र विद्यालयों में होती थी। उनको शास्त्रविद्या के साथ साथ शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र तथा अश्वारोहण, गजारोहण आदि विषयों का ज्ञान संपादन कराया जाता था। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ आदि जातियों में भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् यहां हुए हैं, जिनके थोड़े से उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं। 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ का रचयिता प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त, जिसने शक संवत् ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में अपने ग्रंथ की रचना की, भीनमाल (जोधपुर राज्य में) का निवासी था। 'शिशुपाल-वध महाकाव्य' का कर्त्ता सुप्रसिद्ध माघ कवि भी उसी नगर का रहनेवाला था। 'हरकेलिनाटक' का प्रणेता विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) अजमेर का

शिक्षा

चौहान राजा था, जिसकी स्थापित की हुई संस्कृत पाठशाला के भवन को तोड़कर मुसलमानों ने उसके स्थान पर अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' बनवाया। 'पार्थपराक्रमव्यायोग' का कर्ता प्रल्हादनदेव आबू के परमार राजा धारावर्ष का छोटा भाई था। जालोर (जोधपुर राज्य में) के चौहान राजा उदयसिंह के वैश्य मंत्री यशोवीर को 'कीर्त्तिकौमुदी' के रचयिता गुजरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वरदेव ने कालिदास से भी बढ़ कर (!) बतलाया है[1]। 'धर्मामृतशास्त्र' आदि अनेक जैन ग्रंथों का रचयिता बघेरवाल वैश्य आशाधर मंडलकर[2] (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य में) का निवासी था। अनेक शिला-लेखों के रचयिता कायस्थ भी पाए जाते हैं[3]। राजपूताने से मिले हुए प्राचीन शिलालेखों से ज्ञात होता है, कि यहां कई अच्छे अच्छे विद्वान् हो गए। यहां विद्या पढ़ाने के लिये किसी प्रकार की फ़ीस नहीं ली जाती थी, परंतु निर्धन विद्यार्थियों को भोजन तथा वस्त्र तक भी गुरु या पाठशाला की तरफ़ से दिये जाते थे।

मुसलमानों के राजपूताने पर हमले होने तथा उनके साथ यहां के राजाओं की लड़ाइयां छिड़ने के समय से यहां पठनपाठन की दशा दिन दिन बिगड़ती ही गई, और क्षत्रिय राजाओं तथा अन्य जातियों में प्राचीन शिक्षा-

---

(१) न माघः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाभिनन्दोभिनन्द्यते।
निष्कलः कालिदासोपि यशोवीरस्य संनिधौ ॥

कीर्त्तिकौमुदी, सर्ग १, श्लो० २६।

(२) श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाममंडलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति, श्लो० १।

(३) इमां प्रशस्तिं नरसिंघनामा चक्रे बुधो गौडमुखाब्जभानुः।
कायस्थवंशे स्वगुणौघसंपदानंदिताशेषविदग्धलोकः ॥

बांसवाड़ा राज्य के अर्थूणा नामक प्राचीन नगर से मिली हुई परमार राजा चामुंडराज के समय की प्रशस्ति, श्लो० ३७। यह प्रशस्ति अब तक अप्रकाशित है।

प्रणाली का ह्रास होता गया। मुसलमानों के राज्यसमय उनकी राजभाषा फारसी होने के कारण यहां फारसी की पढ़ाई भी कहीं कहीं प्रारंभ हुई, क्योंकि यहां के राजाओं का संबंध शाही दरबार के साथ होने से उनको पत्रव्यवहार फारसी में करना पड़ता था। विशेषकर कायस्थों ने प्रथम संस्कृत पढ़ना छोड़ फारसी पढ़ना प्रारंभ किया।

राजपूताने के साथ अंग्रेज़ों का संबंध होने के पूर्व यहां पर विद्या का प्रचार बहुत ही कम रह गया था। गांवों में पढ़ाई का प्रबंध कुछ भी न था। नगरों में मामूली पढ़ाई जैन यतियों के उपासरों में ही हुआ करती, जहां बाराक्षरी, पट्टीपहाड़े तथा कुछ हिसाब पढ़ाने के पीछे सिद्धो ('कातंत्र-व्याकरण' का प्रारंभिक संधिप्रकरण) और 'चाणक्य नीति' के श्लोक अशुद्ध रटाए जाते, जिनका आशय विद्यार्थी कुछ भी नहीं समझते थे। ब्राह्मण लोग 'सारस्वत व्याकरण,' कुछ ज्योतिष तथा भागवत आदि पुराण पढ़कर जन्मपत्र, एवं वर्षफल बनाते और कथावाचक का काम चलाते थे। उस समय छापे का प्रचार न होने से धर्मशास्त्र, पुराण, वेद आदि की पुस्तकों का मिलना कठिन था। महाजन लोग अक्षरों का बोध होने और अपने मामूली हिसाब तथा ब्याजबट्टा सीख जाने को ही काफ़ी समझते थे। संयुक्ताक्षर तथा स्वरों की मात्राओं का तो उनको कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। वे या तो व्यंजनों को स्वरों की मात्राओं के बिना ही लिखते या बिना आवश्यकता के कोई भी मात्रा चाहे जहां लगा देते, जिससे उनकी लिखावट 'केवळा' (केवल अक्षर-संकेतवाली) कही जाती थी। इसीसे उसमें "काकाजी अजमेर गया" के स्थान में 'काकाजी आज मर गया' पढ़े जाने की लोकोक्ति अब तक प्रसिद्ध है। उनकी १०० वर्ष पूर्व की बहियां इसी तरह लिखी मिलती हैं जिनको पढ़ कर ठीक ठीक अर्थ निकालना कठिन काम है। राजकीय कर्मचारी कुछ शुद्ध हिंदी लिखना अवश्य जानते थे, जैसा कि उनके लिखे हुए तीन सौ वर्ष पूर्व तक के पत्रों से विदित होता है; परंतु उन लोगों को भी ह्रस्व, दीर्घ एवं संयुक्ताक्षरों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता था। राजपूतों में बड़े घरानों के लोग लिखना पढ़ना कुछ सीखते थे। उनमें तथा कितने एक ब्राह्मणों आदि में ब्रजभाषा की कविता पढ़ने और बनाने का शौक़ अवश्य रहा, यही कारण है कि पहले की बनी हुई अनेक कविता की पुस्तकें यहां

और फारसी की पढ़ाई कहीं कहीं मौलवियों के मक्तबों में हुआ करती थी, और विशेषकर मुसलमान एवं कुछ राजकीय सेवा करनेवाले अहलकार लोग ही उसमें श्रम करते थे। अब तो अंग्रेज़ी राज्य के प्रभाव से नये ढंग की एवं अंग्रेज़ी की पढ़ाई सारे देश में होने लगी है। अजमेर, जयपुर और जोधपुर में कालेज बने कई वर्ष हो चुके। हाईस्कूलें तथा मिड्ल और प्रारंभिक शिक्षा की पाठशालाएं तो कई चल रही हैं, और कई राज्यों तथा अजमेर के इलाके में लड़कियों की प्रारंभिक शिक्षा भी होती है। उच्च कोटि की विद्या के लिये जयपुर राज्य सर्वोपरि है। वहां के स्वर्गवासी महाराजा रामसिंह ने विद्याप्रेमी होने के कारण अपने राज्य में अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू एवं संस्कृत की पढ़ाई का उत्तम प्रबंध किया। संस्कृत की आचार्य परीक्षा तक का अध्ययन केवल जयपुर ही में होता है। उक्त महाराजा ने विद्या के साथ कलाकौशल का प्रचार भी अपनी प्रजा में करने के लिये जयपुर में एक अच्छा आर्टस्कूल (कलाभवन) खोला। प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के लिये राजपूताने में झालावाड़ राज्य सर्वोपरि है। आमदनी के हिसाब से देखा जाय तो उस राज्य के समान विद्याविभाग में ख़र्च करनेवाला दूसरा कोई राज्य नहीं है, जिसका एकमात्र कारण वहां के सुयोग्य नरेश महाराजराणा सर भवानीसिंहजी का विद्यानुराग ही है।

भाषा

राजपूताने की प्राचीन राजकीय भाषा संस्कृत थी। विद्वान् लोग अपने ग्रंथों की रचना उसी भाषा में करते और यहां के प्राचीन दानपत्र तथा शिलालेख भी बहुधा उसी भाषा में मिलते हैं, तो भी जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी। मौर्यवंशी राजा अशोक का मगध के संघ के नाम का शिला पर खुदा हुआ आदेश जयपुर राज्य के वैराट (? भाब्रू) नगर से मिला है, जो उस समय की प्राकृत में ही है। प्राकृत के एक रूपान्तर से 'अपभ्रंश' भाषा बनी, जिससे हिंदी, गुजराती तथा राजपूताने की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। उस भाषा का प्राचीन साहित्य वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास से मिलता है। चारण, भाट आदि लोग सर्वसाधारण के लिये अपनी कविता पीछे से उसी भाषा के कुछ परिवर्त्तित रूप में करते रहे, जिसको यहां 'डिंगल' कहते हैं। वि० सं० की १५ वीं शताब्दी के आसपास से यहां ब्रजभाषा में भी कविता बनने लग गई थी। वर्तमान समय में यहां बोली जानेवाली

भाषाओं को आधुनिक लेखक 'राजस्थानी' कहते हैं, जो वास्तव में पुरानी हिंदी का ही रूपान्तर है।

यदि राजपूताने के भिन्न भिन्न भागों की भाषाओं के सूक्ष्म विभाग किये जाएं तो उनकी संख्या अनुमान सौ तक पहुंच जाय, परंतु हम उनको निम्न-लिखित मुख्य सात विभागों में ही विभक्त करते हैं—

(१) मारवाड़ी—जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी में बोली जाती है।

(२) मेवाड़ी—मेवाड़ के मुख्य हिस्से की भाषा।

(३) वागड़ी—डूंगरपुर, बांसवाड़ा, मेवाड़ के दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश (भोमट) तथा सिरोही राज्य के पश्चिमी पहाड़ी विभाग में बोली जाती है। इस भाषा का गुजराती से विशेष संबंध है।

(४) ढूंढाड़ी—जयपुर राज्य के अधिकतर भाग की भाषा है।

(५) हाड़ौती (खैराड़ी)—बूंदी, शाहपुरा और मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में बोली जाती है।

(६) मेवाती—अलवर के मेवात प्रदेश की भाषा।

(७) ब्रजभाषा—अलवर राज्य के पूर्वी हिस्से, भरतपुर, धौलपुर और करौली में बोली जाती है।

लिपि

राजपूताने की प्राचीन लिपि ब्राह्मी थी। राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित बर्ली गांव का शिलालेख जो वीर संवत् ८४ का है, जयपुर राज्य से मिले हुए अशोक के दो लेख, तथा वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के मध्यमिका नगरी (मेवाड़ में) से प्राप्त दो शिलालेख इसी लिपि के हैं। इसी लिपि में परिवर्तन होते होते गुप्तों के समय में जो लिपि प्रचलित हुई उसका नाम गुप्त लिपि हुआ। उसमें परिवर्तन होकर कुटिल लिपि बनी, जिसको केवल चित्रकारी की पूरी निपुणता रखनेवाले ही सुंदरता के साथ लिख सकते थे, क्योंकि उसमें विशेषकर स्वरों की मात्राओं में चित्रकला की आवश्यकता रहती थी। उस लिपि के उदाहरणों में बंसखेड़ा से मिले हुए राजा हर्ष के हर्ष संवत् २२ (वि० सं० ६८५-६=ई० स० ६२८-९) के दानपत्र के अंत में खुदे हुए राजा के हस्ताक्षर[1], वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) का मेवाड़ के

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० २१० के पास का प्लेट।

राजा अपराजित का शिलालेख[1], वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८६) का झालरा-पाटन से मिला हुआ राजा दुर्गगण का शिलालेख तथा कोटे से कुछ ही मील दूर कणस्वा (कण्वाश्रम) के मंदिर में लगा हुआ वि० सं० ७६५ (ई० स० ७३८) का राजा शिवगण का शिलालेख[2] उल्लेखनीय हैं। वि० सं० की १० वीं शताब्दी के आसपास से उक्त लिपि से नागरी लिपि बनने लगी, जो अब प्रच-लित है। मुग़लों के समय में यहां के कितने एक राज्यों के दफ़्तरों में फारसी लिपि का भी प्रवेश हुआ, किंतु प्रजा की जानकारी के संबंध की लिखापढ़ी बहुधा नागरी लिपि में ही होती रही। केवल जयपुर के राजाओं के समय के कुछ शिलालेख तथा पट्टे आदि ऐसे देखने में आए जो फारसी एवं नागरी दोनों लिपियों में लिखे हुए हैं। पीछे से कहीं कहीं उर्दू लिपि में भी लिखापढ़ी होती थी, परंतु प्रजा में तो नागरी का ही प्रचार रहा। इस समय जयपुर, धौलपुर, टोंक और अजमेर-मेरवाड़े की अदालती लिपि उर्दू है, बाकी सर्वत्र नागरी का ही प्रचार है। अलवर और झालावाड़ की अदालतों में शुद्ध नागरी और अन्य राज्यों में घसीट नागरी लिखी जाती है।

शिल्प

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने शिल्प के अनुपम सौंदर्य, भव्यता एवं पायदारी के लिये विख्यात था। अशोक के विशाल स्तंभ, उनपर की चमकीली पालिश, उनके सिंहादि आकृतियोंवाले सिरे, एवं सांची और भरहुत आदि के स्तूप, अनुपम सौंदर्य को प्रकट करनेवाले गांधार शैली की तक्षण-कला के भिन्न भिन्न भग्नावशेष, पहाड़ों को काट काट कर बनाई हुई कार्लों आदि की अनेक भव्य गुफाएं, अनेक प्राचीन मंदिर तथा मूर्त्तियां आदि शिल्पकला के अनुपम नमूने—जो विधर्मियों के द्वारा नष्ट होने से बच गये या टूटी फूटी दशा में मिले हैं—उनके निर्माताओं के असाधा-रण शिल्पज्ञान, कार्यकुशलता और खुदाई के काम में सुंदरता एवं बारीकी लाने के अद्भुत हस्तकौशल का परिचय देकर शिल्प के धुरंधर ज्ञाताओं को मुग्ध किये विना नहीं रहते।

जब से राजपूताने पर मुसलमानों के हमले होने लगे तभी से वे समय समय पर धर्म-द्वेष के कारण यहां के सुंदर मंदिरों आदि को नष्ट करते रहे,

(१) ए० इं०; जि० ४, पृ० ३० के पास का प्लेट।
(२) इं. एं; जि० १६, पृ० ५८ के पास का प्लेट।

इसलिये १२०० वर्ष से अधिक पूर्व के शिल्प के उत्तम नमूने यहां बिरले ही रह गये हैं, तिसपर भी इस देश में कई भव्य प्रासाद आदि अब तक ऐसे विद्यमान हैं, जिनकी बनावट और सुंदरता देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल में यहां भी भारत के अन्यान्य प्रदेशों के समान तक्षणकला बहुत उन्नत दशा में थी। महमूद ग़ज़नवी जैसा कट्टर विधर्मी मथुरा के मंदिरों की प्रशंसा किये बिना न रह सका। उसने अपने ग़ज़नी के हाकिम को लिखा कि "यहां (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश दृढ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में क़रोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकतीं[1]"। बाड़ोली (मेवाड़ में) के प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर की तक्षणकला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है कि "उसकी विचित्र और भव्य बनावट का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। यहां मानों हुनर का ख़ज़ाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तंभ, छतें और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तंभ पर खुदाई का काम इतना सुंदर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह मंदिर सैकड़ों वर्षों का पुराना होने पर भी अब तक अच्छी स्थिति में खड़ा है[2]"। मंत्री विमलशाह और वस्तुपाल के बनवाए हुए आबू पर के मंदिर भी अनुपम हैं। कर्नल टॉड ने, अपनी 'ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इंडिया' नाम की पुस्तक में विमलशाह के मंदिर के विषय में लिखा है कि 'हिंदुस्तान भर में यह मंदिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नहीं कर सकता'। वस्तुपाल के मंदिर के संबंध में भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध ज्ञाता मि॰ फर्गुसन ने 'पिक्चरस् इलस्ट्रेशन्स् ऑफ् एन्शयंट आर्किटेक्चर इन् हिंदुस्तान' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'इस मंदिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिंदुओं की टांकी से फ़ीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं,

---

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जिल्द १, पृ॰ ५८–५९।

(२) टॉड; राज; जि॰ ३, पृ॰ १७५२–५३ (ऑक्सफर्ड संस्करण)। इस मंदिर की कारीगरी के लिये देखो उसी पुस्तक में पृ॰ १७५२ से १७६० तक

कि उनकी नक़ल काग़ज़ पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सकता'। ऐसे ही चित्तोड़ का महाराणा कुंभा का कीर्तिस्तंभ एवं जैन स्तंभ, आबू के नीचे की चंद्रावती और झालरापाटन के मंदिरों के भग्नावशेष भी अपने बनानेवालों का अनुपम शिल्पज्ञान, कौशल, प्राकृतिक सौंदर्य तथा दृश्यों का पूर्ण परिचय और अपने काम में विचित्रता एवं कोमलता लाने की असाधारण योग्यता प्रकट करते हैं, इतना ही नहीं किंतु ये भव्य प्रासाद परम तपस्वी की भांति खड़े रहकर सूर्य का तीक्ष्ण ताप, पवन का प्रचंड वेग और पावस की मूसलधार वृष्टियों को सहते हुए आज भी अपना मस्तक ऊंचा किये, अटल रूप में ध्यानावस्थित खड़े, दर्शकों की बुद्धि को चकित और थकित कर देते हैं। इन थोड़े से उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त राजपूताने में और भी अनेक कलाकौशल के उज्ज्वल उदाहरणरूप स्थान विद्यमान हैं जिनका वर्णन हम आगे यथाप्रसंग करेंगे। इसी तरह मुसलमानों के इस देश पर अधिकार करने के पूर्व की सुंदर खंडित मूर्तियां जो मथुरा, कामां (भरतपुर-राज्य में), राजोरगढ़ (अलवर राज्य में), हर्षनाथ के मंदिर (जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश में), हाथमो (जोधपुर राज्य में), बघेरा (अजमेर ज़िले में); नागदा, धौड़, बाड़ोली, मैनाल (चारों उदयपुर राज्य में), बड़ौदा (डूंगरपुर राज्य की पुरानी राजधानी), तलवाड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) आदि कई स्थानों से मिली हैं, उनको देखने से यही प्रतीत होता है कि मानों कारीगर ने उनमें जान ही डाल दी हो। मुसलमानों का इस देश पर अधिकार होने के पीछे तक्षण-कला में क्रमशः भद्दापन ही आता गया।

पाषाण की शिल्पकला के समान ही सोने, चांदी, पीतल आदि की ठोस या पोली प्राचीन मूर्त्तियां एवं लोहे के त्रिशूल, स्तंभ आदि जो, पुराने मिल आते हैं, शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। दिल्ली का लोहस्तंभ—जिसको 'कीली' या 'लोह की लाट' कहते हैं और जो वि० सं० की पांचवीं शताब्दी में राजपूताने पर भी राज करनेवाले राजा चंद्र (गुप्तवंशी चंद्रगुप्त द्वितीय) ने विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर विष्णु के ध्वज (गरुडध्वज) के निमित्त बनवाकर खड़ा कराया था—इतना सुंदर, विशाल और अनुपम है कि इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनिया भर का बड़े से बड़ा कोई भी लोहे का कारखाना ऐसा स्तंभ घड़कर नहीं बना सकता।

शहाबुद्दीन ग़ोरी ने अजमेर पर अधिकार किया उस समय तक तो राजपूताने में शिल्प के काम प्राचीन हिन्दू शैली के ही बनते थे, परंतु पीछे से मुसलमानों के बनवाए हुए मसजिद आदि स्थानों में मुसलमानी (सारसेनिक्) शैली का मिश्रण होने लगा। यह मिश्रण सब से पहले अजमेर की 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मसजिद में, जो वि० सं० १२५६ से १२७० (ई० स० ११६६ से १२१३) तक चौदह वर्षों में बनी थी, पाया जाता है। इसकी पश्चिम की ओर की दीवार में बने हुए संगमरमर के इमामगाह के महराब में, तथा पूर्व की तरफ की सात महराबवाली दीवार में—जहां मध्य के बड़े महराब के किनारों पर कुरान की आयतें, कूफ़ी लिपि के लेख और अन्यत्र सुंदर खुदाई का काम है—मुसलमानी शैली पाई जाती है। इन अंशों को छोड़कर बाकी का बहुधा सारा काम हिन्दू शैली का है, जिसमें हिन्दुओं के मंदिरों के स्तंभ, गुंबज आदि ज्यों के त्यों लगाए गए हैं। अजमेर के 'मेगज़ीन' नामक स्थान के मध्य में पीले पत्थर का सुंदर भवन, जो बादशाह अकबर ने बनवाया था, बहुधा हिन्दू शैली का ही है। उसकी दीवारों के ताकों आदि में मुसलमानी शैली का मिश्रण है। वि० सं० की १८ वीं शताब्दी के आसपास के बने हुए यहां के राजाओं के महलों तथा नगरों में रहनेवाले श्रीमंतों की हवेलियों आदि में भी कहीं कहीं मुसलमानी शैली का कुछ मिश्रण पाया जाता है।

राजपूताने का संबंध अंग्रेज़ों के साथ होने के पीछे यहां पर जो ईसाइयों के गिरजे बने वे अंग्रेज़ी शैली के हैं। अब तो राजाओं के महलों आदि में अंग्रेज़ी शैली भी प्रवेश होने लगी है।

चित्रकला

शिल्प के समान चित्रकला भी प्राचीन भारत में बहुत बढ़ी चढ़ी थी। मिस्टर ई. बी. हैवेल ने, जो भारतीय तक्षण और चित्रकला के असाधारण ज्ञाता हैं, अपनी पुस्तक 'इंडियन स्कल्पचर्स् ऐंड पेंटिंग्ज़' (भारतीय तक्षण और चित्रकला) में लिखा है कि "वन और वृक्षावली में बहते हुए पवन, प्रकृति देवी के बनाए हुए हिमालय के जलप्रपात, उदयास्त होते हुए सूर्यबिंब की शक्ति और सौंदर्य, मध्याह्न के चमकते हुए प्रकाश और उष्णता, पूर्वी देशों की निर्मल चांदनी रातों, पावस ऋतु में छाए हुए घटाटोप बादलों, आंधियों की प्रचंडता, बिजली की चमक, बादल की गरज तथा प्राणप्रद वर्षाकाल की आनंदवर्धक बूंदों के दृश्यों को अपने चित्रों में दरसाना

लोग भली भांति जानते थे[१]"।

उन्होंने यह भी लिखा है कि "यूरोपियन चित्र मानो पंख कटे हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊंचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है"। बड़े ही भावपूर्ण एवं अनुपम चित्र अनुमान १४०० वर्ष पूर्व के बने हुए अजंटा (हैदराबाद राज्य में) की गुफाओं में अब तक विद्यमान हैं, और इतना समय बीतने पर भी उनके रंग की चमक-दमक आज भी वैसी ही चटकीली होने से बीसवीं शताब्दी के यूरोपियन कला-कौशलधारी चित्रकार भी भारत के इन प्राचीन चित्रों के सम्मुख सिर झुकाते हैं।

यद्यपि राजपूताने में अब तक इस कला को प्रकाशित करनेवाले इतने प्राचीन चित्र नहीं मिले तो भी अनुमान ४०० वर्ष पूर्व तक के बने हुए चित्रों के सौंदर्य को देखते हुए अनुमान हो सकता है कि यह कला भी पहले यहां अच्छी दशा में थी।

राजपूताने में प्राचीन चित्रों के संग्रह राजाओं, सरदारों तथा कई गृहस्थों के यहां विद्यमान हैं। उनमें विशेषकर अनेक देवी-देवताओं, राजाओं, सरदारों वीर एवं धनाढ्य पुरुषों, धर्माचार्यों, राजाओं के दरबारों, सवारियों, तुलादानों, राजमहलों, जलाशयों, उपवनों, रणखेत की लड़ाइयों, शिकार के दृश्यों, पर्वतों की छटाओं; महाभारत, रामायण आदि के कथाप्रसंगों; साहित्य शास्त्र के नायक-नायिकाओं, रसों, ऋतुओं, राग-रागिनियों आदि के चित्रण मुख्य हैं। ये चित्र बहुधा मोटे कागज़ों पर बने हुए मिलते हैं। राजाओं के यहां ऐसे संग्रह छूटे पत्रों की हस्तलिखित पुस्तकों के समान ऊपर नीचे लकड़ी की पाटियां रखकर कपड़े के वेष्टनों में बंधे रहते हैं, जिनको 'जोतदान' कहते हैं। ऐसे छूटे चित्रों के अतिरिक्त कामशास्त्र या नायक-नायिका-भेद के लिखित ग्रंथों, 'गीतगोविंद' आदि पुस्तकों, शृंगार रस आदि की वार्ताओं एवं जैन धर्म की विविध कथाओं की हस्तलिखित पुस्तकों में भी प्रसंग प्रसंग पर उनके भाव-सूचक सुन्दर चित्र मिलते हैं। ऐसे ही राजाओं के महलों, गृहस्थों की हवेलियों आदि में दीवारों पर तथा कई मंदिरों की छतों और गुंबजों में भी समय समय

---

(१) पृ० ८८।

के भिन्न भिन्न चित्रांकन देखने में आए। देशभेद के अनुसार चित्रशाला में भिन्नता पाई जाती है। राजपूताने में जो प्राचीन चित्र मिलते हैं, वे बहुधा यहां की अर्थात् राजपूत शैली के हैं। आजकल कोई कोई विद्वान् यह भी मानने लग गए हैं कि राजपूत शैली के चित्रों पर मुग़ल शैली का प्रभाव पड़ा है और राग-रागिनियों के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की है, परंतु वास्तव में बात इससे उल्टी ही है। अनेक देवी-देवताओं; विष्णु, शिव और देवी के भिन्न भिन्न अवतारों या रूपों, वेद, अग्नि, ऋतु, आयुध[1], ग्रह[2], युग, प्रभात, मध्याह्न आदि समयविभागों तथा नक्षत्रों[3] तक की मूर्त्तियों की कल्पना हिंदुओं ने की, जिसके अनुसार उनकी मूर्तियां या चित्र भी बने। मुसलमानों में उनके धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्तियों एवं चित्रों का बनाना निषिद्ध था। बादशाह अकबर के धर्मसंबंधी विचार पलटे और उसने इस्लाम के स्थान पर 'दीन-इ-इलाही' नाम का नया धर्म और हिजरी सन् के बदले 'इलाही सन्' चलाने का प्रयत्न किया, तभी से मुग़ल शैली के चित्र यहां बनने लगे हैं। हिन्दुओं में तो चित्रकला बहुत प्राचीन काल से बड़ी उन्नति को पहुंच चुकी थी और ऋतु, रस आदि के चित्र या मूर्तियां बनती थीं। ऐसी दशा में चित्रण की राजपूत शैली पर मुग़ल शैली का प्रभाव पड़ना एवं राग-रागिनियों आदि के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की मानना असंगत ही है।

राजपूताने के बने हुए पुराने चित्रों के रंग की चमक भी अब तक वैसी ही है कि मानों वे आज ही खींचे गए हों। अब तो यहां की चित्रकला पर यूरोप की चित्रकला का प्रभाव पड़ने लग गया है। जयपुर के कलाभवन (आर्ट स्कूल) में अन्य विषयों के अतिरिक्त चित्रकला भी सिखाई जाती है,

(१) ऋतु और आयुधों की मूर्तियां चित्तोड़ पर के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनवाए हुए कीर्तिस्तंभ में खुदी हुई हैं और उनके ऊपर या नीचे उनके नाम भी खुदे हैं।

(२) नवग्रहों की मूर्तियां भारत के भिन्न भिन्न विभागों में मिलती हैं और राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में भी रक्खी हुई हैं।

(३) अजमेर के 'ढाई दिन के झोंपड़े' में खुदाई करते समय एक शिलाखंड मिला जिसपर मूर्तियों की दो पंक्तियां बनी हैं। ऊपर की पंक्ति में कलि, प्रभात, प्रात, मध्याह्न, अपराह्ण और संध्या की मूर्तियां हैं और प्रत्येक मूर्ति के ऊपर उसका नाम खुदा हुआ है। नीचे की पंक्ति में मघा, पूर्वफाल्गुन, उत्तरफाल्गुन, हस्त, चित्र, स्वाति और विशाख की मूर्तियां हैं, जिनके नीचे उनके नाम खुदे हुए हैं।

परंतु विशेषकर यूरोप की शैली से। राजपूताने में चित्रकला की शिक्षा का केवल यही एक स्थान है।

यहां के चित्रों के काम में आनेवाले सब प्रकार के रंग पहले यहीं बनते थे, परंतु उनके बनाने में श्रम अधिक होने और यूरोप आदि के बने बनाए रंग, चाहे वे उतने स्थायी न हों, आसानी के साथ मिल जाने के कारण यहां के चित्रकार अब उन्हीं विदेशी रंगों का उपयोग करने लगे हैं, जिससे यहां का रंगसाज़ी का व्यवसाय भी अन्य व्यवसायों की भांति नष्ट हो गया।

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कलाकौशल में बड़ी उन्नति कर ही चुका था, परंतु संगीत-कला[1] में तो इस देश ने सब से अधिक

संगीत

कौशल प्राप्त किया था। सामवेद का एक भाग गान है जो 'सामगान' नाम से प्रसिद्ध है और वैदिक यज्ञादि में प्रसंग प्रसंग पर सामगान था। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन जिन बातों से संगीत का महत्त्व माना वे सभी वैदिक काल में यहां विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, झांझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम 'वीणा[2]', 'कांडवीणा[3]' और 'कर्करी[4]' आदि मिलते हैं। झांझ को 'आघाटि[5]' या 'आघाट[6]' कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था[7]। वंसी के नाम 'तूणव[8]' और 'नाडी[9]' मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'आडंबर[10]', 'दुंदुभि[11]', 'भूमि-

---

(१) गीत (गाना), वाद्य (वजाना) और नृत्य (नाचना) इन तीनों को संगीत कहते हैं। "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" (संगीतरत्नाकर; अध्याय १, श्लोक २१)

(२) तैत्तिरीय संहिता (६ । १ । ४ । १) । काठक संहिता (३४ । ५)

(३) काठक संहिता (३४ । ५)

(४) ऋग्वेद (२ । ४३ । ३) । अथर्ववेद (४ । ३७ । ४)

(५) ऋग्वेद (१० । १४६ । २)

(६) अथर्ववेद (४ । ३७ । ४)

(७) ए. ए. मैकडॉनल और ए. बी. कीथ; 'वेदिक इंडेक्स'; जि० १, पृ० ५३ ।

(८) तैत्तिरीय संहिता (६ । १ । ४ । १) । मैत्रायणी संहिता (३ । ६ । ८)

(९) ऋग्वेद (१० । १३५ । ७) । काठक संहिता (२३ । ४; ३४ । ५)

(१०) वाजसनेयि संहिता (३० । १९)

(११) ऋग्वेद (१ । २८ । ५; ६ । ४७ । २९) । अथर्ववेद (५ । २० । १)

दुंदुभि[1] इत्यादि नामों से प्रसिद्ध थे। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर बनाए जाते थे। पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है और वैदिक काल में यहां उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीतकला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी जब कि संसार की बड़ी बड़ी जातियां सभ्यता के निकट भी नहीं पहुंचने पाई थीं।

ऐनी विल्सन साहिबा लिखती हैं कि "हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिये कि उनकी संगीतलेखन-शैली (Notation) संसार भर में सब से पुरानी है[2]"। सर विलियम हंटर का कथन है कि "संगीत-लिपि (Notation) भारत से ही ईरान में, फिर अरब में और वहां से ई० स० की ११ वीं शताब्दी में यूरोप में पहुंची[3]"। यही मत प्रोफ़ेसर वेबर का भी है[4]।

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडव वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञात वास के लिये राजा विराट के यहां भेष बदलकर भिन्न भिन्न नामों से सेवक बनकर रहे थे। उस समय अर्जुन ने अपने को बृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत सिखलाने की सेवा स्वीकार की थी[5]। पांडुवंशी जनमेजय का

---

(१) तैत्तिरीय संहिता (७ । ५ । ६ । ३)। काठक संहिता (३४ । ५)

(२) 'शॉर्ट अकाउंट ऑफ़् दी हिंदू सिस्टम ऑफ़् म्यूज़िक्'; पृ० ५।

(३) 'इंडियन गैज़ेटियर; इंडिया, पृ० २२३।

(४) 'इंडियन लिटरेचर'; पृ० २७२।

(५) *नृत्यामि गायामि च वादयाम्यहं प्रानर्तने कौशलनैपुणं मम।*
तदुत्तरायाः परिधत्स्व नर्तने भवामि देव्या नरदेव नर्तकी ॥ १८ ॥
संमन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै।
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तं ॥ २२ ॥
स शिक्षयामास च गीतवादनं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः।
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा प्रियश्च तस्याः स बभूव पाण्डवः ॥ २३ ॥

महाभारत; विराटपर्व, अध्याय ११ (बंबई का निर्णयसागर संस्करण)

प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यौगन्धरायण आदि मंत्रियों पर राज्यभार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से हाथियों को वश कर वनों में से उनको पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ से वह क़ैद हुआ और संगीत-कला में बड़ा निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिये नियत किया। उसी प्रसंग में उनके बीच प्रेमबंधन जुड़ गया जिससे वह वासवदत्ता को लेकर अपनी राजधानी को भाग गया[१]। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय होते थे और संगीत-वेत्ताओं को सादर अपने यहां रखकर इस कला की उन्नति करते थे। राजा कनिष्क के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरंधर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त अपने प्रयाग के स्तंभ-लेख में अपने को संगीत में तुंबुरु और नारद से बढ़कर बतलाता है[२], और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य बजाते हुए उसी राजा की मूर्त्ति बनी है[३]। विक्रम संवत् की ५ वीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम गोर का हिंदुस्तान पर आक्रमण करना और यहां से १२००० गवैयों को नौकरी के लिये ईरान भेजना वहां के इतिहास में लिखा मिलता है[४]।

संगीत के विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं। वि० सं० की १३ वीं शताब्दी के अंत के आसपास देवगिरि के यादव राजा सिंघण के दरबार के प्रसिद्ध संगीताचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने अपने पूर्व के इस विषय के कई आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जिनमें भोज (परमार), परमर्दि, सोमेश (सोमेश्वर चौहान) आदि कई राजाओं के भी नाम हैं[५]।

---

(१) गौ. ही. ओ; सो. प्रा. इ; पृ. ४७–४८ के टिप्पण।

(२) *निशितविदग्धमतिगांधर्व्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुंबुरुनारदादेर्व्वि-द्वज्जनो°* (फ्ली; गु. इं; पृ० ८)

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० १८–२०; और प्लेट ५, संख्या १–८।

(४) माल्कम; 'हिस्टरी ऑफ़ पर्शिया'; पृ० २२०।

(५) *रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।*
परमर्दी च सोमेशो जगदेक(व)महीपतिः॥ १८॥

'संगीतरत्नाकर;' अध्याय १।

कप्तान डे ने लिखा है[1] कि "मुसलमानों के यहां आने से कुछ पूर्व का समय भारतीय संगीत के लिये सर्वोत्तम रहा"। जब से भक्तिमार्ग की उपासना प्रचलित हुई तब से संगीत में और भी उन्नति होती रही।

मुसलमानों के समय से उत्तर भारत के संगीत में परिवर्त्तन होने लगा, गायन-शैली पलटती गई, गान में शृंगार रस प्रधान होने लगा और भिन्न भिन्न स्थानों के रागों का मिश्रण होता गया। ऐसे रागों में राजपूताने के मारव (मारवा) और माड भी मिल गये। ये राग क्रमशः मारवाड़ और जैसलमेर[2] के थे। वीणा में परिवर्तन होकर उसके सूक्ष्म रूप सितार[3] का प्रादुर्भाव हुआ और अन्य वादित्र भी बने। अरब और ईरान के 'दिलरुबा', 'क़ानून' आदि बाजों का भी प्रचार हुआ, परंतु वीणा का महत्त्व सदा सर्वोपरि ही बना रहा।

वि० सं० १४९० (ई० स० १४३३) में मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) आरूढ हुए। ये संगीत-शास्त्र के धुरंधर विद्वान् थे। इनके रचे हुए दो ग्रंथ 'संगीतमीमांसा' और 'संगीतराज' उपलब्ध हुए हैं[4]। इनके पौत्र महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) के पुत्र भोजराज की स्त्री मीरांबाई, जो भगवद्भक्ति के लिये भारत भर में प्रसिद्ध है, कविता करने एवं गानविद्या में निपुण थी। उसका बनाया हुआ 'मीरांबाई का मलार' नामक राग अब तक प्रचलित है। वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के मध्य में ग्वालियर के तोमरवंशी (तंवर) राजा मानसिंह संगीत के लिये प्रसिद्ध हुए। ये संकीर्ण (मिश्र) रागों को अधिक महत्त्व देते थे। इन्होंने अपनी गूजरी राणी (मृगनयनी) के नाम पर 'गूजरी', 'बहुल गूजरी', 'माल गूजरी' और 'मंगल गूजरी' राग बनाए[5]। इनका रचा हुआ 'मानकुतूहल' नामक संगीत का ग्रंथ रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इन्हींके समय में ध्रुपद गाने की शैली प्रचलित हुई जो शीघ्र ही चारों ओर फैल गई।

---

(१) 'म्यूज़िक् ऑफ़ सदर्न इंडिया'; पृ. ३।

(२) प्राचीन शिलालेखों में जैसलमेर राज्य का नाम 'माड' मिलता है और वहां के लोग उसे अभी तक 'माड' ही कहते हैं। वहां की स्त्रियां बहुधा माड ही गाती हैं।

(३) वीणा पर से सितार किस ने बनाई यह अनिश्चित है तो भी अमीर खुसरो इसका निर्माता माना जाता है।

(४) ऑ; कै. कै; भाग १, पृ० १११।

(५) क; आ. स. इं; जि. २, पृ० ६३–६४।

अकबर के दरबार में हिन्दू और मुसलमान गवैयों के जमघट में ध्रुपद ही अधिक गाया जाता था। इस समय तक ईरानी राग भी मुसलमानों में प्रचलित हो गए थे और यहां के कई पुराने रागों के मुसलमानी नाम भी रख लिये गए थे, जैसे कि देवगांधार का नाम 'रहाई', कानड़े का 'निशावर', सारंग का 'माहुर' आदि[1]। मुग़लों के समय में भी राजपूताने के राजाओं में संगीत का प्रेम पूर्ववत् बना रहा जिससे उनके आश्रित विद्वान् गायकों के बनाए हुए संगीत विषयक कई ग्रंथ मिलते हैं। अकबर के समय कछवाहा राजा भगवंतदास के पुत्र माधवसिंह[2] ने खानदेश से पुंडरीक विट्ठल को अपने यहां बुलाया जिसने वहां रहते समय 'रागमंजरी' नामक ग्रंथ लिखा। फिर पुंडरीक का प्रवेश अकबर के दरबार में हुआ जहां उसने 'नृत्यनिर्णय[3]' लिखा। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक तानसेन के वंशज अब तक जयपुर राज्य के आश्रित चले आते हैं। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह (अनोपसिंह) के दरबार के पंडित भावभट्ट ने 'अनूपांकुश', 'अनूपसंगीतविलास' और 'अनूपरत्नाकर' नामक संगीत-ग्रंथों की रचना की। भावभट्ट का पिता जनार्दनभट्ट शाहजहां के दरबार का गवैया था। अकबर के पीछे जहांगीर और शाहजहां के दरबार में संगीतवेत्ताओं का आदर रहा, परंतु औरंगज़ेब ने संगीत की चर्चा ही रोक दी, जिससे शाही दरबार के बहुतसे गवैयों ने राजपूताने के राजाओं के यहां आश्रय पाया। संभव है कि भावभट्ट औरंगज़ेब के समय ही बीकानेर में आ

---

(१) *रहायी देवगांधारे कानरे च निशावरः ।*
सारंगे माहुरो नाम जंगूलोऽथ बंगालके ॥

पुंडरीक विट्ठलकृत 'रागमंजरी'; पृ० १६।

'रागमंजरी' में इस प्रकार १५ रागों के मुसलमानी नाम दिये हैं।

(२) *श्रीमन्माधवसिंहराजरुचिदा शृंगारहारा सभा ॥ ६ ॥*
अगणितगणकचिकित्सकवेदान्तन्यायशब्दशास्त्रज्ञाः ।
दृश्यन्ते बहवः संगीती नात्र दृश्यतेऽप्येकः ॥ ७ ॥
इत्युक्ते माधवे सिंहे विट्ठलेन द्विजन्मना ।
नत्वा गणेश्वरं देवं रच्यते रागमंजरी ॥ ८ ॥

'रागमंजरी', पृ. २।

(३) 'रागमंजरी' की मराठी भूमिका, पृ० २।

रहा हो। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबार में बहुतसे गवैये नौकर थे, और उक्त महाराजा की आज्ञा से 'संगीतसार' नामक बृहत् ग्रंथ लिखा गया था। मुग़ल-साम्राज्य के अस्त होने पर राजपूताने के राजाओं ने संगीत को अपनाया और अनेक गायकों को आश्रय दिया, इसीसे यहां अब तक थोड़ा बहुत संगीत रह गया है।

संगीत का एक अंश नृत्य (नाचना) था, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से वैज्ञानिक पद्धति पर किया जाता था। वि० सं० पूर्व की छठी शताब्दी में पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की उस समय भी शिलाली और कृशाश्व के 'नटसूत्र' (नाट्यशास्त्र) विद्यमान थे[1]। भरत का 'नाट्यशास्त्र' सुप्रसिद्ध है; उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य के नियमों के कई ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर भास, कालिदास आदि अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्धत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का मधुर एवं सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया। स्त्रियों के नृत्य का लास्य में समावेश होता है।

मुग़लों के समय से राजपूताने में परदे का प्रचार बढ़ने से नृत्यकला की अवनति होती गई, तो भी राजा से रंक तक की स्त्रियों में नाचने की प्रथा अब तक चली आती है और विवाह आदि प्रसंगों पर वे नाचती हैं, परंतु नृत्य की प्राचीन शैली तो लुप्तसी हो गई है। अब तो प्राचीन शैली का नृत्य दक्षिण के तंजोर आदि स्थानों में तथा कहीं कहीं अन्यत्र पाया जाता है।

राजपूताने में भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के समान प्राचीन काल में सोने चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे। सोने के सिक्कों के प्राचीन नाम सुवर्ण, निष्क, शतमान, पल, दीनार, गद्याणक आदि; चांदी के सिक्कों के पुराण, धरण, पाद, पदिक (फदैया या फदीया), द्रम्म, रूपक, टंक आदि, और तांबे के सिक्कों के नाम कार्षापण, पण, काकिणी आदि मिलते हैं। राजपूताने से मिलनेवाले सबसे पुराने सिक्के चांदी और तांबे के हैं, जो दूसरे प्रदेशों के सिक्कों के समान प्रारंभ में चौकोर और पीछे से गोल भी बनने लगे थे। इन पर कोई लेख नहीं होता, किंतु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत (मेरु), नदी (गंगा) आदि धार्मिक

सिक्के

(१) गौ० ही० ओ; भा० प्रा० लि; पृ० ७, टिप्पण ६।

५

संकेत एवं अनेक अन्य चिह्न अंकित होते थे, जिनमें से कई एक का वास्तवि
आशय ज्ञात नहीं होता।

राजपूताने में सब से पुराने लेखवाले तांबे के सिक्के 'मध्यमिका' नाम
प्राचीन नगर से मिले हैं, जिनपर "मझमिकाय शिबिजनपदस[1]" (शिवि देश
मध्यमिका नगर का सिक्का) लेख है। ये सिक्के वि० सं० के पूर्व की तीस
शताब्दी के आस पास के हों ऐसा उनपर के लेख की लिपि से अनुमान हो
है। उसी समय के आसपास के मालव जाति के तांबे के सिक्के जयपुर राज्य
'नगर' (कर्कोटक नगर) से मिले हैं, जिनपर 'मालवानां जय' या 'जय मालवानां
(मालवों की जय) लेख है। ये सिक्के मालव गण या मालव जाति की विजय
स्मारक हैं। इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। ग्री
और क्षत्रपों के सिक्के तो यहां अब तक चांदी और तांबे के ही मिले हैं, परंतु कुश
और शकों के सोने के भी कभी कभी मिल आते हैं। फिर वि० सं० की चौथी शताब्
से गुप्तवंशी राजाओं के सोने और चांदी के सिक्के विशेष रूप से मिलते हैं
हूणवंशियों के भी चांदी के सिक्के मिले हैं, परंतु संख्या में बहुत कम। हूणों
अपने सिक्के ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं के सिक्कों की शैली के बनाये
जिनकी नक़ल वि० सं० की १२ वीं शताब्दी के आस पास तक यहां होती रही। फि
उनमें क्रमशः परिवर्त्तन होता और कारीगरी में भद्दापन आता गया, जिससे
उनपर राजा का चहरा यहां तक बिगड़ा कि उसका पहिचानना भी कठिन हो
गया और लोग उसे गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को 'गधैया' कहने
लग गये। वि० सं० की सातवीं शताब्दी से लगाकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य
तक राजपूताने के प्राचीन हिन्दू राजवंशों में से केवल तीन ही वंशों के चांदी
और तांबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के मेवाड़ के गुहिल, कन्नौज के
प्रतिहार, और अजमेर के चौहानों के हैं। इनमें सोने का सिक्का अबतक
केवल गुहिलवंशी बप्प (रावल बापा) का[3] ही मिला है। चौहानों के सिक्कों
में बहुधा एक ओर नंदी और दूसरी ओर हाथ में भाला लिये सवार होता था,
और कभी एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर केवल लेख रहता था। शहाबुद्दीन

(१) क; आ. स. इं; जि० ६, पृ० २०३।
(२) वही, पृ० १८१।
(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१–२८९।

ग़ोरी के सोने के सिक्कों पर एक ओर लक्ष्मी की मूर्ति और दूसरी ओर नागरी लिपि में 'श्रीमहमदविनिसाम' (मुहम्मद बिन साम) लेख है। इसी तरह उसके तांबे के सिक्कों पर एक ओर नंदी तथा त्रिशूल के साथ 'स्रीमहमद साम' और दूसरी तरफ़ चौहानों के सिक्कों के समान सवार और 'स्रीहमीर' (अमीर) लेख है। इन दोनों प्रकार के सिक्कों में चौहानों के सिक्कों का अनुकरण स्पष्ट पाया जाता है। इसी अश्वनंदी शैली के तांबे के सिक्के सुलतान अल्तमश (शमशुद्दीन), रुकनुद्दीन फीरोज़शाह, मुइज़ुद्दीन कैकोबाद, और अलाउद्दीन खिलजी तक के मिलते हैं। अलाउद्दीन ने ही अपने पिछले समय में सिक्कों पर से राजपूत शैली के चिह्नों को बिल्कुल उठा दिया[1]।

वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी के पीछे राजपूताने के जिन जिन विभागों पर मुसलमानों का अधिकार होता गया वहां सिक्का उनका ही चलने लगा। फिर तो केवल मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया) वंशियों में से महाराणा कुंभकर्ण, सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के मिलते हैं। महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर के साथ सुलह कर शाही अधीनता स्वीकारी तब से मेवाड़ के सिक्के भी अस्त हो गये और सारे देश में सिक्का और खुत्बा (नमाज़ के वक्त बादशाह को दुआ देना) बादशाही प्रचलित हो गया। फिर जब मुहम्मदशाह और उसके पिछले बादशाहों के समय मुगलों का राज्य निर्बल हो गया तब राजपूताने के राजाओं ने अपने अपने राज्यों में बादशाहों की आज्ञा से टकसालें खोलीं; तब भी सिक्कों पर लेख तो बादशाहों के नाम के ही बने रहे। ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) में सरकार अंग्रेज़ी से संधि होने के बाद मुग़लों का नाम यहां के सिक्कों पर से उठता गया। अब तो कुछ राज्यों को छोड़ कर सर्वत्र सरकार अंग्रेज़ी का सिक्का (कलदार) ही चलता है।

इस प्रकरण में राजपूताने का भूगोलसम्बन्धी वर्णन हमने बहुत संक्षेप के साथ लिखा है, आगे प्रत्येक राज्य के इतिहास के साथ वह विस्तार से लिखा जायगा।

---

(१) ऐच. नेलसन राइट; 'कैटैलोग ऑफ़ दी कोइन्स इन् दी ... जि. २, पृ. २७-३०।

दूसरा अध्याय

राजपूत

जैसे 'राजपूताना' नाम अंग्रेज़ों के समय में प्रसिद्ध हुआ वैसे ही 'राजपूत' शब्द भी एक जाति या वर्ण विशेष के लिये मुसलमानों के इस देश में आने के पीछे प्रचलित हुआ है। 'राजपूत' या 'रजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश अर्थात् लौकिक रूप है। प्राचीन काल में 'राजपुत्र' शब्द जातिवाचक नहीं, किंतु क्षत्रिय राजकुमारों या राजवंशियों का सूचक था, क्योंकि बहुत प्राचीन काल से प्रायः सारा भारतवर्ष क्षत्रिय वर्ण के अधीन था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र[1]', कालिदास के काव्य और नाटकों[2], अश्वघोष के ग्रंथों[3], बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी[4]' आदि पुस्तकों एवं प्राचीन शिलालेखों[5] तथा दानपत्रों[6] में राजकुमारों और राजवंशियों के लिये 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग होना पाया जाता है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने वि० सं० ६८६ से ७०२ (ई० स० ६२६–६४५) तक इस देश में भ्रमण कर अपनी यात्रा का विस्तृत वर्णन लिखा, जो भारतवर्ष के उस समय के भूगोल, इतिहास, धर्म,

---

(१) *जन्मप्रभृति राजपुत्रान्रक्षेत् कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः ।*

'अर्थशास्त्र;' पृ० ३२ ।

(२) *राजसूयदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य ।*

'मालविकाग्निमित्र नाटक'; अंक ५, पृ० १०४ ।

(३) *अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।*

केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ ८ ॥

'सौन्दरानन्द काव्य'; सर्ग १ ।

(४) *केसरिकिशोरकैरिव विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास ।* कादंबरी; पृ० १४–१५ ।

(५) *भालिभाडाप्रभृतिग्रामेषु संतिष्ठमानश्रीप्रतीहारवंशीयसर्व्वराजपुत्रैश्च ।*

आबू पर तेजपाल के मंदिर का वि० सं० १२८७ का शिलालेख। ए. इं; जि० ८, पृ० २२२ ।

(६) *सर्व्वानेव राजराजनकराजपुत्रराजामात्यसेनापति०*

खालिमपुर से मिला हुआ राजा धर्मपाल का दानपत्र। ए. इं; जि० ४; पृ० २४९ ।

लोगों के रहन सहन आदि जानने के लिये बड़े महत्त्व का है। उक्त पुस्तक में उसने कई राजाओं का नामोल्लेख कर उनको क्षत्रिय[1] ही लिखा है, राजपूत[2] नहीं।

मुसलमानों के राजत्वकाल में क्षत्रियों के राज्य क्रमशः अस्त होते गए और जो बचे उनको मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव वे स्वतंत्र राजा न रह कर सामंत से बन गए। ऐसी दशा में मुसलमानों के समय राजवंशी होने के कारण उनके लिये 'राजपूत' नाम का प्रयोग होने लगा। फिर धीरे धीरे यह शब्द जातिसूचक होकर मुग़लों के समय अथवा उससे पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।

क्षत्रिय वर्ण वैदिक काल से इस देश पर अधिकार करता रहा और आर्यों[3] की वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रजा का रक्षण करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना और विषयासक्ति में न पड़ना आदि क्षत्रियों

---

(१) हुएन्त्संग ने महाराष्ट्र के राजा पुलकेशी, वलभी के राजा ध्रुवपट (ध्रुवभट) आदि कई राजाओं को क्षत्रिय ही लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि० २, पृ० २५६; २६७)

(२) 'पृथ्वीराज रासे' में रजपूत (राजपूत) शब्द मिलता है 'लग्गो सुजाय रजपूत सीस। धायो सु तेग करि करिय रीस' ('पृथ्वीराज रासा', पृ० २४०८; नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण), परंतु यह ग्रंथ वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व का बना हुआ नहीं है।

(३) इस पुस्तक में 'आर्य्य' शब्द का प्रयोग (सिवा पृ० १२ के) देखकर पाठक यह अनुमान न करें कि यह शब्द आर्यसमाज के अनुयायियों के लिये प्रयोग किया गया है। आजकल 'हिंदू' शब्द का प्रयोग होता है, परंतु उसके स्थान में प्राचीन काल में 'आर्य' शब्द का प्रयोग होता था। हिंदू नाम वि. सं. की ८ वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में नहीं मिलता है। फारस (ईरान) की भाषा में 'स' के स्थान में 'ह' बोला जाता था जैसे कि 'सप्त' को 'हफ़्त' 'सिंधु' को 'हिंदू' आदि। इसीसे ईरानियों ने सिंधु के निकटवर्ती निवासियों को हिंदू कहा। पीछे से सारे भारत के लोग हिंदू और उनका देश हिंदुस्तान कहलाया। सिकंदर के समय के यूनानी लेखकों ने सिंधु को इंडु (इंडज़) और वहां के निवासियों को 'इंडियन्' कहा, इसीसे अंग्रेज़, भारतवासियों को 'इंडियन्' और भारत को 'इंडिया', कहते हैं। प्राचीन काल में आर्य शब्द बड़े गौरव का सूचक था और सम्मान के लिये उसका प्रयोग होता था। राणियां एवं स्त्रियां अपने पति को संबोधन करने में 'आर्यपुत्र,' ऐसे ही सासु और स्वसुर के लिये क्रमशः आर्या और आर्य शब्दों का प्रयोग करती थीं। बौद्धों में भी यह शब्द गौरव का बोधक माना जाता था; इसीसे उनके कई प्रसिद्ध धर्माचार्यों आदि के नाम के साथ आर्य शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, जैसे कि आर्यअसंग, आर्यदेव, आर्यपार्श्विक, आर्यसिंह आदि। जैनों में साध्वी अबतक आर्या

के धर्म या कर्म माने जाते थे[१]। मुसलमानों के समय से वही क्षत्रिय जाति 'राजपूत' कहलाने लगी। आजकल के कितने एक यूरोपियन विद्वान् और उनके लेखों की छाया पर निर्भर रहनेवाले कुछ एतद्देशीय विद्वान् भी यही मानने लगे हैं कि राजपूत जाति प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं, किंतु उत्तर की ओर से आये हुए सीथियन अर्थात् शक हैं। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहास-कार कर्नल टॉड ने राजपूतों के शक होने के प्रमाणों में उनके कितने एक प्रचलित रीति-रिवाजों का, जो शक जाति के रिवाजों से मिलते जुलते हैं, उल्लेख किया है। ऐसे प्रमाणों में सूर्य की पूजा या उपासना, तातारी और शक लोगों की पुरानी कथाओं का पुराणों की कथाओं से मिलना, सती होना, अश्वमेध यज्ञ करना, मद्यपान का शौक रखना, शस्त्र और घोड़ों का पूजना आदि हैं[२]।

मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने "अर्ली हिस्टरी आफ् इंडिया" (भारत का प्राचीन इतिहास) में लिखा है कि "प्राचीन लेखों में हूणों के साथ गुर्जरों का भी, जो आजकल की गूजर जाति है और हिंदुस्तान के उत्तर-पश्चिम विभागों में फैली हुई है, नाम मिलता है। अनुमान होता है कि पुराने गूजर बाहर से आए हुए थे, उनका श्वेत हूणों के साथ निकट संबंध होना संभव है। उन्होंने राजपूताने में अपना राज्य स्थापित कर भीनमाल (श्रीमाल) को अपनी राजधानी बनाया, जो आबू से अनुमान ५० मील उत्तर-पश्चिम में है। समय पाकर भीनमाल के गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने कन्नौज को जीत कर उत्तर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। भड़ौच का छोटा गुर्जर राज्य भीनमाल के बड़े राज्य की एक शाखा थी[३]"।

"यहां मैं उस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसके विषय में बहुत दिनों से संदेह था, परंतु अब प्रमाणोंद्वारा निश्चित हो गया है कि राजपूताने और गंगा नदी के उत्तरी प्रदेशों में, वहां के निवासियों के साथ लड़ाई झगड़े रहने पर भी, गुर्जरों का राज्य बिलकुल नष्ट नहीं हो गया था यद्यपि बहुतसे नष्ट हुए, परंतु कई बच भी रहे थे जो वहां के निवासियों में

(१) *प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।*
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ 'मनुस्मृति'; १ । ८६ ।

(२) टॉ; रा; जि० १, प्रकरण ६ ।

(३) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ३२१-२२ ।

मिल गए और अब भी उनकी बहुतसी संतान मौजूद है। अपने से पहले आनेवाले शक और यूची (कुशन) लोगों के समान यह विदेशी जाति भी शीघ्र ही हिंदू धर्म में मिल कर हिंदू बन गई। उसके जिन कुटुंबों या शाखाओं ने कुछ भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लिया वे तत्काल क्षत्रिय या राजवर्ण में मिला लिये गए और इसमें संदेह नहीं कि पड़िहार और उत्तर के कई दूसरे प्रसिद्ध राजपूत वंश इन्हीं जंगली समुदायों से निकले हैं, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी में हिंदुस्तान में आए थे। इन विदेशियों के सैनिक एवं साथियों से गूजर और दूसरी जातियां बनीं जो पद प्रतिष्ठा में राजपूतों से कम हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण में कई मूल निवासियों या जंगली जातियों अथवा वंशों ने भी हिंदू धर्म स्वीकार कर हिंदू समाज में प्रवेश किया, जैसे कि गोंड, भड़, खरवड़ आदि से चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि दूसरे प्रसिद्ध राजपूत वंश निकले[1] और उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चंद्र से जा मिलाई[2]"।

उसी पुस्तक में आगे लिखा है कि "पड़िहार, पँवार (परमार), चंदेल आदि राजपूत जातियां कौन थीं; और हर्षवर्धन तथा मुसलमानों की विजय के बीच की शताब्दियों में उनके (राजपूतों के) कारण गड़बड़ क्यों उत्पन्न हुई? उत्तरी भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास में अन्तर डालनेवाली मुख्य बात राजपूत वंशों की प्रधानता ही होने से उसके स्पष्टीकरण की इच्छा उत्पन्न होती है। प्रश्न करना सहज है, परंतु उत्तर देना सहज नहीं, और यह विषय भी बिलकुल अनिश्चित होने से उसका सन्तोषजनक निर्णय नहीं किया जा सकता; तो भी कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है, जिससे पाठकों को इन वंशों की भूलभुलैयों में मार्ग ढूंढ निकालने में कुछ सहायता मिले"।

"ई० स० की आठवीं और नवीं शताब्दी में राजपूत राज्यों का एकाएक उद्गम होना एक आश्चर्य की बात है। प्राचीन राजवंशों के वर्ण या जातिविषय में ठीक तौर से कुछ भी ज्ञात नहीं है; अशोक और समुद्रगुप्त के कुटुंब किस हिंदू समाज के थे,

(१) आज तक के प्राचीन शोध से इस बात का नाममात्र को भी पता नहीं चलता कि चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि प्रसिद्ध राजवंश गोंड, भड़, खरवड़ आदि जातियों से निकले हों। यह केवल मि० विन्सेंट स्मिथ की कपोलकल्पना मात्र है। यदि उक्त कथन में कुछ भी तथ्य होता तो उसके लिये कोई प्रमाण देने का साहस अवश्य किया जाता।

(२) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ३२२।

यह कोई ठीक ठीक नहीं बतला सकता और इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि रंगभूमि पर आये हुए बड़े बड़े राजा महाराजाओं ने केवल अपने पराक्रम ही के द्वारा राज्य प्राप्त किये थे या कहां तक वे बड़े वड़े वंशों के मुखिया थे। पिछले समय के सब राजपूत अपने को प्राचीन क्षत्रिय वर्ण में होना मानते हैं। वास्तव में बहुत प्राचीन काल से, पिछले राजपूत वंशों के समान, क्षत्रिय वंश भी विद्यमान थे और इस माध्यामिक काल के सदृश ही पहले भी नये नये राज्य बराबर स्थापित होते जाते थे, परंतु उनके लिखित प्रमाण नष्ट हो गए और केवल थोड़ेसे नामी नामी वंशों की यादगार मात्र बनी रही। इतिहास में उनका उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि उसको बिलकुल सत्य ही नहीं कह सकते। क्षत्रिय शब्द सदा से एक संशयात्मक अर्थ का द्योतक रहा है। उससे केवल राज्य करनेवाली जाति का बोध होता है जो ब्राह्मण कुल की न हो। कभी कभी ब्राह्मण जाति के भी राजा हुए, परंतु राजदरबार में ब्राह्मण विशेष-कर राजा का नहीं किंतु मन्त्री का ही काम करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय ही अनुमान किया गया है और उसका मंत्री चाणक्य या कौटिल्य निश्चय ब्राह्मण ही था"।

"प्राचीन और माध्यमिक काल में वास्तविक अन्तर यही है कि प्राचीन समय की दंतकथाओं की शृंखला टूट गई और माध्यमिक काल की दंतकथाएं अब तक प्रचलित हैं। मौर्य और गुप्त वंशों की वास्तविकता का पता नहीं चलता केवल पुस्तक, शिलालेख और सिक्कों ही के आधार पर उनकी स्मृतिमात्र स्थिर है। इसके विरुद्ध माध्यमिक काल के राजवंशों की असलियत बहुत कुछ प्राप्त है। टॉड और दूसरे पुराने लेखकों ने लिखा है कि राजपूत विशेषकर शक हैं तथा आजकल की यथेष्ट शोध से उनके कथन की पुष्टि होती है; और यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि कई मुख्य मुख्य राजपूत वंशों में विदेशियों का रुधिर मिल गया है। जो जातियां राजपूतों से कम दर्जे[1] की गिनी जाती थीं उनके साथ राजपूतों का निकट संबंध पाया जाता

(१) राजपूतों का संबंध राजपूतों में ही होता है न कि कम दर्जे की जातियों में। मि० स्मिथ का उपर्युक्त कथन भ्रमपूरित ही है। यह बात अवश्य हुई है कि कुछ राजपूत घराने पहले राज करते थे या उनके पास अच्छी जागीरें थीं, परंतु पीछे से समय के हेर फेर में उनकी जीविका छिन गई और वे लाचार नौकरी या खेती से अपना निर्वाह करने लगे, जिससे

है। भारतवर्ष में सब से प्रथम ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी में बाहर से आनेवाली जाति, जिसके विषय में इतिहास साक्षी देता है, शक थी। उसके पीछे यूची या कुशन जाति ई० स० की पहली शताब्दी में इधर आई। इन जातियों तक तो वर्तमान राजपूत वंश अपनी ठीक वंशपरंपरा नहीं पहुंचा सकते। निस्संदेह शक और कुशनवंशी राजाओं ने जब हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तब वे हिन्दू जाति की प्रथा के अनुसार क्षत्रियों में मिला लिये गए। जो कुछ अब तक जाना गया उससे यही ज्ञात होता है कि वे बहुत काल पीछे हिंदुओं में मिलाए गए हों, किंतु इसके लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है"।

"ऐतिहासिक प्रमाणों से भारत में तीन बाहरी जातियों का आना सिद्ध होता है, जिनमें से शक और कुशन का वर्णन तो ऊपर हो चुका। तीसरी जाति हूण या श्वेतहूण थी, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी के प्रारंभ में इधर आई। इन तीनों के साथ और भी कई जातियां आईं। मनुष्यों की जातियां निर्णय करनेवाली विद्या (Ethnology), पुरातत्त्वविद्या और सिक्कों ने विद्वानों के चित्त पर अंकित कर दिया है कि हूणों ही ने हिंदू संस्थाओं और हिंदू राजनीति को अधिकतर हिला दिया हो[1]"। फिर आगे कुछ और बातें लिखकर उक्त महाशय ने निष्कर्ष यह निकाला है कि "हूण जाति ही

से वे अच्छे राजपूतों की बराबर के नहीं, किंतु कम दर्जे के गिने जाने लगे। मेवाड़ के महाराणा हंमीरसिंह चंदाणा राजपूत की कन्या से उत्पन्न हुए थे यह प्रसिद्ध है। उस समय चंदाणे अच्छे राजपूत माने जाते थे। मुंहणोत नैणसी ने भी उनका चौहानों की सोनगरा शाखा में होना लिखा है ('नैणसी की ख्यात'; पत्रा ४। १)। ऐसे ही नैणसी ने खरवड़ों को पड़िहारों की शाखा होना बतलाया है ('नैणसी की ख्यात'; पत्रा २१। २) और पहले उनके भी जागीरें होने के कारण उनकी गणना अच्छे राजपूतों में होती थी, परंतु अब मेवाड़ के चंदाणों और खरवड़ों का शादी व्यवहार बहुधा अच्छे राजपूतों के साथ नहीं रहा, जिसका कारण उनके पास जागीरों का न रहना और खेती आदि से निर्वाह करना ही हुआ। राजपूताने में एक जाति दरोगा, चाकर या गोला कहलाती है। इस जाति में विधवा स्त्री का नाता (पुनर्विवाह) होता है। जागीरें न रहने पर जब अच्छे राजपूत लाचार खेती या नौकरी से अपना निर्वाह करते हैं और राजपूतों की रीति के अनुसार परदे आदि का अपने यहां प्रबंध नहीं रख सकते तब उनको लाचार दरोगों में मिलना पड़ता है। फिर उनका शादी व्यवहार अच्छे राजपूतों के साथ नहीं होता। राजपूतों के साथ उनके शादी व्यवहार के जो उदाहरण मिलते हैं वे उनकी पूर्व की अच्छी स्थिति के समय के सूचक हैं।

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ ४०७-१०।

विशेष कर राजपूताने और पंजाब में स्थायी रूप से आबाद हुई, जिसका बड़ा विभाग गुर्जर थे जो अब गूजर कहलाते हैं[1]"।

यूरोपियन विद्वानों की शोधक बुद्धि वास्तव में प्रशंसनीय है, परंतु उनमें गतानुगत वृत्ति एवं प्रमाणशून्य मनमानी कल्पना करने की रुचि यहां तक बढ़ गई है कि कभी कभी उनकी शोधक बुद्धि हमारे प्राचीन इतिहास की शृंखला मिलाने में लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुंचानेवाली हो जाती है। आज तक कोई विद्वान् सप्रमाण यह नहीं बतला सका कि शक, कुशन या हूणों से अमुक अमुक राजपूत वंशों की उत्पत्ति हुई। एक समय राजपूतों को 'गूजर' मानने का प्रवाह ऐसे वेग से चला कि कई विद्वानों ने चावड़ा, पड़िहार (प्रतिहार) परमार, चौहान, तँवर, सोलंकी, कछवाहा आदि राजपूतों का 'गूजर' होना बतलाने के संबंध में कई लेख लिख डाले, परंतु अपनी मनमानी कल्पना की घुड़दौड़ में किसीने इन बातों का तनिक भी विचार न किया कि प्राचीन शिलालेख आदि में उनके वंश-परिचय के विषय में क्या लिखा है, दूसरे समकालीन राजवंश उस विषय में क्या मानते थे, हुएन्त्संग ने उनको किस वंश का बतलाया है, और यही कहते गए कि ये तो पीछे से अपने को क्षत्रिय मानने लग गए हैं। ऐसे प्रमाणरहित काल्पनिक कथन, जब तक सप्रमाण यह न बताया जा सके कि अमुक राजपूत जाति अमुक समय अमुक गूजर वंश से निकली, स्वीकार नहीं किये जा सकते।

कर्नल टॉड ने तो अपना ग्रंथ सौ वर्ष पूर्व रचा, उस समय भारत में प्राचीन शोध का प्रारंभ ही हुआ था, और प्राचीन शिलालेखादि का ठीक ठीक पढ़ा जाना आरंभ भी नहीं हुआ था, अतएव टॉड का कथन तो अधिकतर काल्पनिक ही कहा जा सकता है, परंतु इस बीसवीं शताब्दी के लेखक मि० विन्सेंट स्मिथ ने भी कोई मूल प्रमाण उद्धृत कर यह नहीं बतलाया कि अमुक अमुक राजपूत जातियां अमुक बाहरी जाति से निकली हैं। केवल अनुमान के आधार पर ही अपना लेख लिखा, इतना ही नहीं किंतु यह भी स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सका कि राजपूत जाति की उत्पत्ति शक, कुशन और हूण इन तीन में से किससे हुई। उक्त महाशय को साथ साथ यह भी लिखना पड़ा कि "निस्संदेह शक और कुशनवंशी राजाओं ने जब हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तब से

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ. ४११।

हिंदू जाति की प्रथा के अनुसार वे क्षत्रियों में मिला लिये गए, परंतु जो कुछ अब तक जाना गया उससे यही ज्ञात होता है कि वे बहुत काल पीछे हिंदुओं में मिलाए गए हों, लेकिन इसके लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है"।

अब हम सबसे पहले राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की शक जाति संबंधी मुख्य दलील की जांच करते हैं। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि 'पौंड्रक, चोड, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ये सब क्षत्रिय जातियां थीं, परंतु शनैः शनैः क्रियालोप होने से वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) हो गई''। इस कथन का अभिप्राय यही है कि वैदिक धर्म को छोड़कर अन्य (बौद्ध आदि) धर्मों के अनुयायी हो जाने के कारण वैदिक धर्म के आचार्यों ने उनकी गणना विधर्मियों (धर्मभ्रष्टों) में की।

पुराणों से पाया जाता है कि "इक्ष्वाकुवंशी राजा वृक के पुत्र बाहु (बाहुक) के राज्य पर हैहयों और तालजंघों[2] (तालजंघ के वंशजों) ने आक्रमण किया जिससे वह पराजित होकर अपनी राणियों सहित वन में जा रहा जहां और्व ऋषि के आश्रम में उसका देहान्त हुआ। और्व ने बाहु के पुत्र सगर को वेदादि सब शास्त्र पढ़ाए, अस्त्रविद्या की शिक्षा दी और विशेषकर भार्गव नामक अग्न्यस्त्र का प्रयोग करना सिखलाया। एक दिन उस (सगर) ने अपनी माता से ऋषि के आश्रम में निवास करने का कारण जानने पर क्रुद्ध होकर अपना पैतृक राज्य पीछा लेने और हैहयों तथा तालजंघों को नष्ट करने का प्रण किया। फिर उसने बहुधा सब हैहयों को नष्ट किया और शक, यवन, कांबोज तथा पल्हवों को भी (जो बाहु का राज्य छीनने में हैहय आदि के सहायक हुए थे) नष्ट कर देता, परंतु उन्होंने अपनी रक्षा के लिये उसके कुलगुरु वासिष्ठ की शरण ली, तब गुरु ने उसको रोका और कहा कि अब तू उनका पीछा मत कर; मैंने तेरी

---

(१) शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चोडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

'मनुस्मृति;' १० । ४३-४४ ।

(२) हैहय और तालजंघ यदुवंशी राजा थे। हैहय यदु का चौथा और ९वां वंशधर था। इनके वंशज हैहय (कलचुरि) और

के महाभाष्य से भी आर्यावर्त से बाहर के उत्तरी प्रदेशों में आर्यों की बस्तियां होना पाया जाता है[1]।

ये तो शकादि बाहरी आर्य जातियों में संबंध के हमारे यहां के उल्लेख हैं। अब हमें यह देखना चाहिये कि यूरोप के प्राचीन काल के इतिहास-लेखक शकों के विषय में क्या लिखते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है कि "ज्योस नामक विद्वान् का कथन है कि मुझे कई प्रमाण ऐसे मिले जिनसे पाया जाता है कि शक आर्य ही थे। इसकी सत्यता की साक्षी हिरोडॉटस देता है कि सीथियन (शक) और सर्माटियन एक ही भाषा बोलते थे; और सर्माटियन के निःसन्देह आर्य होने की साक्षी प्राचीन ग्रंथकार देते हैं। स्टेपी[2] के सारे प्रदेशों पर ऑक्सस और जेहूं नदियों से हंगेरिया के पुज़्टास् तक पहले आर्यों की एक शाखा का अधिकार था। शकों के देवता भी आर्यों के देवताओं से मिलते हुए थे। उनकी सब से बड़ी देवी तबीती (अन्नपूर्णा) थी; दूसरा देवता पपीना (पाकशासन, इन्द्र) और उसकी स्त्री अपिया (पृथ्वी) थी। इनके अतिरिक्त सूर्य आदि दूसरे देवता भी पूजे जाते थे। राजवंशी शक समुद्र के देवता (वरुण) की पूजा करते थे। वे ठीक ईरानी प्रथा के अनुसार देवताओं की मूर्त्तियां और मंदिर नहीं बनाते, किंतु एक खड्ग को बड़ी वेदी पर रखकर प्रतिवर्ष उसको भेड़ आदि की बली चढ़ाते थे। शक लोग लड़ाई के समय घोड़े पर सवार होते थे और धनुष बाण रखते थे[3]"।

ऊपर उद्धृत किये हुए मनुस्मृति, पुराण एवं प्राचीन यूरोपियन इतिहास-लेखकों के प्रमाणों से स्पष्ट है कि शक जाति आर्यों से भिन्न नहीं किंतु उन्हीं की एक शाखा थी। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वे आर्य थे तो पीछे से वे पुराणों आदि में वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) क्यों कहलाए? तो इसका उत्तर यही है कि उन्होंने वैदिक धर्म से बाह्य होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। धर्मभेद के कारण बौद्धों और ब्राह्मणों में परस्पर परम शत्रुता रही, इसीसे जैसे ईरानियों ने शक शब्द का अर्थ 'सग' (कुत्ता) बतलाया वैसे ही ब्राह्मणों ने उनका क्षत्रिय होना स्वीकार करते हुए भी उनको वृषल (धर्मभ्रष्ट) ठहराया;

(१) ना० प्र० प०; भाग ४, पृ० २१४–२०।
(२) स्टेपी, रूस के दक्षिण और साईबेरिया के पश्चिम का प्रदेश।
(३) 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'; जि० २१, पृ० ४७६;

किंतु शक और कुशनवंशियों के सिक्कों, शिलालेखादि एवं प्राचीन ग्रंथों में मिलनेवाले उनके वर्णन को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वे जंगली और वृषल नहीं किंतु आर्य ही थे और आर्यों की सी सभ्यता रखते थे।

ऊपर हम पुराणों से बतला चुके हैं कि चंद्रवंशी राजा द्रुह्यु के, जो गांधार देश का राजा था, पांचवें वंशधर प्रचेता के अनेक पुत्रों ने भारतवर्ष से उत्तर के म्लेच्छ देशों में अपने राज्य स्थापित किये थे। मुसलमानों के मध्य एशिया विजय करने के पूर्व उक्त सारे देश में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. सर ऑरल स्टाइन ने ई. स. १६०१ (वि० सं० १६५८) में चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन शोध का काम करते समय रेत के नीचे दबे हुए कई स्थानों से खरोष्ठी लिपि के लेखों का बड़ा संग्रह किया। उक्त लेखों की भाषा वहां की लौकिक(तुर्की)मिश्रित भारतीय प्राकृत है। उनमें से कितने ही का प्रारंभ 'महनुअव महरय लिहति' (महानुभाव महाराजा लिखता है) पद से[1] होता है। कई लेखों में 'महाराज' के अतिरिक्त 'भट्टारक[2]', 'प्रियदर्शन[3]' (प्रियदर्शी) और 'देवपुत्र[4]' भी वहां के राजाओं के खिताब (विरुद) मिलते

(१) ए० एम० बोयर, ई० जे० राप्सन और ई० सेनार्ट के द्वारा संपादित 'खरोष्टी इन्स्क्रिप्शन्स डिस्कवर्ड बाइ सर ऑरल स्टाइन इन् चाइनीज़ तुर्किस्तान' नामक पुस्तक, भाग १, लेखसंख्या १, ३-११, १३-१४, १६-२२, २४, २६-३०, ३२, ३३, ३६-४०, ४२, ४३, ४५-४७; ४६, ५२-५७, ६२-६४, ६८, ७०-७२ और कई अनेक। उक्त पुस्तक में चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए ४२७ प्राकृत लेखों का अक्षरान्तर छपा है।

(२) *भटरगस(भट्टारकस्य)प्रियदर्शनस प्रियपितु°* (लेखसंख्या १३३)

भटरगनां(भट्टारकाणां) प्रियदेवमनुशसंपुजितनां प्रियदर्शननां योग्यदिव्यवर्षशतअयुप्रमननां (लेखसंख्या १४०)

(३) *प्रियदेवमनुशस प्रियदर्शनस प्रियभ्रतु°* (लेखसंख्या १३९ और १५६)

(४) *संवत्सरे ४ ३(=७) महनुअव महरय जिटुघवंशमण देवपुत्रस मसे ४ २ (=६) दिवसे १० ४(=१४) तं कालंमि°* (लेख संख्या ११६)

इस टिप्पण में तथा इसके पीछे के तीन टिप्पणों में जो अवतरण उद्धृत किये गए हैं वे चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए खरोष्ठी लेखों से हैं। खरोष्ठी लिपि में बहुधा स्वरों की मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं रहता। देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ०३१-३७; और लिपिपत्र ६५-७०।

हैं। 'भट्टारक' (परमभट्टारक) भारत के राजाओं का सामान्य खिताब था, 'प्रियदर्शन' ('प्रियदर्शी') मौर्य राजा अशोक का था, और 'देवपुत्र' भारतवर्ष में मिलनेवाले कुशनवंशी राजाओं के शिलालेखों के अनुसार उनकी कई उपाधियों में से एक थी। कई एक लेखों में संवत् भी लिखे हुए हैं जो प्राचीन भारतीय शैली के हैं, अर्थात् उनमें 'संवत्सर', 'मास' और सौर दिवस दिये हुए हैं[1]। ये लेख चीनी तुर्किस्तान में भारतीय सभ्यता के प्रचार की साक्षी दे रहे हैं।

चीनी यात्री फाहियान ई० स० ३९९ (वि० सं० ४५६) में अपने देश से भारत की यात्रा को निकला और ई० स० ४१४ (वि० सं० ४७१) में पीछा समुद्र-मार्ग से स्वदेश में पहुंचा। वह मध्य एशिया के मार्ग से भारत को आया था और अपनी यात्रा के वर्णन में लिखता है कि "गोबी की मरुभूमि को सत्रह दिन में बड़ी कठिनता से पारकर हम शेनशन प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) में पहुंचे। इस देश का राजा बौद्ध है। यहां अनुमान ४००० से अधिक श्रमण (बौद्ध साधु) रहते हैं, जो सब हीनयान[2] संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां के लोग, क्या गृहस्थी क्या श्रमण, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं, अंतर इतना ही है कि गृहस्थी सामान्य रूप से और श्रमण विशेष रूप से। यहां से पश्चिम के सब देशों में भी ऐसा ही पाया गया, केवल लोगों की भाषा में अंतर है, तो भी सब श्रमण भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं[3]"। यहां से पश्चिम में यात्रा करता हुआ वह खोतान में पहुंचा जहां के

---

(१) *संवत्सरे १० १(=११) मसे ४ १(=५) दिवसे ४ ४(=८) तं कलंमि°* (लेखसंख्या ८)

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे ४ १(=५) दिवसे ४ ४(=८) तं कलंमि° (लेखसंख्या ६०)

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे १ दिवसे ४ ३(=७) तं कालंमि कल्यन-धम° (लेखसंख्या १२३)।

खरोष्ठी लिपि के अंकों के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १२८-२९; और लिपिपत्र ७९ वां, खंड तीसरा।

(२) बौद्धों में तीन संप्रदाय 'हीनयान', 'महायान' और 'मध्यमयान' थे जिनमें से पहले दो के ही अनुयायी अधिक थे तीसरे के बहुत कम।

(३) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया एंड सीलोन'; पृ० १२-१४।

विषय में उसने लिखा है कि "यह देश रम्य और समृद्धिशाली है। यहां की जनसंख्या वहुत वड़ी और संपन्न है। सव लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं और एकत्र होकर धार्मिक संगीत का आनंद लूटते हैं। यहां कई अयुत (दस हज़ार) श्रमण रहते जिनमें से अधिक महायान संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां का प्रत्येक कुटुंब अपने घर के द्वार के सामने एक एक स्तूप वनवाता है, जिनमें से छोटे से छोटा स्तूप वीस हाथ से कम ऊंचा न होगा। चारों ओर से आनेवाले श्रमणों के लिये लोग संघारामों (मठों) में कमरे वनाते हैं जहां उन (श्रमणों) की आवश्यकताएं पूरी की जाती हैं। यहां के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को गोमती नामक विहार (संघाराम) में, जहां ३००० श्रमण रहते थे, वड़े सत्कार के साथ ठहराया था"। फाहियान अपने कुछ साथियों सहित रथयात्रा का उत्सव देखने के लिये यहां तीन मास ठहर गया। उसने वहां की रथयात्रा का जो वर्णन किया है वह वहुत अंश में जगदीश (पुरी) की वर्तमान रथयात्रा से मिलता जुलता है[1]। इसी तरह हुएन्त्संग ने अपनी भारत की यात्रा करते हुए भारत में प्रवेश करने के पूर्व और लौटते समय मध्य एशिया के देशों के धर्म और सभ्यता आदि का जो वर्णन किया है उससे भी वहां भारतीय सभ्यता का साम्राज्य होना पाया जाता है।

अव हम मध्य एशिया से शक लोग इस देश में आए उस समय उनके धर्मसंबंधी विचारों एवं उनके साथ यहांवालों के वर्त्ताव का कुछ विवेचन करते हैं—

विजयी शक अपना राज्य वढ़ाते हुए शकस्तान[2] (सीस्तान) तक पहुंच गए। फिर वि० सं० की पहली शताब्दी के आसपास उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान और हिंदुस्तान में प्रवेश किया। इस देश में उनका एक राज्य पंजाव में, दूसरा मथुरा के आसपास के प्रदेश पर, और तीसरा राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और महाराष्ट्र पर रहा। इन तीन राज्यों में से पहले दो तो शीघ्र ही अस्त हो गए, परंतु तीसरा राज्य समय की प्रगति के साथ घटता वढ़ता लगभग तीन सौ वर्ष तक किसी प्रकार बना रहा जिसका अंत गुप्त वंश के प्रतापी राजा चंद्रगुप्त द्वितीय ने किया। इन शकों के समय के शिलालेख

(१) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया ऐंड सीलोन'; पृ० १६-१९।

(२) अफ़ग़ानिस्तान की दक्षिण-पश्चिमी सीमा से मिला हुआ ईरान का एक अंश।

एवं सिक्कों पर के चिह्नों आदि से पाया जाता है कि उनमें से कोई बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, तो कोई वैदिक धर्म को मानते थे। उक्त तीसरे शक राज्य के राजाओं (महाक्षत्रपों) के सिक्कों में एक ओर सूर्य-चंद्र के बीच पर्वत (मेरु) का चिह्न और उसके नीचे नदी (गंगा) का चिह्न है[१]। आजकल जैसा ब्राह्मण धर्म और जैन धर्मवालों के बीच बर्ताव है वैसा ही जनता में उस समय वैदिक और बौद्ध धर्मवालों के बीच था। जैसे आजकल ओसवाल तथा अग्रवाल आदि महाजनों में कई कुटुंब वैदिक धर्म के एवं कई जैन धर्म के अनुयायी हैं, कहीं कहीं तो पति वैष्णव है तो स्त्री जैन है, ऐसा ही प्राचीन समय में भी व्यवहार होता था। पश्चिमी क्षत्रप राजा नहपान का दामाद उषवदात (ऋषभदत्त), जो शक दीनीक का पुत्र था, वेदधर्म को माननेवाला था[२], तो उसकी स्त्री दक्षमित्रा बौद्ध मत की पोषक थी[३]। क्षत्रप राजा रुद्रदामा को यहां की कई राजकन्याओं ने अपनी प्राचीन रीति के अनुसार स्वयंवर में वरमालाएं पहनाई थीं[४]। उसी रुद्रदामा की पुत्री का विवाह पुराण-प्रसिद्ध एतद्देशीय आंध्रवंशी राजा वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी के साथ हुआ था[५] ऐसा प्राचीन शिलालेखों से स्पष्ट है। इन सब बातों का निष्कर्ष यही है कि उस समय यहांवाले बाहर से आए हुए इन शकों को असभ्य या जंगली नहीं, किंतु अपने जैसे ही सभ्य और आर्य जाति की संतति मानते और उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ते थे। यहां के ब्राह्मण आदि लोग धर्म-संबंधी बातों में आज के जैसे संकीर्ण विचार के न थे और अटक से आगे बढ़ने पर अपना धर्म नष्ट होना नहीं मानते थे[६]। अनेक राजाओं ने भारत से उत्तरी देशों के अतिरिक्त कई अन्य देशों पर अपने

(१) प्रोफेसर इ. जे. राप्सन् संपादित आंध्र और पश्चिमी क्षत्रपों आदि के सिक्कों की पुस्तक; प्लेट १०–१७।

(२) नासिक के पास की पांडव गुफा का लेख (ए. इं; जि. ८, पृ. ७८, लेखसंख्या १०)

(३) वही; पृ. ८१, ८५; लेखसंख्या ११, १२।

(४) *स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेंद्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।* (ए. इं; जि. ८, पृ० ४४)

(५) ए. इं; जि. १० का परिशिष्ट; पृ० १०२; लेखसंख्या ९९४। स्मि; अ. हि. इं; पृ० २१७।

(६) जब से अफ़गानिस्तान पर मुसलमानों का अधिकार हुआ और वहां के लोग मुसलमान बनाए गए तब से भारतवासियों का अटक से परे जाना रुक गया था, परंतु

राज्य स्थिर किये थे और वहां पर भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था। सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में भी उनके राज्य थे। वहां अनेक हिन्दू मंदिर थे, जो अब तक विद्यमान हैं, और उनके संस्कृत शिलालेख भी कई ज़िल्दों में छप चुके हैं। बोर्नियो के टापू में राजा मूलवर्मा के यज्ञ आदि के लेखवाले कई स्तंभ खड़े हुए हैं[१]। अफ़ग़ानिस्तान पर मुसलमानों के पहले हिन्दू राजाओं का ही राज्य था; ईरान प्राचीन आर्य सभ्यता और अग्नि की उपासना के लिये उधर का केंद्र था। ईरान तक ही नहीं, किंतु वहां से पश्चिम के एशिया माइनर से मिले हुए कीलाक्षर (Cuneiform) लिपि के शिलालेखों से पाया जाता है कि उक्त प्रदेश के मलेटिआ (Malatia) विभाग पर ई० स० पूर्व १५०० और १४०० में राज्य करनेवाले मिटन्नि (Mitanni) के राजा आर्य नाम धारण करते थे और ऋग्वेद के इंद्र, वरुण, मित्र और नासत्य देवताओं के उपासक भी थे[२]।

ऐसी दशा में यदि राजपूतों के प्रचलित रीति रिवाज शकों के रीति रिवाजों से मिलते हुए हों तो उसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही क्षत्रिय जातियां थीं। सूर्य की उपासना वैदिक काल से आर्य लोगों में प्रचलित थी और जहां जहां आर्य लोग पहुंचे वहां उसका प्रचार हुआ। शकों की पुरानी कथाओं का यहां की प्राचीन कथाओं से मिलना भी यही बतलाता है कि वे कथाएं यहां से ही मध्य एशिया आदि देशों में आर्यों के साथ पहुंची थीं। सती होने की प्रथा भी शकों के इस देश में आने से पूर्व की है। पांडु की दूसरी स्त्री माद्री सती हुई थी। अश्वमेध यज्ञ आर्यों ने शकों से सीखा, यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि वैदिक काल ही से भारतीय राजा अश्वमेध करते आए हैं। युधिष्ठिर आदि अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अश्वमेध किये थे। शस्त्र और घोड़ों की पूजा प्राचीन काल से लगाकर अब तक बराबर होती है। एक दूसरे से बहुत दूर बसने के कारण उनकी भाषा, पोशाक, रहन-

राजपूताने के कई राजा आदि अटक से परे अफ़ग़ानिस्तान, बलख़ आदि प्रदेशों में गये और वहां विजय प्राप्त कर मुग़लों का राज्य सुस्थिर किया। अब तो कई ब्राह्मण, वैश्य, खत्री आदि काबुल में ही नहीं, किंतु दूर दूर के प्रदेशों में जाते हैं और वहां व्यापार करते हैं।

(१) डॉ. वोजेल; 'यूप इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ़ किंग मूलवर्मन् फ्रॉम कोएटी (ईस्ट बोर्नियो) पृ. १६६-२३२।

(२) प्रोफ़ेसर इ. जे. राप्सन; 'एनश्यंट इंडिया'; पृ. ७६-८०।

सहन में समयानुसार अंतर पड़ना स्वाभाविक है। मध्य एशिया तक के दूरवर्ती देश की बात को जाने दीजिये कश्मीर और पंजाब के वर्तमान हिंदुओं की इन्हीं बातों का बंगाल, राजपूताना, गुजरात और महाराष्ट्र के हिन्दुओं से मिलान करने पर भी परस्पर बड़ा अंतर पाया जाता है।

अब हम कुशन (यूची) वंशियों के विषय का कुछ विवेचन करते हैं—

ये लोग मध्य एशिया के उस प्रदेश से भारतवर्ष में आए जिसको तुर्किस्तान कहते हैं। इनके सिक्कों में से अधिकांश पर एक तरफ़ राजा की खड़ी हुई मूर्त्ति और दूसरी ओर बैल (नंदी) के पास खड़े हुए शिव की मूर्त्ति बनी है[1]। बाकी के सिक्कों पर सूर्य, बुद्ध तथा अन्य देवी देवताओं की मूर्त्तियां हैं। अनेक सिक्कों पर राजा अग्नि में आहुति देता हुआ खड़ा है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि तुर्किस्तान में आर्य लोग निवास करते थे और वहां आर्य सभ्यता फैली हुई थी। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटनिका' में लिखा है कि 'जब से इतिहास पता देता है पूर्वी (मध्य एशिया के) तुर्किस्तान में आर्य जाति निवास करती थी[2]'। ऊपर वर्णन किए हुए उनके सिक्कों से भी यही पाया जाता है। उक्त सिक्कों में राजा के सिर पर या तो लंबी टोपी या मुकुट, बदन पर कोट और पैरों में लंबे बूट दीख पड़ते हैं, जो उक्त शीतप्रधान देश के लिये आवश्यक ही हैं। हिन्दुस्तान में आने के पीछे भी वे वैदिक और बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे थे।

प्राचीन काल से भारत के क्षत्रिय राजाओं में देवकुल बनाने की प्रथा थी, जहां राजाओं की मृत्यु के पीछे उनकी मूर्त्तियां रक्खी जाती थीं। प्रसिद्ध कवि भास ने, जो कालिदास से भी पूर्व हुआ था, अपने 'प्रतिमा नाटक' में अयोध्या के निकट बने हुए रघुवंशियों के देवकुल का वर्णन किया है, जिसमें राजा दिलीप, रघु, अज और दशरथ की मूर्त्तियां रक्खी हुई थीं[3]। पाटलीपुत्र (पटना) के निकट पुराणप्रसिद्ध शिशुनागवंशी राजाओं का देवकुल था[4],

(१) गार्डनर; 'दी कॉइन्स आफ़ दी ग्रीक ऐंड सीथिक् किंग्ज़ आफ़ बाक्ट्रिया ऐंड इंडिया'; प्लेट २५, संख्या ६–८; १२–१४।

(२) जि० २३, पृ० ६३६।

(३) ना. प्र. प; भाग ४, पृ० २६७–७०।

(४) वही; भा. १, पृ० १०१।

जहां से उस नगर के बसानेवाले महाराज उदयन और सम्राट् नंदिवर्द्धन की मूर्त्तियां मिली हैं। कुशनवंशी राजाओं का देवकुल मथुरा से ६ मील माट गांव में था। वहां से एक शिलालेख १४ टुकड़ों में मिला जिसका कुछ अंश नष्ट भी हो गया है। उसका आशय यह है कि "सत्यधर्मस्थित महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क के दादा का यहां देवकुल था, जिसको टूटा हुआ देखकर महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क की आयु तथा बलवृद्धि की कामना से महादंडनायक........के पुत्र ब[कन] पति......ने उसकी मरम्मत करवाई"। इससे स्पष्ट है कि कुशनवंशियों में भी रघु और शिशुनागवंशी राजाओं के समान देवकुल बनाने की प्रथा थी। इन बातों को देखने से इनका आर्य होना निश्चित है। इन राजाओं के राजत्वकाल के कई बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों के शिलालेख मिले हैं, जिनमें इनके संवत्, नाम तथा ख़िताब मिलते हैं, परंतु अबतक इनके खुदवाए हुए ऐसे लेख नहीं मिले जिनसे इनकी वंशपरंपरा, विस्तृत वृत्तांत या इनके शादी व्यवहार आदि का पता चलता हो। ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत के प्राचीन क्षत्रिय राजवंशियों के साथ इनके विवाह आदि संबंध कैसे थे, परंतु अनुमान होता है कि इनके आर्य होने और शिव, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के उपासक होने से क्षत्रियों का इनके साथ संबंध रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

अब हम हूणों के संबंध का थोड़ा सा परिचय देते हैं—

हूण भी मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्य जाति थी, जिसने बल प्राप्त कर एशिया और यूरोप के कई देश विजय किये और उनपर अपना अधिकार जमा लिया था। चीनी ग्रंथकार उनको 'यूनयून', 'येथिलेटो' और 'येथ'; यूनानी इतिहास-लेखक 'उन्नोई' (हूण), 'लुकोई उन्नोई' (श्वेत हूण), 'एफ़थेलाइट' या 'नेफ़थेलाइट'; और संस्कृत विद्वान् 'हूण', 'हून', 'श्वेतहूण' या 'सितहूण' कहते थे। महाभारत तथा पुराण आदि ग्रंथों में हूणों का उल्लेख मिलता है उसका संबंध उनके मध्य एशिया में निवास करने के समय से है, क्योंकि भारत में वि० सं० की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनका आना पाया नहीं जाता। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था और हूणों ने भी उसे स्वीकार किया हो जिससे ब्राह्मण लेखकों ने धर्मद्वेष के कारण मध्य एशिया की अन्य-

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १६२४, पृ० ४०२–३।

जातियों के समान उनकी गणना भी म्लेच्छों में की। वि० सं० ४७७ (ई० स० ४२०) के आसपास मध्य एशिया की ऑक्सस (वंक्षु) नदी के निकट रहनेवाले हूणों ने ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं से लड़ना प्रारंभ किया और यज़्दज़र्द दूसरे (ई० स० ४३८-४५७=वि० सं० ४९५-५१४) और फ़ीरोज़ (ई० स० ४५७-४८४=वि० सं० ५१४-६४१) को परास्त कर उनका ख़ज़ाना लूटा और उनका कुछ देश भी अपने अधीन कर लिया। फिर वे हिन्दुस्तान की ओर मुड़े। गांधार देश विजय कर शाकल नगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और क्रमशः आगे बढ़ते गए। चीनी यात्री सुंगयुन् ई० स० ५२० (वि० सं० ५७७) में गांधार में आया वह लिखता है कि "यहां का राजा ये-थे-ले-टो' (हूण) है जो बड़ा लड़नेवाला है और उसकी सेना में ७०० हाथी रहते हैं। हूणों ने गांधार में लेलिह को अपना राजा बनाया था। वर्तमान राजा (मिहिरकुल) उससे तीसरा है[1]"। गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७=ई०स० ५१०) के आसपास हूण राजा तोरमाण ने गुप्तवंशी राजा भानुगुप्त से मालवा, राजपूताना आदि देश छीन लिये। तोरमाण के पीछे उसका पुत्र मिहिरकुल बड़ा प्रतापी राजा हुआ जिसके चांदी के सिक्कों पर 'जयतु वृषध्वज' या 'जयतु वृष' लेख के अतिरिक्त त्रिशूल, वृष (नंदी) और छत्र के चिह्न हैं, जो उसका शैव होना प्रकट करते हैं।

मिहिरकुल के समय मालवे में यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) नामक एक प्रतापी राजा हुआ जिसके विशाल जयस्तंभ मंदसोर से तीन मील दूर सौंदनी गांव के पास पड़े हुए हैं। उनपर के लेखों से पाया जाता है कि 'यशोधर्मन् ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लगाकर महेंद्राचल तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के देश विजय किये थे। अपने इष्टदेव शिव के सिवा किसी अन्य के आगे मस्तक न झुकानेवाले राजा मिहिरकुल ने उसके चरणों की सेवा की थी[2]'। इससे प्रत्यक्ष है कि मिहिरकुल शिव का अनन्य भक्त था। यशोधर्मन् से

(१) कनिंगहाम; 'कॉइन्स ऑफ़ दी लेटर इंडोसीथियन्स'; पृ० ७९ और आगे।

(२) *स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गं*
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्गशब्दाभिमानम्।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणतिभुजबलावर्ज्जनक्लिष्टमूर्ध्ना
चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्॥ फ्ली; गु. इ; पृ. १४६-४७।

परास्त होने पर मिहिरकुल को राजपूताना, मालवा आदि देश छोड़कर, कश्मीर की तरफ़ शरण लेना पड़ा था। हूणों में तोरमाण ही मालवा, राजपूताना आदि का प्रथम राजा हुआ और उसके पुत्र मिहिरकुल के समय अर्थात् लगभग ४० या ५० वर्ष में ही हूणराज्य यहां से अस्त हो गया था। यशोधर्मन् के जो लेख अब तक मिले हैं उनसे यह नहीं पाया जाता कि वह किस वंश का था, परंतु इतना तो स्पष्ट है कि वह हूणों से भिन्न किसी एतद्देशीय राजवंश का वंशधर था।

संभव है कि मिहिरकुल के पराजित होने के पीछे भी इधर के कुछ प्रदेश हूणों के अधीन रहे हों और उनके स्वामियों ने यहां के राजाओं की अधीनता स्वीकार करली हो, क्योंकि यहां के कितने एक राजवंशियों का हूणों के साथ विवाह आदि संबंध होना पाया जाता है, जैसे कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अल्लट (वि० सं० १०१०=ई० स० ९५३) की राणी हरियदेवी हूण वंश की थी[1]। ऐसी ही चेदी के कलचुरी (हैहय) वंशी राजा गांगेयदेव के पुत्र कर्ण (वि० सं० १०९९=ई० स० १०४२) का विवाह हूण कुमारी आवल्लदेवी के साथ हुआ था[2]। 'कुमारपालप्रबंध' एवं भाटों की पुस्तकों में हूणों की गणना ३६ राजवंशों में की गई है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पूर्व मध्य एशिया में आर्य जातियों का निवास था और हूण भी वहीं से आए थे। मिहिरकुल के पिता तोरमाण के लेख में, जो लाहोर के अजायबघर में रक्खा हुआ है, उसको 'महाराजाधिराज, षाही, जऊव्ल' कहा है[3]। जऊव्ल उसके कुल का सूचक होना चाहिये। 'महाराजाधिराज' आर्य भाषा का और 'षाही' मध्य एशिया की भाषा का खिताब है। कुशनवंशियों के कितने एक लेखों में ऊपर

---

(१) *अभूद्यस्याभवत्तस्यां तनयः श्रीमदल्लटः ॥*
स भूपतिः [प्रिया] यस्य हूणक्षोणीशवंशजा ।
हरियदेवी यशो यस्या भाति हर्षपुराह्वयं ॥ इं. ऐं; जि. ३९, पृ. १९१।

(२) *पुत्रोऽस्य खड्गदलि[तारि]करीन्द्रकुम्भ-*
मुक्ताफलैः स्म ककुभोर्चति कर्णदेवः ।.....॥
अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणा-
न्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्यां । ए. इं; जि. २, पृ. ४।

(३) *.....राजा.....राजमहाराजतोरमाणषाहिजऊव्ल:.........* ए. इं; जि. १, पृ. २३९।

बतलाए हुए भारतीय खिताबों के अतिरिक्त उनका 'षाही' खिताब भी होना पाया जाता है[1]। इसपर कई विद्वानों का यह अनुमान करना निर्मूल नहीं है कि हूण कुशनवंशियों की शाखा हों। ऐसे ही मिहिरकुल के अनन्य शिवभक्त और बौद्धों के कट्टर विरोधी होने से, जैसा कि हम आगे हूणों के वृत्तांत में बतलावेंगे, यहां के क्षत्रियों के साथ उक्त वंश के राजाओं का शादी व्यवहार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परंतु यह माना नहीं जा सकता कि राजपूत हूणों से निकले हैं।

अब मि० स्मिथ के इस कथन की जांच करना आवश्यक है कि 'हूणों का बड़ा विभाग गुर्जर या गूजर था'। गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी के त्रैकूटक (कलचुरि) संवत् ४९० (वि० सं० ७९५-९६=ई० स० ७३८-३९) के दानपत्र से पाया जाता है कि 'चावोटक (चावड़े) और गुर्जर दोनों भिन्न भिन्न वंश थे'। जोधपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लगाकर भड़ौच तक सारा देश एक समय गुर्जरों के अधीन होने से 'गुर्जरत्रा' या गुजरात कहलाया। उक्त देश पर गुर्जरों का अधिकार कब हुआ यह अब तक अनिश्चित है तथापि इतना तो निश्चित है कि शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल में चाप (चावड़ा) वंश का राजा व्याघ्रमुख राज्य करता था[2]। उससे पूर्व भी वहां उक्त वंश के राजाओं का राज्य रहा हो। उक्त संवत् से बहुत पूर्व गुर्जरों का राज्य वहां से अस्त हो चुका था और उनकी स्मृति का सूचक देश का नाम गुर्जरत्रा (गुजरात) मात्र अवशेष रह गया था। अतएव गुर्जरों का वि० सं० ४०० से भी पूर्व या उसके आसपास भीनमाल पर राज्य रहना संभव हो सकता है। उस समय से अनुमान १६० वर्ष पीछे वि० सं० ५६७ (ई० स० ५१०) के लगभग हूणों का अधिकार राजपूताने पर हुआ; इस अवस्था में गुर्जरों को हूण मानना केवल कपोलकल्पना है। ऐसे ही कन्नौज के प्रतापी प्रतिहारों (पड़िहारों)

(१) ना. प्र. प; भा. १, पृ. २१०-११।

(२) *श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।*
पंचाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पंचभिरतीतैः॥ ७॥
ब्राह्मः स्फुटसिद्धांतः सज्जनगणितगोलवित्प्रीत्यै।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन॥ ८॥ ('ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त')

का भी गुर्जरों से कोई संबंध नहीं था यह हम आगे प्रतिहारों के वर्णन में बतलावेंगे।

क्या राजपूतों का उदय मि० विन्सेंट स्मिथ के लेखानुसार ई० स० की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक हुआ? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि राजपूताने में ही गुहिल, चावड़े, यादव और मौर्य आदि राजवंश ई० स० की सातवीं शताब्दी में तथा उससे पूर्व भी विद्यमान थे।

गुहिलवंशी राजा शीलादित्य (शील) का सामोली गांव (मेवाड़ के भोमट ज़िले में) से मिला हुआ वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का शिलालेख[1] राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है। शीलादित्य से पूर्व के चार राजाओं के नाम भी प्राचीन शिलालेखों में मिलते हैं, जिससे उक्त वंश के मूलपुरुष गुहिल का समय वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास स्थिर होता है।

चावड़ावंशी राजा व्याघ्रमुख शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में भीनमाल में राज्य करता था ऐसा 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' से ऊपर बतलाया जा चुका है।

यादव प्राचीन काल से मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करते रहे। कामां (कामवन, भरतपुर राज्य में) की 'चौरासी खंबा' नाम की मसजिद में, जो हिन्दू मंदिरों को गिराकर उनके पत्थरों से बनाई गई है, एक स्तंभ पर शूरसेनवंशी यादव राजा वत्सदामा[2] का खंडित शिलालेख विद्यमान है, जिसकी लिपि झालरापाटनवाले राजा दुर्गगण के वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८९) के शिलालेख की लिपि से मिलती हुई है। यदि कामां का लेख वि० सं० की आठवीं शताब्दी के अंत का भी माना जाय तो भी उसमें लिखे हुए वत्सदामा के पूर्व के सातवें राजा फक्क का समय—प्रत्येक राजा के राज्यसमय की औसत वीस वर्ष मानने से—वि० सं० ६८० (ई० स० ६२३) के आसपास स्थिर होता है।

मौर्य या मोरी वंश के राजा मान का एक शिलालेख वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) का[3] चित्तोड़ के क़िले से ३ मील दूर पूठोली गांव के पास मानसरोवर

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २२२-२४।

(२) इं. ऐं; जि० १०, पृ० ३४-३६।

(३) टॉ; रा; जि. २, पृ० ९१९-२२।

नामक तालाव पर मिला है। उसमें राजा मान के प्रपितामह माहेश्वर से मौर्यों की वंशावली दी है; अतएव माहेश्वर का समय वि० सं० की सातवीं शताब्दी के अंत के आसपास आता है। इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि मि० विन्सेंट स्मिथ का उपर्युक्त कथन भी भ्रमपूर्ण ही है।

कुछ विद्वान् वर्तमान राजपूत वंशों को आर्य क्षत्रिय न मानने में यह भी प्रमाण उपस्थित करते हैं कि पुराणों में लिखा है कि 'शिशुनाग वंश के अंतिम राजा महानंदी के पीछे शूद्रप्राय और अधर्मी राजा होंगे'। इस विषय में हम अपना मत प्रकाशित करने के पूर्व इस प्रश्न को पाठकों के ध्यान में सम्यक् प्रकार से जमाने के लिये इतना कहना उचित समझते हैं कि वास्तव में पुराणों में इस विषय में क्या लिखा है, और काल पाकर उस लेख ने कैसा रूप धारण कर लिया है। मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड, भागवत और विष्णु पुराण में लिखा है कि "महानंदी का पुत्र महापद्म (नंद) शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होकर अपने ८८ वर्ष के शासन-काल में क्षत्रियों को नष्ट करेगा। उस महापद्म के सुमाल्य (सुकल्प) आदि आठ पुत्र १२ वर्ष राज्य करेंगे, तत्पश्चात् कौटिल्य (विष्णुगुप्त, चाणक्य) ब्राह्मण इन (नव नंदों) को नष्ट करेगा और मौर्य (चंद्रगुप्त) राजा होगा[1]।

(१) *महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः ।*
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रांतको नृपः ॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः ।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥
अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिव्यां च भविष्यति ।
सर्वक्षत्रमथोद्धृत्य भाविनार्थेन चोदितः ॥
सुकल्पादिसुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥
उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः ।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय २७२, श्लो० १७–२२। 'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो० ३२६–३१। 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १३९–४३।

महानंदिसुतः शूद्रागर्भोद्भवोतिलुब्धो महापद्मो नंदः परशुराम इवापरोखिल-

पाश्चात्य पुराने लेखकों में से केवल एक प्लुटार्क नामी यूनानी लेखक ने, जो ई० स० की दूसरी शताब्दी में हुआ, पुरानी जनश्रुति के आधार पर ऐसा लिखा है कि "मगध के राजा (महानंदी) की एक राणी का प्रेम किसी नाई के साथ हो गया। इन दोनों ने राजा को मार डाला और नाई उसके राज्य का स्वामी हो गया। उसीका पुत्र (महापद्म) सिकंदर के समय वहां का राजा था[1]"। महापद्म या उसके पुत्रों को चंद्रगुप्त ने मारकर मगध का राज्य छीन लिया।

बहुत काल पीछे वि० सं० की आठवीं शताब्दी के आसपास विशाखदत्त पंडित ने अपने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में चाणक्य (कौटिल्य) और चंद्रगुप्त के संवाद में चाणक्य का चंद्रगुप्त को 'वृषल' शब्द से संबोधन करना बतलाया है। उसी मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुंढिराज ने, शक संवत् १६३५ (वि० सं० १७७०=ई० स० १७१३) में शायद विशाखदत्त के 'वृषल' शब्द के आधार पर या किसी प्रचलित दंतकथा के अनुसार, अपनी टीका में यह लिख दिया कि "नंद वंश के अंतिम राजा सर्वार्थसिद्धि (नंद) की वृषल (शूद्र) जाति की मुरा नामक राणी से चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ, जो अपनी माता के नाम से 'मौर्य' कहलाया[2]"। इन्हीं ऊटपटांग कथाओं को ध्यान में रखकर आजकल

क्षत्रांतकारी भविता। ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यंति। स चैकच्छत्रामनुल्लंघितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति। तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथिवीं भोक्ष्यंति महापद्मस्तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यंति नवैव तान्नंदान्कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यंति कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येभिषेक्ष्यति॥

'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २४। ऐसे ही 'श्रीमद्भागवत'; स्कंध १२, अध्याय १, श्लो० ८–१३।

(१) मैक् क्रिंडल'; 'इन्वेज़न ऑफ् इंडिया बाई अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २८२।

(२) कल्यादौ नन्दनामानः केचिदासन्महीभुजः॥ २३॥
सर्वार्थसिद्धिनामासीत्तेषु विख्यातपौरुषः। ····॥ २४॥
राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृषलात्मजा।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसंपदा॥ २५॥
मुराप्रसूतं तनयं मौर्याख्यं गुणवत्तरं। ····॥ ३१॥

मुद्राराक्षस की टीका का उप ;

के यूरोपियन तथा अन्य विद्वानों ने यह मान लिया है कि वर्तमान राजपूत आर्य क्षत्रिय नहीं, और चंद्रगुप्त मगध के नंदवंशियों का वंशधर था।

पुराण, बृहत्कथा, कथासरित्सागर और मुद्राराक्षस में तो कहीं इस बात का उल्लेख भी नहीं है कि चंद्रगुप्त नंद वंश में उत्पन्न हुआ था या उसकी माता का नाम मुरा था। उनमें तो केवल उसको मौर्य (मौर्यवंशी) माना है।

यूनानी लेखक प्लुटार्क का ऊपर लिखा हुआ कथन चंद्रगुप्त से अनुमान ४७५ वर्ष पीछे का है और उसमें भी सिकंदर के समय मगध पर राज्य करनेवाले राजा (महापद्म, नंद) को नाई का पुत्र लिखा है। उसने भी चंद्रगुप्त को नंद का पुत्र नहीं माना। मुद्राराक्षस में चंद्रगुप्त को संबोधन करने में कौटिल्य के मुख से 'वृषल' (शूद्र) शब्द का प्रयोग कराना उक्त नाटक के रचयिता की धृष्टता ही है, क्योंकि जब चंद्रगुप्त जैसा सम्राट् कौटिल्य को आदर सहित 'आर्य' शब्द से संबोधन कर उसके चरणों के आगे सिर झुकाता है, तो क्या यह संभव है कि कौटिल्य उसका इस प्रकार अनादर करे?

चंद्रगुप्त का नंद वंश के साथ न तो कोई संबंध ही था, और न वह मुरा नाम की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ था। वह तो हिमालय के निकट के एक प्रदेश का, जो मोर पक्षियों की अधिकता के कारण मौर्यराज्य कहलाता था, उच्चकुल का क्षत्रियकुमार था जैसा कि बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है[1]। मौर्य वंश नंद वंश की अपेक्षा प्राचीन था, क्योंकि ई० स० पूर्व ४७७ (वि० सं० पूर्व ४२०) में जब बुद्धदेव का निर्वाण हुआ तो उनकी अस्थियों का विभाग लेने में अन्य क्षत्रियों के समान पिप्पलीवन के मौर्य क्षत्रियों ने भी दावा किया था[2]। बौद्ध लेखक मौर्यों का उसी (सूर्य) वंश में होना बतलाते हैं जिसमें भगवान् बुद्धदेव का जन्म हुआ था। ऐसे ही जैन लेखक भी उनका सूर्यवंशी क्षत्रिय होना मानते हैं[3]। मौर्य राजा अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत

---

(१) मैक्क्रिंडल; 'इनवेज़न ऑफ़ इंडिया बाई अलेग्ज़ेंडर दी ग्रेट;' पृ० ४०८; और महावंश की टीका।

(२) कर्न; 'मैन्युअल् ऑफ़् इंडियन् बुद्धिज़म्'; पृ० ४६ (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ़् इंडो आर्यन् रिसर्च में)

(३) 'कुमारपालप्रबंध' में चित्तोड़ के मौर्यवंशी राजा चित्रांगद को रघुवंशी कहा है।
रानमुनिराह पुरा रघोर्वंशे चित्रांगदो राजा अग्निवेः फलैः....।

बढ़ गया जिससे ब्राह्मणों का मत निर्बल होता जाता था, अतएव धर्मद्वेष के कारण महापद्म के शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होने और मौर्यों के बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लेने से ब्राह्मणों ने ऐसा लिख दिया हो कि नंद वंश से राजा शूद्रप्राय और अधर्मी होंगे। पुराणों के इस कथन में उतनी ही सत्यता है जितनी कि परशुराम के २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की कथा में है। जैसे ख़ास परशुराम के समय और उनके पीछे भी क्षत्रिय राजा विद्यमान थे वैसे ही नंद वंश के समय तथा उसके पीछे भी अनेक क्षत्रिय वंशों का विद्यमान होना सिद्ध है। यह तो प्रत्यक्ष है कि न तो सारे पुराण एक ही समय में लिखे गए और न उनमें दी हुई वंशावलियां राजवंशों का क्रमवार होना सूचित करती हैं, किंतु वे भिन्न भिन्न प्रदेशों पर राज्य करनेवाले कई समकालीन वंशों की सूचक हैं। उनमें वि० सं० की पांचवीं शताब्दी के आसपास तक होनेवाले राजवंशों का उल्लेख मिलता है। नंद और मौर्य वंशों के पीछे भी क्षत्रिय वंश विद्यमान होने के बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से थोड़े से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) अश्वमेध या राजसूय यज्ञ सार्वभौम क्षत्रिय राजा ही करते थे[1]। यह प्रथा वैदिक काल से चली आती थी। अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों का होना अशोक ने बंद किया, परंतु मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ को मारकर उसका सेनापति पुष्यमित्र उसके साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म के अनुसार दो अश्वमेध यज्ञ किये[2]। पुष्यमित्र के यज्ञ में महाभाष्य के कर्ता पतंजलि भी विद्यमान थे[3]। यदि वह शूद्र होता तो संभव नहीं कि पतंजलि जैसे विद्वान् ब्राह्मण उसके यज्ञ में संमिलित होते। पुष्यमित्र के पीछे आंध्र[4] (सातवाहन), वाकाटक[5] आदि कई वंश के राजाओं ने अश्वमेध आदि

---

(१) *क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि पार्थिव ।*
दद्याद्राजा न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥....॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्म्मेण जयताम्वर ।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥

'पद्मपुराण'; स्वर्गखंड, अध्याय २८; 'शब्दकल्पद्रुम'; कांड २, पृ० २२७।

(२) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० ६६–१०४; २०२।

(३) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।

(४) खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) का छपा हिंदी 'टॉड राजस्थान'; खंड १, पृ० ५१४।

(५) वही; पृ० ५३१।

यज्ञ किये ऐसा शिलालेखादि से सिद्ध है।

(२) कटक (उड़ीसे में) के पास उदयगिरि की हाथी गुफा में खुदे हुए वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के राजा खारवेल के लेख में कुसंव जाति के क्षत्रियों का उल्लेख है[१]।

(३) शक उषवदात के नासिक के पास की पांडव गुफा के लेख में, जो वि० सं० की दूसरी शताब्दी का है, लिखा है कि 'मैं (उषवदात) भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्रों को मुक्त करने को वर्षा ऋतु में गया और मालव मेरे पहुंचने का शोर सुनते ही भागे, परंतु वे सब उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बंधुए बनाए गए। वहां से मैंने पुष्कर में जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया'[२]।

(४) मथुरा के आसपास के प्रदेश पर महाभारत के युद्ध से पूर्व भी यदुवंशी राज्य करते थे, जो समय के कई हेर फेर सहते हुए अब तक विद्यमान हैं। शूरसेनवंशी यादवों के कई प्राचीन शिलालेख उसी प्रदेश से मिल चुके हैं[३]।

(५) शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) के आसपास के गिरनार पर्वत के निकट एक चट्टान पर खुदे हुए, क्षत्रपवंशी राजा रुद्रदामा के लेख में दर्ज है कि "उसने क्षत्रियों में 'वीर' पदवी धारण करनेवाले यौधेयों को नष्ट किया था"। उसमें यौधेयों को स्पष्टरीत्या क्षत्रिय लिखा है[४]। इस विषय का विशेष वर्णन यौधेयों के हाल में लिखा जायगा।

---

(१) *कुसंवानं खतियं च सहायवता पतं मसिकनगरं (कुसंवानां क्षत्रियाणां च सहायवता प्राप्तं मसिकनगरं)* भगवानलाल इंद्रजी; 'दी हाथी गुंफा एंड थ्री अदर इन्स्क्रिप्शन्स'; पृ० २४ और २६।

(२) *भटारका अंञातिया च गतोस्मि वर्षारतुं मालयेहि रुधं उमतभाद्रं मोचयितुं ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता ततोस्मि गतो पोक्षरानि तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्त्रानि दतानि ग्रामो च* (ए. इं; जि. ८, पृ० ७८)

(३) देखो ऊपर पृ० ४७।

(४) *सर्व्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन*
(ए. इं; जि. ८, पृ० ४४ और ४७)

(६) जग्गयपेट के शिलालेख में जो वि० सं० की तीसरी शताब्दी के आसपास का है, माढरीपुत्र राजा श्रीवीरपुरुषदत्त को इक्ष्वाकुवंशी[1] बतलाया है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि नंद और मौर्य वंश के पीछे भी क्षत्रिय राजवंश विद्यमान थे।

राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की एक दलील यह भी है कि 'राजपूतों में चौहान, सोलंकी, प्रतिहार और परमार ये चार कुल अग्निवंशी हैं और उनके मूल पुरुषों का आबू पर वासिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना बतलाया जाता है। अग्नि से उत्पत्ति मानने का तात्पर्य यही है कि वे क्षत्रिय नहीं थे जिससे उनको अग्नि की साक्षी से संस्कार कर क्षत्रियों में मिला लिया'। इसका उत्तर यह है कि इन चार राजवंशों का अग्निवंशी होना केवल 'पृथ्वीराजरासे' में लिखा है, परंतु उसके कर्ता को राजपूतों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे उसने मनमाने झूठे संवत् और बहुधा अप्रामाणिक घटनाएं उसमें भर दी हैं। ऐसे ही वह पुस्तक वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व की बनी हुई भी नहीं है। जो विद्वान् 'पृथ्वीराजरासे' को सम्राट् पृथ्वीराज के समय का बना हुआ मानते हैं उनमें से किसीने भी उसकी पूरी जांच नहीं की। यदि वह प्राचीन शोध की कसौटी पर कसा जाता तो उसकी वास्तविकता प्रकट हो जाती। जब से कश्मीरी पंडित जयानक का बनाया हुआ 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य', जो पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया था, प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर बूलर को कश्मीर से प्राप्त हुआ, तब से शोधक बुद्धि के विद्वानों की श्रद्धा 'पृथ्वीराजरासे' पर से उठ गई है।

अब यह देखना आवश्यक है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व चौहान आदि राजवंशी अपने को अग्निवंशी मानते थे वा नहीं। वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) से लगाकर वि० सं० १६०० (ई० स० १५४३) तक के चौहानों के बहुत से शिलालेख, दानपत्र तथा ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तक मिले हैं, जिनमें से किसी में उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा। 'पृथ्वीराजविजय' में जगह जगह उनको सूर्यवंशी[2] बतलाया है। पृथ्वीराज से पूर्व अजमेर के चौहानों में

(१) *सिधं । रञे(ञो) माढरिपुतस इखाकुना(णं) सिरिविरपुरिसदतस संवछर २०।* ('भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. ४८; लिपिपत्र १२)

(२) *काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।*

विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) बड़ा विद्वान् और वीर राजा हुआ जिसने अजमेर में एक सरस्वती मंदिर स्थापित किया था। उसमें उसने अपना रचा हुआ 'हरकेलि नाटक' तथा अपने राजकवि सोमेश्वररचित 'ललितविग्रहराज नाटक' को शिलाओं पर खुदवाकर रखवाया था। वहीं से मिली हुई एक बहुत बड़ी शिला पर किसी अज्ञात कवि के बनाए हुए चौहानों के इतिहास के किसी काव्य का प्रारंभिक अंश खुदा है, जिसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी ही लिखा है[1]। वि० सं० १४५० (ई० स० १३९३) के आसपास ग्वालियर के तंवर राजा वीरम के दरबार में प्रतिष्ठा पाए हुए जैन विद्वान् नयचंद्रसूरि ने 'हंमीरमहाकाव्य' नामक चौहानों के इतिहास का ग्रंथ रचा, जिसमें भी चौहानों का सूर्यवंशी होना माना है[2]। अतएव स्पष्ट है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व चौहान अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे।

शक सं० ३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) से लगाकर वि० सं०

कलावपि प्राप्य सचाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं वभूव तत् ॥ २ । ७१ ॥
.... भानोः प्रतापोन्नति ।
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ ७ । ५० ॥
सुतोप्यपरगाङ्गेयो निन्येस्य रविसूनुना ।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥ ८ । ५४ ॥
'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य'।

(१) ....देवो रविः पातु वः ॥ ३३ ॥
तस्मात्समालंव(व)नदंडयोनिरभूज्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे ।
वंशः स दैवोढरसो नृपाणामनुद्गतैनोघुणकीटरंध्रः ॥ ३४ ॥
समुत्थितोर्कादनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागकदंव(ब)शाखः ।
आश्चर्यमंतःप्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति ॥ ३५ ॥
आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते ।
सप्तद्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः ।....॥ ३६ ॥
तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः॥
....॥३७॥

(२) 'हंमीरमहाकाव्य'; सर्ग १।

की १६ वीं शताब्दी तक सोलंकियों के अनेक दानपत्र, शिलालेख तथा कई ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथ मिले, जिनमें कहीं उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा, किंतु उसके विरुद्ध उनका चंद्रवंशी और पांडवों की संतान होना जगह जगह बतलाया है[1]।

वि० सं० ८७२ (ई० स० ८१५) से लगाकर वि० सं० की १४ वीं शताब्दी के पीछे तक प्रतिहारों (पड़िहारों) के जितने शिलालेख, दानपत्रादि मिले उनमें कहीं भी उनका अग्निवंशी होना नहीं माना। वि० सं० ६०० (ई० स० ८४३) के आस पास की ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोजदेव की बड़ी प्रशस्ति में प्रतिहारों को सूर्यवंशी बतलाया है[2]। ऐसे ही वि० सं० की दसवीं शताब्दी के मध्य में होनेवाले प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने अपने नाटकों में अपने शिष्य महेंद्रपाल (निर्भयनरेंद्र) को, जो उक्त भोजदेव का पुत्र था, 'रघुकुलतिलक[3]' कहा है।

इन ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि चौहान, सोलंकी

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के विषय के जो जो प्रमाण उनके शिलालेखों, दानपत्रों और ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तकों में मिले वे सब मैंने 'सोलंकियों के प्राचीन इतिहास' के प्रथम भाग में पृ० ३ से १३ तक एकत्रित किये हैं।

(२) मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ)मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥

तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहतपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं
रामः पौलस्त्यहिन्श्रं(हिंस्रं) क्षतविहितसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः।
श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये
सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥
तद्वन्शे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम्।

'आर्कियालॉजिकल् सर्वे ऑफ् इंडिया'; एन्युअल रिपोर्ट; ई० स० १६०३-४; पृ० २८०।

(३) रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः ('विद्धशालभंजिका'; १।६)

देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।

'बालभारत'; १।११।

तेन (=महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना (बालभारत)।

महीपाल महेन्द्रपाल का पुत्र था।

और प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे, केवल 'पृथ्वीराज-रासा' बनने के पीछे उसीके आधार पर वे अपने को अग्निवंशी कहने लग गये हैं।

अब रहे परमार। मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के समय अर्थात् वि० सं० १०२८ से १०५४ (ई० स० ९७१ से ९९७) के आस-पास होनेवाले उसके दरबार के पंडित हलायुध ने 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में मुंज को 'ब्रह्मक्षत्र'[1] कुल का कहा है। ब्रह्मक्षत्र शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में उन राजवंशों के लिये होता रहा, जिनमें ब्रह्मत्व और क्षत्रत्व दोनों गुण विद्यमान हों[2], या जिनके वंशज क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए हों। मुंज के समय से पीछे के शिलालेखों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में परमारों के मूलपुरुष का आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना अवश्य लिखा मिलता है, परंतु यह कल्पना भी इतिहास के अंधकार में पीछे से की हुई प्रतीत होती है। परमारों के

(१) ब्रह्मक्षत्रकुलीनः प्रलीनसामन्तचक्रनुतचरणः।
सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान्मुञ्जश्चिरं जयति ॥ 'पिंगलसूत्रवृत्ति'।

(२) देवपाड़ा से मिले हुए बंगाल के सेनवंशी राजा विजयसेन के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वजों का चंद्रवंशी होना और राजा सामंतसेन को ब्रह्मवादी और 'ब्रह्मक्षत्रिय-कुल' का शिरोमणि कहा है—

तस्मिन् सेनान्ववाये प्रतिसुभटशतोत्सादनव्र(ब्र)ह्मवादी।
स व्र(ब्र)ह्मक्षत्रियाणामजनि कुलशिरोदामसामन्तसेनः।

ए. इं; जि. १, पृ० ३०७।

मत्स्य, वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में पौरव (पांडु) वंश का वर्णन करते हुए अंतिम राजा क्षेमक के प्रसंग में लिखा है कि पुरुवंश में २५ राजा होंगे। इस संबंध में प्राचीन ब्राह्मणों का कथन है कि ब्रह्मक्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) को उत्पन्न करनेवाले तथा देवताओं एवं ऋषियों से सत्कार पाये हुए इस कुल में अंतिम राजा क्षेमक होगा—

ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः।
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय ५०, श्लो० ८८। 'वायुपुराण'; अ० ९९, श्लो० २७८-७९। 'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २०। 'भागवत'; सर्ग ९, अ० २२, श्लो० ४४-४५।

यहां ब्रह्मक्षत्र शब्द से यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रियगुणयुक्त'; अर्थात् जैसे सूर्य वंश में विष्णुवृद्ध, हरितादि क्षत्रिय, जो मांधाता के वंशज थे, ब्राह्मण हो गये उसी तरह चंद्र वंश में विश्वामित्र, आरिष्टसेन आदि क्षत्रिय भी ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गये थे।

शिलालेखों में उक्त वंश के मूल पुरुष का नाम धूमराज[1] मिलता है। धूम अर्थात् धुआं अग्नि से उत्पन्न होता है; शायद इसी पर परमारों के मूलपुरुष का अग्निकुंड से निकलना और उसके अग्निवंशी कहलाने की कथा पीछे से प्रसिद्ध हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।

सारांश यह है कि चौहान, सोलंकी और प्रतिहार तो वि० सं० की १६ वीं शताब्दी तक अपने को अग्निवंशी मानते ही नहीं थे और राजा मुंज के समय तक परमार भी ब्रह्मक्षत्र कहे जाते थे, न कि अग्निवंशी। ऐसी दशा में 'पृथ्वीराजरासे' का सहारा लेकर जो विद्वान् इन चार राजपूत वंशों का क्षत्रिय होना नहीं मानते यह उनकी हठधर्मी है, वास्तव में ये राजपूत भी प्राचीन क्षत्रिय जाति के ही वंशधर हैं।

कर्नल टॉड आदि यूरोपियन् विद्वानों ने राजपूतों को शक आदि विदेशी जातियां मानने में जो प्रमाण उनके बहुत से रीति रिवाजों का उन विदेशी जातियों से मिलते हुए होने के बतलाये उनका निराकरण तो हम ऊपर कर चुके; अब हम नीचे महाभारत और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से कुछ उदाहरण उस समय के रीति रिवाजों के देते हैं, जब कि शक, कुशन आदि विदेशियों का भारत के किसी विभाग पर राज्य ही नहीं हुआ था। उनमें से कई रीति रिवाज अब तक भी राजपूतों में विद्यमान हैं।

महाभारत के समय राजधानियां तथा अन्य बड़े नगरों के ऐसे ही गढ़ों के चारों ओर ऊंची ऊंची दीवारें बनवाकर उनके गिर्द जल से भरी हुई गहरी खाई बनाई जाती थी। राजाओं के अंतःपुर पुरुषों के निवासस्थानों से अलग बनते थे, जिनमें विस्तीर्ण मैदान, उद्यान और क्रीडास्थान भी होते थे। क्षत्रिय रमणियों के लिये परदे का रिवाज इतना कड़ा न था जितना कि आज है। क्रूरता के साथ पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट कर अंतःपुर की रक्षा के निमित्त

(१) श्रीधूमराजः प्रथमं बभूव भूवासवस्तत्र नरेंद्रवंशे ।....॥ ३३ ॥

आबू पर के तेजपाल के मंदिर के वि० सं० १२८७ के शिलालेख से।

आनीतधेन्वे परनिर्जयेन मुनिः स्वगोत्रं परमारजातिम्।

तस्मै ददावुद्धतभूरिभाग्यं तं धौमराजं च चकार नाम्ना ॥

आबू के नीचे के गिरवर गांव के पासवाले पाटनारायण के मंदिर की वि० सं० १३४४ की प्रशस्ति की छाप से।

उनको नपुंसक बनाने की दुष्ट पद्धति भी नहीं थी। मद्य आदि नशीली चीज़ों का निरोध किया जाता और मद्य की दुकानों और वेश्याओं पर कड़ा निरीक्षण रहता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से पाया जाता है कि उस समय धूपघड़ी और नालिकाएं रक्खी जाती थीं। रात में पहर रात के आसपास तुरही बजने पर राजा शयनगृह में जाता और प्रातःकाल तुरही का शब्द होने पर उठ जाता था। योगी और जादूगर सदा प्रसन्न रक्खे जाते थे। अंतःपुर के चारों ओर ऊंची ऊंची दीवारें होतीं, दरवाज़ों पर देवताओं की मूर्तियां बनाई जातीं, महलों में सुरंगें होतीं और कितने एक तांत्रिक प्रयोगों पर विश्वास होने से उनपर अमल किया जाता था। शस्त्रधारी स्त्रियां अंतःपुर की रक्षा के लिये रहतीं और स्वयं राजा के शरीर की सेवा भी प्रायः स्त्रियां ही किया करती थीं[१]। अंतःपुर में छल प्रपंच चला करते थे। राजा की सवारी के समय मार्ग में दोनों ओर पुलिस का बंदोबस्त रहता और गौओं के चरने और तपस्वियों के रहने के लिये नगरों और गांवों के आसपास भूमि छोड़ी जाती थी। शिकार के लिये जंगल रक्षित रहते थे। नगरों के चारों ओर पक्के कोट बनवा कर उनके गिर्द खाई खुदवाई जाती थी। मार्गों में पत्थर पाटे जाते थे। गढ़ के दरवाज़ों पर भिन्न भिन्न देवताओं की मूर्त्तियां रहती थीं। वेश्याएं राजा के साथ रहतीं, राजा की वर्षग्रंथी पर क़ैदी छोड़े जाते और भूतप्रेतों की पूजा होती थी। दास दासियों का क्रय विक्रय होता, परंतु आर्य जाति के स्त्री पुरुष दास नहीं बनाये जाते थे[१]।

यहां तक विस्तार के साथ यह बतलाया जा चुका है कि राजपूत प्राचीन

क्षत्रियों के ही वंशधर हैं और जो लेखक ऐसा नहीं मानते उनका कथन प्रमाण-शून्य है। अब महाभारत आदि के समय में क्षत्रियों के राज्यप्रबंध, युद्धप्रणाली, युद्ध के नियम आदि का संक्षेप से उल्लेख कर अन्त में क्षत्रिय जाति की अवनति के कितनेक मुख्य मुख्य कारणों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं।

राज्यप्रबंध व न्याय का काम राजा आठ मुख्य मंत्रियों की सलाह से चलाते थे (वही अठकौसल अब तक राजपूताने में प्रसिद्ध है)। ये मंत्री प्रधान, सेनापति, पुरोहित, गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, न्यायाधीश, आय-व्ययाधिपति (आमद खर्च के विभाग का दरोगा) और महासांधिविग्रहिक (दूसरे राज्यों से संधि या युद्ध करने का अधिकारी) थे। इनके अतिरिक्त ज़िलों के हाकिम तथा प्रजा के सब वर्णों के श्रेष्ठ पुरुष भी राजसभा में संमिलित रहते थे। महाभारत काल में राजा स्वयं प्रतिदिन दर्बार में आकर न्याय करता था और उसकी सहायता के वास्ते एक राजसभा भी रहती थी जिसमें ४ वेदवित्, सदाचारी, गृहस्थ ब्राह्मण; ८ बलवान् एवं शस्त्रकुशल क्षत्रिय; २१ धनवान् वैश्य, और पवित्र तथा विनयसम्पन्न ३ शूद्र सम्मिलित रहते थे[1]। यह केवल न्यायसभा ही नहीं, किंतु देश के प्रवन्ध से संबंध रखनेवाली सभा भी थी। राजा के मुख्य गुण राग द्वेष को छोड़ कर धर्माचरण करना, कार्य में शिथिलता न करना, मदोन्मत्त होकर विषय भोग में न पड़ना, शूरवीर होना, दानशूर बनना परंतु कुपात्र को दान न देना, नीच पुरुषों की संगति न करना, स्त्रीसेवन में सदा नियमित रहना, सदाचारियों का सम्मान करना और दुराचारियों को दंड देना, समय को अमूल्य समझना, प्रजा के कल्याणकारी प्रयत्न सदा सोचना और उनको कार्य में परिणित करना, योग्य और कार्य-कुशल पुरुषों को अधिकार देना, व्यापारी और कारीगरों की सहायता कर व्यापार और कलाकौशल की सदा उन्नति करना, प्रजा पर ऐसे करों का न लगाना जिनसे लोगों को कष्ट हो, आलस्य को पास न फटकने देना एवं विद्या और धर्म की उन्नति करना इत्यादि ३६ माने जाते थे[2]। राजा का अंतिम मुख्य कर्त्तव्य यही था कि वह ईश्वर का भय रखकर सत्यमार्ग से कभी क़दम वाहर न

(१) 'महाभारत'; शांतिपर्व, अध्याय ८५।

(२) इन ३६ गुणों का विवेचन 'महाभारत' के [illegible] में कि[illegible] है। देखो महाभारत मीमांसा'; पृ० ३१०।

रक्खे क्योंकि सारी राज्यसत्ता का मुख्य आधारस्तंभ सत्य ही है। यदि राजा सत्यपथ का त्याग कर दे तो अवश्य प्रजा भी उसका अनुकरण करेगी क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा'।

यह प्राचीन राज्य-व्यवस्था का संक्षिप्त विवेचन है अब सेना और युद्ध संबंधी प्राचीन दशा का भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। सेना चार प्रकार की होती थी—पदाति (पैदल), अश्व (घुड़सवार), गज (हाथी सवार), और रथ। इसको चतुरंगिनी सेना कहते थे। हाथी ऐसे सधाये जाते कि उन्हें मतवाला कर उनकी शुंडों में दुधारे खड्ग दे शत्रुओं पर पेल देते थे[१]। प्रत्येक

(१) प्राचीन काल में हाथी सेना का मुख्य अंग समझे जाते थे। अग्रभाग में थोड़े थोड़े अंतर से उनकी पंक्ति बांधकर बीच में और बाज़ू पर पैदल धनुर्धारी रक्खे जाते थे। राजा भी युद्ध के समय प्रायः हाथी पर ही सवार हुआ करते थे। पोरस जब सिकंदर से लड़ा तब उसने अपने हाथियों की पंक्ति आगे की तर्फ लगा कर एक एक सौ फुट के अंतर पर उन्हें खड़े कर उनके पीछे व बीच में पैदलों को रक्खा था। पैदलों के दोनों ओर सवार, और उनके आगे रथ थे। सिकंदर ने पहले शत्रु के बाज़ू पर हमला किया, तीरों की मार से हिन्दू सेना सिमट कर मध्य भाग में आ गई, घुड़सवारों पर धावा होने से वे भी घबराकर हाथियों के पास चले आये। महावतों ने हाथियों को दुश्मन के बढ़ते हुए सवारों पर हूले, परंतु यूनानियों ने उनको तीरों की मार से रोका और सवारों पर भी तीर चलाना शुरू किया। जब हाथियों पर चारों ओर से बाणों की बौछार होने लगी और आगे तो शत्रु की मार और पीछे अपनी सेना का उभार होने से उनको आगे बढ़ने को स्थान न मिला, तब तो भयभीत होकर वे पीछे मुड़े। उन्होंने शत्रुओं की अपेक्षा मित्रों को विशेष हानि पहुंचाई और वे अंधाधुंध उनको गूंधते हटाते और कुचलते हुए पीछे हटने लगे। महावत तीरों की मार से गिरा दिये गये और निरंकुश हाथियों ने पीछे हटकर पोरस की सेना को विचलित कर दिया। उसी वक्त सिकंदर ने आम तौर पर धावा करके विजय प्राप्त करली और हाथी सवार राजा पोरस घायल होकर बंदी बना लिया गया। (मैक्क्रिंडल; 'दी इन्वेज़न ऑफ् इंडिया बाई अलेग्ज़ेंडर दी ग्रेट'; पृ० १०२-३) युद्ध काल में राजा और सेनापतियों का हाथी सवार होकर राजचिह्नों को साथ रखना भी अनेक लड़ाइयों में राजपूतों की हार का कारण बन गया, क्योंकि शत्रु उसको तुरंत पहचान कर अपना लक्ष्य बना लेते, और एक सेनानायक के मारे जाने या उसके वाहन के मुड़ जाने से सारी सेना पीठ दिखा देती थी। सिंध का राजा दाहिर हाथी पर सवार होने ही से घायल हुआ और उसके हाथी के भड़ककर भागने से उसकी सेना भी भाग निकली। महमूद ग़ज़नवी के साथ लाहोर के राजा अनंदपाल के युद्ध में राजा का हाथी भागा जिसपर सारी सेना ने पीठ दिखाई। हाथी सवार होने ही से कन्नौज का राजा जयचंद गाहड़वार आसानी के साथ शत्रु का लक्ष्य बन गया। बयाने के प्रसिद्ध युद्ध में महाराणा सांगा

सैनिक को अपने अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करने के वास्ते वर्षों तक सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सेना का वेतन नियत समय पर अन्न तथा रोकड़ के रूप में दिया जाता था। प्रत्येक दस, सौ एवं हज़ार योद्धाओं पर एकएक अफसर अलग अलग रहता था। व्यूहरचना अर्थात् क़वायद भी सिखलाई जाती और चतुरंगिनी सेना के साथ विष्टि (वार बरदारी), नौकर, जासूस, और दैशिक भी रहते थे। पैदल सेना के आयुध धनुष बाण, ढाल तलवार, भाला, फरसी, तोमर (लोहे का डंडा) आदि थे। गदा केवल द्वंद्व युद्ध में काम आती थी। घुड़सवारों के पास तलवार और बरछे रहते थे। रथी और महारथी रथों पर सवार होते और कवच धारण करते थे। उनके धनुष पुरुष नाप के और बाण तीन तीन हाथ लंबे होते थे। बाणों के फल बहुत तीक्ष्ण और भारी होते जो लोहे की मोटी चद्दरों तक को बेध कर पार होजाते थे। अस्त्रों में अग्न्यस्त्र, वायव्यास्त्र, विद्युतास्त्र आदि के नाम मिलते हैं। अस्त्रविद्या का जाननेवाला अनस्त्रविद् पर अपने अस्त्रों का प्रयोग नहीं करता था। रथ[1] दो पहियों के होते और उनमें चार घोड़े जुतते थे। उनके शिखरों पर भिन्न भिन्न चिह्नोंवाली पताकाएं रहती थीं। रथी के पास बाण, शक्ति आदि आयुधों का संग्रह रहता था। रथी या

भी हाथी सवार थे। शत्रु ने ताक कर तीर मारा जिससे महाराणा घायल हुए और बाबर की फतह हो गई। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मुसलमान बादशाह भी प्रायः लड़ाई के वक्त हाथी सवार हुआ करते थे, परंतु अब तो हाथियों का युद्ध में उपयोग ही नहीं रहा।

(१) रथों का युद्ध समभूमि में होता था। सिकंदर के [illegible] जब लड़ा तो उसकी सेना में रथ भी थे। "राजा ने यूनानियों को रोकने के [illegible] एक सौ रथ और [illegible] हज़ार अश्वारोही आगे भेजे। प्रत्येक रथ में ४ घोड़े जुते थे और उनके साथ ६ आदमी थे, जिनमें से दो तो हाथ में ढाल पकड़े, दो दोनों ओर [illegible] खड़े थे, और दो सारथी थे। ये सारथी भी लड़नेवाले होते थे। युद्ध आरंभ होते [illegible] शत्रु पर भाले फेंकने लगे। युद्धकाल के पहले [illegible] के कारण रथ [illegible] नी के साथ इधर उधर मुड़ नहीं सकते थे [illegible] अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २०७-८)

महारथी अपने सिर पर लोहे का टोप, शरीर पर कवच, हाथों पर गोधांगुलीत्राण और अंगुलियों की रक्षा के लिये भी आवरण रखता था। सारथी भी कवचादि से सुरक्षित रहता था। रथी या सेनापति सेना के आगे रहता और प्रायः दोनों पक्ष के सेनापतियों में द्वंद्वयुद्ध भी हुआ करता था[1]।

युद्ध के नियम बंधे हुए थे और नियमानुकूल युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता था। विषदग्ध और कर्णी (आंकड़ेदार) बाणों का प्रयोग नहीं किया जाता। रथी से रथी, हाथी से हाथी, अश्व से अश्व और पैदल से पैदल लड़ते थे। दोनों योद्धाओं के शस्त्र समान होते। दुःखाकुल स्थिति में शत्रु पर प्रहार नहीं किया जाता; भयभीत, पराजित और पलायन करनेवाले को नहीं मारते थे। प्रतिपक्षी का शस्त्र भंग हो जाय, धनुष की प्रत्यंचा टूट जाय, योद्धा का कवच निकल पड़े अथवा उसका वाहन नष्ट हो जाय तो उसपर शस्त्र नहीं चलाया जाता था। सोते हुए, थके हुए, प्यासे, भोजन या जलपान करते हुए तथा घासदाना लाते समय शत्रु पर वार नहीं किया जाता था। युद्ध के समय कृषिकारों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाई जाती और न प्रजा को दुःख दिया जाता था। युद्ध में घायल हुए शत्रुओं को या तो उनके कटक में पहुंचा देते या विजेता उनको अपने यहां लाकर उनके घावों की मरहमपट्टी करवाता और चंगे होने पर उन्हें मुक्त कर देता। कहीं कहीं इन नियमों का उल्लंघन होना भी पाया जाता है, परंतु ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं और वे निंदनीय समझे जाते थे।

इनमें से बहुतेरे नियम राजपूत जाति में मुगल राज्य के प्रारंभकाल के आसपास तक पाये जाते थे, जैसे चित्तोड़ के महाराणा सांगा ने मालवे के सुलतान महमूद खिलजी (दूसरे) को युद्ध में परास्त किया, सुलतान घायल हो रणखेत में पड़ा था जिसको उठवा कर वे अपने डेरे में लाये और उसका इलाज करवाया। आराम हो जाने पर पीछा उसे अपने राज्य पर बिठा दिया। जब आंबेर का कुंवर मानसिंह महाराणा प्रतापसिंह पर बादशाह अकबर की तरफ़ से फौज लेकर आया तो उसकी सेना का पड़ाव महाराणा की सेना से कुछ ही कोस के अंतर पर था। युद्ध छिड़ने के पूर्व कुंवर मानसिंह एक दिन

(१) 'हिंदी महाभारत मीमांसा'; पृ० ३४०।

थोड़े साथियों सहित शिकार को गया था जिसकी सूचना गुप्तचरों ने महाराणा के पास पहुंचाई और सामंतों ने निवेदन किया कि अच्छा अवसर हाथ आया है, अवश्य शत्रु को मार लेना चाहिये, परंतु वीर राणा ने यही उत्तर दिया कि 'इस तरह छल और दगा के साथ शत्रु को मारना शूरवीर क्षत्रियों का धर्म नहीं है'।

क्षत्रियों का मुख्य धर्म आपत्काल में राष्ट्र के निमित्त शत्रु से संग्राम कर प्रजा की रक्षा करना और विजय किये हुए देशों का नीतिपूर्वक शासन कर वहां की प्रजा को भी सुखी बनाना था। युद्ध में लड़कर मरने को क्षत्रिय परम सौभाग्य और रणखेत से भागने को अत्यंत निंदनीय समझते थे। इस विषय का महाभारत से एक ही उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

संजय नामक एक राजपुत्र पर सिंधुराज (सिंध के राजा) ने आक्रमण किया। शत्रु की वीरहाक और शस्त्रों की खनखनाहट से भयभीत हो संजय रणभूमि से भागकर घर में आ बैठा और निराशा के पंक में पड़ कर गोते खाने लगा। जब उसकी वीरमाता विदुला ने अपने पुत्र की यह दशा देखी तो उत्साहवर्द्धक और अत्यंत महत्वपूर्ण शब्दों में उसको उपदेश दिया कि 'मनुष्य को अपने वास्तविक धर्म, धैर्य, पुरुषार्थ और दृढ संकल्प से कभी मुख न मोड़ना चाहिये। परतंत्र और दीनहीन बनने के बराबर दूसरा कोई पाप नहीं है। उद्योग पर ही अपने जीवन का आधार रखकर सदा कर्मयोग का ही साधन करता रहे और अभीष्ट सिद्ध करने में प्राणों की भी परवाह न करे। आलसी, कायर और निरुद्यमी अपने मनोरथ के सफल होने की आशा स्वप्न में भी नहीं कर सकता है' इत्यादि[1]।

दक्षिण में बादामी के सोलंकी राजा पुलकेशी के वर्णन में चीनी यात्री हुएन्त्संग लिखता है कि "राजा जाति का क्षत्रिय है, उसका नाम पुलकेशी (पु-लो-कि-शे) है, उसके विचार और कार्य विस्तृत हैं; उसके उपकार के कामों का लाभ दूर दूर तक पहुंचता है और उसकी प्रजा पूर्ण विनय के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती है। इस समय शीलादित्य (कन्नौज का राजा श्रीहर्ष, हर्षवर्द्धन) महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक के देश विजय कर [illegible] और दूर दूर के देशों पर चढ़ाइयां की हैं, परंतु केवल इस देश ([illegible]

(१) 'महाभारत'; उद्योगपर्व, अध्याय १३३-३६।

ही उसके अधीन नहीं हुए। यहांवालों को दण्ड देने और अधीन करने के लिये उसने अपने राज्य के पांचों विभागों का सैन्य एकत्र किया, सब राज्यों के बहादुर सेनापतियों को बुलाया और वह स्वयं लश्कर की हरावल में रहा, तो भी यहां के सैन्य को जीत न सका। यहां के लोग सादे, प्रामाणिक, शरीर के ऊंचे, स्वभाव के कठोर बदला लेनेवाले, उपकार करनेवालों का अहसान माननेवाले और शत्रु के लिये निर्दयी हैं। वे अपना अपमान करनेवाले से बदला लेने में अपनी जान तक झोंक देते हैं, परंतु यदि तकलीफ़ के समय उनसे कोई मदद मांगे, तो उसको मदद देने की त्वरा में वे अपने शरीर की कुछ पर्वाह नहीं करते। यदि वे बदला लेना चाहें तो शत्रु को पहिले से सावधान कर देते हैं, फिर दोनों शस्त्र धारण कर एक दूसरे पर भाले से हमला करते हैं। जब एक भाग जाता है तो दूसरा उसका पीछा करता है, परंतु शरण में आ जाने पर मारते नहीं। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जावे तो उसको दंड नहीं देते, किंतु उसको स्त्री की पोशाक भेट करते हैं, जिसपर उसको स्वयं मरना पड़ता है। देश (राज्य) की ओर से कई सौ वीर योद्धा नियत हैं, जो युद्ध के समय प्रथम नशा कर मत्त हो जाते हैं, फिर उनमें से एक एक पुरुष हाथ में भाला लेकर ललकारता हुआ १०००० आदमियों का सामना करता है। यदि उनमें से कोई योद्धा मार्ग में चलता हुआ किसी आदमी को मार डाले तो उसको सज़ा नहीं होती। जब वे बाहिर (लड़ने को) जाते हैं, तब अपने आगे ढोल बजाते जाते हैं, सैंकड़ों हाथियों को नशे से मतवाले कर उनको भी लड़ने के लिये ले जाते हैं। वे लोग पहिले नशा कर लेते हैं, फिर एक साथ आगे बढ़कर हर एक चीज़ को बर्बाद कर देते हैं, जिससे कोई शत्रु उनके आगे नहीं ठहर सकता'[1]"।

मुग़ल बादशाहों की अधीनता में राजपूतों ने बलख़, बुख़ारा, काबुल, क़ंदहार आदि दूर दूर के देशों में जाकर फतह के डंके बजाये और बड़े बड़े वीरता के काम किये हैं। सच कहा जावे तो मुग़लिया राज्य का प्रताप बढ़ानेवाले राजपूत राजा ही थे। शाहजहां बादशाह ने ईरानियों से क़ंदहार खाली कराने के वास्ते बड़ी सेना हिन्दुस्तान से भेजी, जिसमें दस्तूर के मुवाफ़िक़ राजपूत हरावल में थे। 'बादशाहनामे' में लिखा है कि 'हरावल की

(१) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ३४-३५।

बहादुर राजपूतों के मज़बूत क़दमों से ताक़त दी गई जो घोर संग्राम में जहां बड़े बड़े वीरों के चहरे का रंग फक हो जाता है लड़ाई का रंग जमा ही देते हैं"।

यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन काल से ही भारत में अनेक छोटे बड़े राज्य विद्यमान थे और उनमें परस्पर लड़ाई झगड़े चला करते थे, परंतु इतना अवश्य था कि यदि कोई राजा अपना बल बढ़ाकर अन्य राजाओं को विजय करलेता तो भी उनके राज्य नहीं छीनता और न उनकी आभ्यंतरिक स्वतंत्रता में बाधा डालता था, केवल खिराज या भेट रूप में विजेता को नियत कर दे-देना ही उनकी आधीनता का सूचक था। इसके अतिरिक्त आपस का वैर विरोध मिटाकर मेल करने के लिये यह रीति भी प्राचीन काल से क्षत्रियों में चली आती है कि वे एक दूसरे के साथ विवाह संबंध जोड़ कर वैरभाव को तोड़ देते थे। यूनानी राजा सेल्युकस ने मौर्यवंशी महाराजा चंद्रगुप्त को अपनी कन्या ब्याहकर वैर मिटाया। जब सिकंदर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की तो उत्तरी भारत की मल्लोई और क्षुद्रक नामकी स्वतंत्र क्षात्रिय जातियों में पहले से विरोध चला आता था, परंतु विदेशी शत्रु के संमुख होने को वे जातियां परस्पर विवाह संबंध जोड़ कर एकता के सूत्र में बंध गईं, अर्थात् हरएक ने दस दस हज़ार कन्या एक दूसरे को ब्याह दीं[2]। परस्पर की घरू लड़ाइयां निरंतर लगी रहने पर भी जब कोई बाहर का शत्रु देश पर या किसी राज्यविशेष पर आक्रमण करता तो छोटे बड़े प्रायः सभी राजा मिलकर उसका सामना करते थे। जब सुलतान महमूद ग़ज़नवी ने लाहोर के राजा अनंदपाल पर चढ़ाई की तो उस वक्त दूर दूर से कई दूसरे राजा भी सेना सहित अनंदपाल की सहायता को आये, इतना ही नहीं, किंतु देशान्तरों की प्रजा और हिन्दू महिलाओं ने भी हिन्दू राज्य की रक्षा के निमित्त अपने वस्त्रालंकार तक बेच धन एकत्र कर सहायतार्थ भेजा था[3]। ऐसे ही सुलतान शहाबुद्दीन गोरी

(१) 'बादशाहनामा'; और मुन्शीदेवीप्रसाद का 'शाहजहांनामा'; भाग २, पृ० १२।

(२) मैक्क्रिंडल; 'दी इन्वेज़न ऑफ इंडिया बाई अलेगज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २८७।
राजपूतों में प्राचीन काल से अब तक यह रीति चली आती है कि भिन्न वंश के साथ का वैर लड़कियां ब्याहने से मिटाया जाता है और एक ही वंशवालों का परस्पर अफ़ीम पिलाने से।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ४६।

और पृथ्वीराज चौहान के युद्ध में पृथ्वीराज की सहायता पर कई हिन्दू राजा महाराजाओं ने मिल कर विधर्मी शत्रु से युद्ध किया था। पठानों की बादशाहत में तो यह प्रथा न्यूनाधिक प्रमाण में बनी रही, परंतु अंत में मुग़ल बादशाह अकबर की भेदनीति ने परस्पर के मेलमिलाप के इस बंधन को तोड़ दिया और शाही दरबार के प्रलोभनों में फंसकर राजपूत मुग़लों की आधीनता में उलटा अपने भाइयों के साथ शत्रुता का वर्ताव कर उन्हींको नष्ट करने लगे। फिर तो उस संगठन का मूलोच्छेदन ही हो गया।

राजपूतों में स्त्रियों का बड़ा आदर होता रहा और वे वीरपत्नी और वीरमाता कहलाने में अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं का पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस भी जगद्विख्यात हैं। इनके अनेक उदाहरण इतिहास में पाये जाते हैं, उनमें से थोड़े से यहां उद्धृत करते हैं—वीरवर दाहिर देशपति की राणी लाडी की वीरता का वर्णन करते हुए फिरिश्ता लिखता है कि 'जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन क़ासिम ने युद्ध में सिंध के राजा दाहिर को मारकर उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया और दाहिर का एक पुत्र बिना युद्ध किये भाग निकला, उस समय उस (पुत्र) की वीरमाता लाडी कई हज़ार राजपूत सेना साथ ले पहले तो मुहम्मद क़ासिम से सरे मैदान लड़ी, फिर गढ़ सजकर वह वीरांगना शस्त्र पकड़े शत्रु से युद्ध करती हुई स्वर्गलोक को सिधारी"।

चौहान राजा पृथ्वीराज ने जब महोबा के चंदेल राजा परमर्दिदेव पर चढ़ाई की तो उसके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उस समय उक्त राजा के सामंत आल्हा व ऊदल वहां उपस्थित नहीं थे; वे पहले किसी बात पर स्वामी की अप्रसन्नता हो जाने के कारण कन्नौज के राजा जयचंद के पास जारहे थे। पृथ्वीराज की सेना से अपनी प्रजा का अनिष्ट होता देख चंदेल राजा की राणी ने आल्हा ऊदल को बुलाने के लिये दूत भेजे। उन्होंने अपने साथ किए हुए पूर्व के अपमान का स्मरण कर महोबे जाना नहीं स्वीकारा, उस समय उनकी वीर माता ने जो वचन अपने पुत्रों को कहे उनसे स्पष्ट है कि क्षत्रिय कुलांगना किस प्रकार स्वामी के कार्य और स्वदेशरक्षा के निमित्त अपने प्राणों से प्यारे पति और पुत्रों को भी सहर्ष रणांगण में भेजती थीं। आल्हा ऊदल की

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०१।

माता अपने पुत्रों का हठ छुड़ाने के हेतु बोली कि "हा विधाता ! तूने मुझको बांझ ही क्यों न रक्खा। क्षत्रिय धर्म का उल्लंघन करनेवाले इन कुपूतों से तो मेरा बांझ रहना ही अच्छा था। धिक्कार है उन क्षत्रिय पुत्रों को, जिनका स्वामी संकट में पड़ा हो और आप सुख की नींद सोवें। जो राजपूत मरने मारने से डर कर संकट के समय स्वामी की सहायता के लिये सिर देने को प्रस्तुत न हो जाय वह असल का बीज नहीं कहलाता है। हा ! तुमने बनाफर वंश की सब कीर्त्ति डुबो दी[1]"।

महाराणा रायमल के पाटवी पुत्र पृथ्वीराज की पत्नी तारादेवी का अपने पति के साथ टोडे जाकर पठानों के साथ युद्ध में पति की सहायता करना सुप्रसिद्ध ही है।

रायसेन का राजा सलहदी पूरविया (तंवर) जब सुलतान बहादुरशाह गुजराती से परास्त हो मुसलमान हो गया और सुलतान सुरंगें लगाकर उसके गढ़ को तोड़ने लगा, तोपों की मार से दो बुर्जें भी उड़ गईं, तब सलहदी ने सुलतान को कहा कि आप मेरे बालबच्चों और स्त्रियों को न सताइये, मैं गढ़ पर जाकर लड़ाई बंद करवा दूंगा। सुलतान ने मलिक अली शेर नामक अफसर के साथ उसको गढ़ पर भेजा। उसकी राणी दुर्गावती ने, जो राणा सांगा की पुत्री थी, अपने पति को देखते ही धिक्कारना शुरू किया और कहा कि 'ऐसी निर्लज्जता से तो मरजाना ही अच्छा है, मैं अपने प्राण तजती हूं, यदि तुमको राजपूती का दावा हो तो हमारा वैर शत्रुओं से लेना'। राणी के इन वचनबाणों ने सलहदी के चित्त पर इतना गहरा घाव लगाया कि वह तुरंत अपने भाई लोकमन (लोकमणि) और १०० संबंधियों समेत खड्ग खोलकर शत्रुओं से जूझमरा। राणी ने भी सातसौ राजपूत रमणियों और अपने दो बच्चों सहित प्रचंड अग्निज्वाला में प्रवेश कर तन त्याग दिया[2]।

मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह जब औरंगज़ेब से युद्ध हारकर उज्जैन के रणखेत से अपनी राजधानी जोधपुर को लौटे तब उनकी पटराणी ने गढ़ के द्वार बंद करवाकर पति को भीतर पैठने से रोका था[3]।

(१) नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, 'रासोसार; पृ० ४६१।

(२) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १२२।

(३) टॉड; 'राजस्थान'; जि० २, पृ० ७२४; ८८२।

इसी प्रकार शत्रु से अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त हज़ारों राजपूत महिलाएं निर्भयता के साथ जौहर की धधकती हुई आग में जलकर भस्मीभूत हो गईं, जिनके ज्वलंत उदाहरण चित्तोड़ की राणी पद्मिनी और कर्मवती, चांपानेर के पताई रावल (जयसिंह) की राणियां[1], जेसलमेर के रावल दूदा की रमणियां[2] आदि अनेक हैं जो आगे इस इतिहास में प्रसंग प्रसंग पर बतलाये जाएंगे।

परदे की रीति भी राजपूतों में पहले इतनी कड़ी नहीं थी जैसी कि आज है। धर्मोत्सवों और युद्ध व शिकार के समय में भी राणियां राजा के साथ रहती थीं और राज्याभिषेक आदि अवसरों पर पति के साथ दरबार आम में बैठती थीं। पीछे से मुसलमानों की देखा देखी परदे का इतना कड़ा प्रबंध राजपूतों में होना पाया जाता है, और उन्हीं का अनुकरण पीछे से राजकीय पुरुषों तथा धनाढ्य वैश्य आदि जातियों में भी होने लगा।

राजपूत मात्र में स्वदेशभक्ति और स्वामिधर्म ये दो उत्कृष्ट गुण प्राचीन काल से चले आते हैं। राजपूताने के इतिहास में ऐसे सैंकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं कि तन, मन और धन से अपने स्वामी का साथ देने और अपने देश की रक्षा करने में हज़ारों राजपूत सर्दारों ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं। स्वामी का सामना करने या उसके साथ छल करनेवाले के मस्तक पर हराम-खोरी के अटल कलंक का टीका लग जाता जिसको राजपूत मात्र बड़ी गाली और भारी ऐब समझते हैं। स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए मेवाड़ में प्रसिद्ध चूंडावत वंश के सलूंबर के रावत जोधसिंह ने विष मिला हुआ पान अपने मालिक के हाथ से बिना किसी आपत्ति के खाकर प्राण त्याग दिया। स्वामिधर्म में बंधे हुए सुप्रसिद्ध राठोड़ सर्दार दुर्गादास आदि ने अनेक आपत्तियां सहकर भी अपने स्वामी महाराजा अजीतसिंह की रक्षा की। शेरशाह सूर के भय से मारवाड़ के राव मालदेव के रणभूमि से हटजाने पर भी उनके सामंत जैता व कूंपा आदि राठोड़ सर्दारों ने सहस्रों राजपूतों सहित समरांगण में वीरगति पाई।

इसके साथ यह भी अवश्य था कि स्वामी का प्रेम, एवं मानमर्यादा आदि का

(१) 'मुंहणोत नेणसी की ख्यात'; पत्र १९३। १–२।
(२) वही; पत्र ९३। २ और ९४। १।

संबंध भी अपने सामंतों के प्रति अद्वितीय रहता था, अतः परस्पर के प्रीतिपूर्ण बर्ताव और सेवा से यह बंधन दृढ़ बना रहा, परंतु अकबर बादशाह की भेद-नीति ने उसको ढीला कर दिया, फिर तो शनैः शनैः वह प्रथा शिथिल होती गई जिससे प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास का पुल टूट गया। राजा लोग समयानुकूल अपना स्वार्थ साधने लगे और सामंतगण खुल्लम् खुल्ला राज्य की छत्रछाया से छूटकर स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगे। नीतिशास्त्रों में राज्य को एक शरीर कल्पना करके राजा, प्रजा, अमात्य और सामंतगण आदि को इसके अंग बतलाये हैं। यदि इनमें से एक भी अंग रोगी, निर्बल या कर्त्तव्यहीन हो जाय तो वह राज्यरूपी सारे शरीर को निर्बल बना देता है। निःसंदेह राज्य ही की ठंडी छाया में उसके सामंत दूसरे प्रबल विपक्षियों के उत्ताप, आतंक और आपत्तियों से बचे रहते हैं। जब राज्य ही की जड़ हिल जाय तो क्या उससे पृथक् पड़े हुए अंगोपांग अपनी कुशलता की आशा रख सकते हैं? उदाहरण के लिये मुसलमानों के भारतीय महाराज्य ही को लीजिये; अवध, अरकाट, बंगाल और सिंध आदि के नवाब अब कहां हैं? जो दिल्ली के साम्राज्य से स्वतंत्र बन बैठे थे। शिवाजी के वंशधर, एवं पेशवा की संतान और नागपुर के भोंसले आदि का क्या हुआ? जिन्होंने आपस के द्वेष से मरहटों के महाराज्य को ढीला किया था। प्राचीन और अर्वाचीन अनेक उदाहरणों को सामने रखकर इतिहास इसकी साक्षी दे रहा है कि बल परस्पर के समुदाय में है न कि पृथक्ता में।

भारत में जब तक प्राचीन आचार विचार, रीति रिवाज, राज्यपद्धति और शिक्षाप्रचार का क्रम बना रहा तब तक क्षत्रिय वर्ण ने भारतवर्ष ही का नहीं वरन् दूर दूर के बाहरी देशों का राज्य भी अपने हस्तगत किया। उनकी सभ्यता, शिष्टता और प्रताप के सामने अन्यान्य जातियों ने सिर झुकाया और वे महाराज्य का आनंद लूटते रहे, परंतु पीछे से ज्यों ज्यों इस वर्ण में शिक्षा का अभाव होकर स्वार्थपरायणता का मूल घुसा, देश में नाना धर्म और नाना जातियां बन गईं, एक सूत्र में बंधी हुई प्रजा जात पांत और मत मतांतरों के झगड़ों से पृथक् पृथक् होकर एक दूसरे को वैरविरोध की दृष्टि से देखने लगी; राजा भी स्वधर्म का पक्ष लेकर कभी कभी अन्यधर्मावलंबियों पर अत्याचार करने और अपनी प्रजा को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे एवं नीति और [illegible] मर्यादा का उल्लंघन कर उनके स्वेच्छाचारी बनने से [illegible] की [illegible]

रातदिन के लड़ाई झगड़ों से उनका बल पराक्रम क्षीण होता गया।

इसी तरह बहुविवाह की रीति भी क्षत्रिय वर्ण की क्षति का एक मुख्य कारण हुई। इस इतिहास में बहुविवाह से होनेवाली हानियों का उल्लेख अनेक स्थलों में मिलेगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनेक पत्नियां होने से ही रामचंद्र को बनवास हुआ और दशरथ के प्राण गये। महाराज अशोक के अधिक राणियां होने से मौर्य वंश के प्रतापी साम्राज्य की अवनति की जड़ जमी, कन्नौज के प्रबल गाहडवाल (गहरवार) राज्य के विनाश का कारण भी महाराज जयचंद की पत्नियां होना माना जाता है। मारवाड़ के राव चूंडा के राज्य में अनेक राणियों के कारण ही झगड़ा फैला, मेवाड़ के प्रतापी राणा सांगा के महाराज्य की क्षति का कारण भी बहुविवाह ही हुआ। कहां तक गिनावें राजपूत जाति का इतिहास ऐसी घटनाओं से रंगा पड़ा है। इसीके कारण कई राजाओं के प्राण गये, कई निरपराधी बालक सौतिया डाह के शिकार बने और कई राज्य नष्ट भ्रष्ट हुए। एकपत्नीव्रत के धारण करने से ही रामचंद्र 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहलाये थे। गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख एक ही पत्नी से मिलता है, चाहे राजा हो या रंक। अनेक पत्नियां होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार सौतिया डाह का कुठार चला, चलता है और चलता रहेगा, जब तक कि राजपूत जाति इस कुरीति का मूलोच्छेदन न कर देगी।

राजपूतों में दूसरी बड़ी हानिकारक प्रथा मद्यपान की अधिकता है। प्राचीन काल के धर्मनिष्ठ क्षत्रिय मद्यपान केवल खास खास प्रसंगों पर[1] या युद्ध के समय ही करते थे, परंतु इस बला में वे इतने फंसे हुए नहीं थे जैसे कि आजकल के। इस वारुणी देवी की कृपा से ही यादवास्थली में यादवों का संहार हुआ, अनेक राजा, महाराजा, सामंत एवं अन्य राजपूत अकाल कालकवलित हो गये, और अब तक होते जाते हैं। बल, वीर्य, शौर्य और साहस का भक्षण करनेवाली इस राक्षसी का क्रूर कर्म और भयानक परिणाम देखते हुए भी उसको छोड़ने के बदले वे उसपर अधिक आसक्त होते जाते हैं। पहले उनके पीने के भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य जैसे कि गौड़ी, माध्वी, माक्षिक, द्राक्ष, ताड़ी, आसव आदि यहीं बनते थे, परंतु अब तो उनका स्थान बहुधा शेरी, शांपेन,

(१) मेगास्थिनस लिखता है कि भारत के लोग यज्ञयागादि के सिवा मद्यपान कभी नहीं करते। इं. एँ; जि. ६, पृ० १३१।

पोर्ट, ओल्ड टॉम, विस्की और ब्रांडी आदि विदेशी मद्यों ने बहुधा ले लिया है।

सारांश कि स्वार्थपरायणता, अविद्या, आलस्य, बहुविवाह, मद्यपान और परस्पर की फूट तथा द्वेष के कारण जातिमात्र का लक्ष्य एक न होने से राजपूत निर्बल होते गये जिससे मुसलमानों ने आकर उनको पददलित कर कई एक के राज्य तो छीन लिये और शेष को अपनी अधीनता स्वीकार कराई, तब से उनकी दशा और भी गिरती गई।

तीसरा अध्याय

राजपूताने से संबंध रखनेवाले

प्राचीन राजवंश

प्राचीन काल से ही राजपूताना भारतवर्ष के इतिहास में केंद्र रूप रहा है। समय समय पर अनेक राजवंशों ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमाया जिनका लिखित इतिहास नहीं रहा और प्राचीन शोध का काम भी यहां अब तक नाममात्र को ही हुआ है जिससे सैंकड़ों नहीं, किंतु हज़ारों ऐसे प्राचीन स्थल इस देश में विद्यमान हैं, जहां किसी पुरातत्ववेत्ता का कभी पदार्पण भी नहीं हुआ। ऐसी दशा में भी अनेक विद्वानों के श्रम से जो कुछ प्राचीन इतिवृत्त आज तक ज्ञात हुए वे भी हमारे लिये तो बड़े महत्व के हैं। यदि उन्हीं के आधार पर मुसलमानों के समय से पूर्व इस देश अथवा इसके किसी विभाग पर राज्य करनेवाले प्राचीन राजवंशों का इतिहास लिखने का यत्न किया जाय तो कुछ सफलता अवश्य हो सकती है, परंतु जब तक यहां प्राचीन शोध का कार्य पूर्णरूप से न हो तब तक उसको अपूर्ण ही समझना चाहिये। राजपूताने का प्राचीन इतिहास लिखना असाधारण योग्यता और भगीरथ प्रयत्न का काम है जो किसी भावी विद्वान् को ही श्रेयस्कर होगा, तथापि यदि यहां के प्राचीन राजवंशों का कुछ भी परिचय न दिया जाय तो पाठक कैसे जान सकते हैं कि वर्तमान हिन्दू राजवंशों[1] अर्थात् गुहिल (गुहिलोत, सीसोदिया), राठोड़, चौहान, कछवाहा, यादव, झाला और जाटवंशों के अतिरिक्त किन किन राजवंशों का संबंध इस विस्तीर्ण देश के किस किस विभाग के साथ पहले कब

---

(१) इस अध्याय में यहां के वर्तमान हिन्दू राजवंशों अर्थात् गुहिल, राठोड़, कछवाहा, चौहान, यादव, झालों और जाटों का इतिहास छोड़ दिया गया है। गुहिल (गुहिलोत, सीसोदिया) वंशियों का प्राचीन इतिहास उदयपुर (मेवाड़) राज्य के इतिहास के प्रारंभ में, राठोड़ों का जोधपुर राज्य के, कछवाहों का जयपुर राज्य के, यादवों का करौली राज्य के, झालों का झालावाड़ राज्य के और जाटों का भरतपुर राज्य के इतिहास के प्रारम्भ में लिखा जायगा।

कब रहा था। इस त्रुटि को मिटाने के विचार से ही इस प्रकरण में केवल उक्त वंशों के राजाओं के नाम तथा किसी किसी के कुछ काम एवं निश्चित संवत्, जो अबतक के शोध से ज्ञात हुए, बहुत ही संक्षेप रूप में देने का यत्न किया जाता है।

रामायण और राजपूताना

राजपूताने में जहां अब रेगिस्तान है वहां पहले समुद्र लहराता था, परंतु भूकंप आदि प्राकृतिक कारणों से उस भूमि के ऊंची हो जाने पर समुद्र का जल दक्षिण में हट कर रेते का पुंजमात्र रह गया जिसको पहले मरुकांतार भी कहते थे। अब भी वहां सीप, शंख, कौड़ी आदि का परिवर्तित पाषाणरूप (Fossils) में मिलना इस कल्पना को पुष्ट करता है। रामायण से पाया जाता है कि दक्षिण सागर ने जब सेतु बंधवाना स्वीकारा तब रामचंद्र ने उसको भयभीत करने के लिये खैंचा हुआ अपना अमोघ बाण इधर फैंका जिससे समुद्र के स्थान में मरुकांतार हो गया[1]। इससे अधिक रामायण में राजपूताने के संबंध का और कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

महाभारत और राजपूताना

महाभारत से पाया जाता है कि राजपूताने का जांगल देश कुरु (पांडवों के) राज्य के अंतर्गत[2] था और मत्स्यदेश उनके अधीन या उनका मित्रराज्य था। पांडव बारह वर्ष के वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास में भेष बदले और कृत्रिम नाम धारण किये मत्स्यदेश के राजा विराट के यहां रहे थे। जब विराट के सेनापति और साले कीचक ने द्रौपदी का, जो मालिनी (सैरंध्री) के नाम से विराट की राणी सुदेष्णा की सेवा में रहती थी, अपमान किया, तो भीम

(१) तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सगरस्य महात्मनः।
मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात् ॥ ३२ ॥
तेन तन्मरुकांतारं पृथिव्यां किल विश्रुतम्।
निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः ॥ ३३ ॥

वाल्मीकीय [illegible]

(२) पैत्र्यं राज्यं महाराज [illegible]

[illegible]

ने, जो वलल नाम से रसोइया और पहलवान बनकर वहां रहता था, कीचक और उसके भाई बन्धुओं को मार डाला[1]।

जब पांडवों के अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने आई, उस समय उनके संबंध में विचार होने लगा तब त्रिगर्त (कांगड़ा) देश के राजा सुशर्म्मा ने, जिसको कीचक ने कई वार परास्त किया था, अपना बदला लेने के विचार से कहा कि मत्स्यराज पर चढ़ाई कर वहां का गोधन आदि छीन उसे अधीन कर लेने से अपना बल बढ़ जायगा। कर्ण ने इस कथन का अनुमोदन किया और दुर्योधन ने त्रिगर्त्तराजा को राजा विराट पर सैन्यसहित भेज दिया जिसने वहां पहुंचकर बहुतसी गायें हरण कर लीं। विराटराज अपने दलबल सहित उनको छुड़ाने चला, परंतु शत्रु के हाथ क़ैद हो गया तो गुप्त वेशधारी भीमसेन युद्ध कर उसको छुड़ा लाया और सुशर्मा को भी उसने पकड़ लिया, परंतु पीछा छोड़ दिया। सुशर्म्मा तो लज्जित होकर लौटा ही था[2], व राजा विराट पीछे आने भी नहीं पाया था कि इतने में दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि ने विराट की नगरी को घेर ली और वे साठ हज़ार गौ हरण कर ले चले। यह समाचार पाते ही विराट का कुमार उत्तर उनको छुड़ाने के लिये चढ़ा। अपने को नपुंसक बतलाकर बृहन्नला के नाम से रणवास में रहनेवाला अर्जुन, कुमार उत्तर का सारथी बना। कौरव सेना को देखते ही उत्तर के तो प्राण सूख गये और उसने घबराकर भागने का विचार किया, परंतु स्त्रीवेशधारी अर्जुन (बृहन्नला) ने उसे धैर्य्य बंधाया और उसे अपना सारथी बना कर स्वयं लड़ने को उद्यत हुआ। शमीवृक्ष पर धरे हुए अपने आयुध लेकर उसने स्त्रीवेश को त्याग वीरवेष धारण किया, अपने धनुष गांडीव की टंकार की, जिसको सुनते ही कौरव पक्ष के योद्धा ताड़ गये कि यह अर्जुन है। गणना करने से उन्हें ज्ञात हुआ कि वनवास के समय से लगाकर अब तक तेरह वर्ष के ऊपर कुछ मास व्यतीत हो चुके हैं इसीसे अब पाण्डव प्रकट हुए हैं।

फिर भीष्म की सम्मति से यह स्थिर हुआ कि ग्रहण की हुई गौओं और दुर्योधन को तो (कौरवों की) राजधानी को भेज दिया जाय और शेष योद्धा लड़ने की तय्यारी करें। अर्जुन ने अपना रथ दुर्योधन के पीछे दौड़ाया, परंतु

(१) 'महाभारत' विराटपर्व, अध्याय १६–२८।

(२) वही; विराटपर्व, अध्याय ३४–३५।

कौरवपक्ष के योद्धा उसको रोकने के लिये आन पहुंचे, तब उसने अपने बल से उन सब को परास्त कर गौओं को छुड़ा लिया। लौटते समय उसने कुमार उत्तर से कहा कि यह बात केवल तुम ही जानते हो कि हम पांडव तुम्हारे पिता के आश्रय में रहते हैं, अतः इस गुप्तभेद को उचित समय आने तक किसी पर प्रकट मत करना। फिर अर्जुन ने अपना स्त्रीवेश धारण कर उत्तर का रथ हांकते हुए विजय के साथ विराट की राजधानी में प्रवेश किया। कौरवों को हराने के समाचार जब राजा विराट के पास पहुंचे उस समय वह कंक नामधारी युधिष्ठिर के साथ पासा खेल रहा था। अपने पुत्र की विजय के समाचार सुनकर राजा विराट को बड़ा हर्ष हुआ और वह उसकी प्रशंसा करने लगा, जिसको सुनकर कंकरूपी युधिष्ठिर ने कहा कि बृहन्नला जिसकी सहायता करे उसके विजय में संदेह ही क्या है? इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर हाथ में धरा हुआ पासा युधिष्ठिर के नाक पर मार दिया जिससे उसके नाक से रुधिर बहने लगा। इतने में कुमार उत्तर वहां आन पहुंचा और युधिष्ठिर की ऐसी दशा देखकर पूछने लगा कि यह क्या बात है? कारण जानने पर उसको बड़ा खेद हुआ और उसने पिता से निवेदन किया कि महाराज आपने यह अनुचित्त कार्य किया, क्यों-कि मुझे जो विजय प्राप्त हुई है वह मेरे बाहुबल से नहीं, किंतु एक दिव्य पुरुष के पराक्रम का फल है, उक्त पुरुष के दर्शन आप शीघ्र ही करेंगे। फिर पांडवों और द्रौपदी ने अपने नाम प्रकट कर अपना परिचय दिया तब तो राजा विराट को अपनी चेष्टा पर बड़ा शोक हुआ और साथ ही उनको पाण्डव जानकर हर्ष भी मनाया। राजा ताड़ गया कि वह दिव्य पुरुष और कोई नहीं किंतु अर्जुन ही था जिसके बाहुबल से उत्तर को विजय मिली है। तत्पश्चात् विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने की इच्छा
ने इसे नहीं स्वीकारा तब राजा ने उसका विवाह
साथ कर दिया[1]। उत्तरा ही से परीक्षित का जन्म

पांडवों के प्रकट होने के पीछे उनका राज्य-
ने इन्कार किया इसीसे महाभारत के घोर संग्राम का
भिन्न प्रदेश के राजाओं में से कोई कौरव-पक्ष और को
लित हुए, राजा विराट एक अक्षौहिणी सेना सहित

(१) 'महाभारत'; विराटपर्व, अ० ६७-६८।

को गया। वह उस (युधिष्ठिर) के महारथियों में से एक था और शिखंडी की सहायता पर बड़ी वीरता से युद्ध कर द्रोणाचार्य के हाथ से ५०० वीरों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ[१]। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने मत्स्यराज के बचे हुए सैन्य का संहार किया। विराट के ग्यारह भाई शतानीक, मदिराद्ध (मदिराश्व), सूर्यदत्त, श्रुतानीक, श्रुतध्वज, बलानीक, जयानीक, जयाश्व, रथवाहन, चंद्रोदय और समरथ[२], तथा दो राणियां सुरथा और सुदेष्णा और तीन पुत्र उत्तर, शंख और श्वेत नाम के थे जिनमें से शंख और श्वेत सुरथा से और उत्तर कीचक की बहन सुदेष्णा से उत्पन्न हुआ था[३]। शंख भारत-युद्ध में लड़कर द्रोणाचार्य के हाथ से मारा गया था[४]। श्वेत भी उसी युद्ध में भीष्मपितामह के हाथ से मारा गया[५] और उत्तर ने भी शल्य के हाथ से वीरगति प्राप्त[६] की।

यहां तक का राजपूताने के मत्स्यदेश के राजा विराट[७] तथा उसके पुत्रों का वृत्तांत महाभारत से बहुत ही संक्षिप्तरूप से उद्धृत किया है।

जैसे मत्स्यदेशवालों का वृत्तांत महाभारत में मिलता है वैसे ही शूरसेन देश के यादवों का वर्णन भी मिलता है, परंतु हम ऊपर लिख आये हैं कि यादव वंश का वर्णन करौली के इतिहास में करेंगे इसी लिये यहां उसका उल्लेख नहीं किया है।

महाभारत के युद्ध से लगाकर वि० सं० पूर्व २६४ (ई० स० पूर्व ३२१) में चंद्रगुप्त द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने तक का राजपूताने का प्राचीन

---

(१) 'महाभारत' द्रोणपर्व, अध्याय १८७ । ४२ ।

(२) वही; विराटपर्व, अध्याय, ३३ । १६–२१ ।

(३) वही; विराटपर्व, अध्याय २१ । १७–१८ ।

(४) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ८२ । २३ ।

(५) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ४८ । ११ ।

(६) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ४७ । ३५ ।

(७) जयपुर राज्य का विराट (वैराट) नगर, राजा विराट का बसाया हुआ और मत्स्यदेश की राजधानी माना जाता है। विराट या वैराट नाम के कई स्थान भारतवर्ष में हैं, जैसे कि बदनोर (मेवाड़ में) का पुराना नाम वैराट, बंबई इहाते के हांगल तालुके में वैराट नगर आदि। भिन्न भिन्न स्थानों के लोग पांडवों का अज्ञात वास में उक्त स्थानों में रहना प्रकट करते हैं, परंतु मत्स्यराज का विराट या वैराट नगर जयपुर राज्य का ही वैराट है।

इतिहास अब तक बिलकुल अंधकार में ही है, अतएव उसको छोड़ कर मौर्य वंश से ही प्राचीन राजवंशों का वर्णन किया जाता है।

मौर्य वंश

मौर्य (मोरी) वंश की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ० ५८-६१) विस्तार के साथ लिख चुके हैं कि वे सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। भाटों की ख्यातों में कहीं उनको परमार और कहीं चौहान बतलाया है जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि मौर्य राज्य की स्थापना के समय तक न तो परमार और न चौहानों का उक्त नामों से प्रसिद्ध होने का कहीं उल्लेख मिलता है। मौर्य वंश का प्रताप बहुत बढ़ा और उस वंश के राजा चंद्रगुप्त और अशोक के नाम द्वीपांतर में भी प्रसिद्ध हुए। वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड, विष्णु तथा भागवत पुराणों में इस वंश के राजाओं की नामावली मिलती है।

(१) चंद्रगुप्त—मौर्य वंश के प्रतापी राज्य का संस्थापक हुआ और नंद वंश का राज्य छीनकर विक्रम संवत् से २६४ वर्ष पूर्व (ई० स० से ३२१ वर्ष पूर्व) पाटलीपुत्र (पटना, बिहार में) के राज्य सिंहासन पर बैठा। इसने क्रमशः सिंधु से गंगा के मुख तक और हिमालय से विंध्याचल के दक्षिण तक के देश अर्थात् सारा उत्तरी हिन्दुस्तान अपने अधीन किया, जिससे राजपूताना भी इसके राज्य के अंतर्गत रहा[1]। जिस समय यूनान (ग्रीस) का बादशाह सिकंदर हिन्दुस्तान (पंजाब और सिंध) में था, तब से ही चंद्रगुप्त अपने राज्य की नींव डाल रहा था और सिकंदर के यहां से लौटते ही उसने पंजाब से यूनानियों को निकाल कर उधर के प्रदेश भी अपने अधीन किये। उसका मुख्य सहायक प्रसिद्ध नीतिज्ञ विद्वान् चाणक्य (कौटिल्य, विष्णुगुप्त) ब्राह्मण था। सिकंदर का देहांत होने पीछे वि० सं० से २४८ वर्ष पूर्व (ई० स० से ३०५ वर्ष पूर्व) सीरिया का यूनानी बादशाह सेल्युकस निकेटार सिकंदर का विजय किया हुआ हिन्दुस्तान का प्रदेश पीछा लेने की

(१) राजपूताने में जयपुर राज्य के वैराट नामक प्राचीन नगर में चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक के लेख मिले हैं। जूनागढ़ (काठियावाड़ में) के निकट अशोक के लेखवाले चट्टान पर खुदे हुए महाक्षत्रप रुद्रदामा के समय के शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) से कुछ पीछे के लेख से पाया जाता है कि वहां का सुदर्शन नामक तालाव मौर्य चंद्रगुप्त के राज्य में बना था।

इच्छा से सिंधु को पारकर चढ़ आया; परंतु चंद्रगुप्त से हार जाने पर काबुल हिरात, क़ंदहार और बलूचिस्तान (पूर्वी अंश) के प्रदेश उसको देकर अपनी पुत्री[1] का विवाह भी उस (चंद्रगुप्त) के साथ कर दिया। इस प्रकार संधि हो जाने पर चंद्रगुप्त ने अपने श्वसुर को ५०० हाथी देकर उसका सम्मान किया। फिर सेल्युकस ने मैगास्थिनीज़ नामक पुरुष को अपना राजदूत बनाकर चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा, जिसने 'इंडिका' नामकी पुस्तक में उस समय का इस देश का बहुतसा हाल लिखा था, परंतु खेद की बात है कि वह अमूल्य ग्रंथ नष्ट हो गया, अब तो केवल उसमें से जो अंश स्ट्रैबो, आर्यन, प्लीनी आदि ग्रंथकारों ने प्रसंगवशात् अपनी पुस्तकों में उद्धृत किये वे ही मिलते हैं। उनमें से कुछ बातें पाठकों को उक्त महाराजा का बल, वैभव, नीति, रीति आदि का अनुभव कराने को नीचे लिखी जाती हैं—

चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) बड़ा सुन्दर, अनुमान ९ मील लंबा और डेढ़ मील चौड़ा नगर है, जिसकी चारों ओर लकड़ी का विशाल प्राकार (परकोटा) बना है। उसमें ६४ दरवाज़े और ५७० बुर्जें हैं। प्राकार

---

(१) पहले भारत में विवाह-संबंध प्राचीन प्रणाली के अनुसार होता था अर्थात् प्रत्येक वर्णवाले अपने तथा अपनेसे नीचे के वर्णों में विवाह कर सकते थे। राजा शांतनु ने धीवर की पुत्री योजनगंधा से और भीम ने दानव कुल की हिडिंबा से विवाह किया था। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। चंद्रगुप्त ने यूनानी राजा सेल्युकस की पुत्री के साथ विवाह किया इस बात के सुनने से कदाचित् हमारे पाठक चौंक जायंगे, परंतु वास्तव में चौंकने की कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय तक तो ईसाई या मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था और आर्य जाति सारे पश्चिमी एशिया से आगे बढ़कर यूनान या उससे भी परे तक फैल गई थी और उस समय वहां भी भारतवासियों के समान सूर्य तथा अनेक देवी देवताओं की मूर्त्तियां पूजी जाती थीं। चंद्रगुप्त ने एक वैश्य कन्या से भी विवाह किया था और उसका साला वैश्य पुष्यमित्र सुराष्ट्र (सोरठ) देश का शासक था, जिसने गिरनार के निकट का प्रसिद्ध सुदर्शन तालाब बनवाया था (इं० ऐं; जि० ७, पृ० २६०; २६२)। क्षत्रियों का वैश्यों के साथ विवाह-संबंध बहुत पीछे तक भी होता रहा। वि. सं. की ८ वीं शताब्दी के आस पास होनेवाले प्रसिद्ध कवि दंडी के 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलीपुत्र (पटना) के वैश्य वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था। सागरदत्ता से वसुंधरा नाम की पुत्री का जन्म हुआ जो विदर्भ के भोजवंशी राजा अनंतवर्मा को ब्याही गई; जिसका पुत्र भास्करवर्मा था ('दशकुमारचरित' में विश्रुत का वृत्तान्त)।

की चारों ओर २०० गज चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाई सदा जल से भरी रहती है। चंद्रगुप्त की सेना में ६००००० पैदल, ३०००० सवार, ९००० हाथी और हज़ारों रथ हैं। राजमहल सुंदरता में संसार में सब से बढ़कर है, जहां रमणीय और चित्त को मोहित करनेवाले नाना प्रकार के वृक्ष, वेलि आदि लगे हैं। राजा प्रतिदिन राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा की फर्याद सुनता और उनका न्याय करता है। राज्यशासन का सब कार्य भिन्न भिन्न समितियों के द्वारा होता है। कारीगरों का पूरा सम्मान है। यदि कोई किसी कारीगर का हाथ या पांव तोड़ डाले या आंख फोड़ डाले तो उसको प्राणदंड दिया जाता है। मुसाफिरों के आराम पर ध्यान दिया जाता है और बीमारों की सेवा शुश्रूषा के लिये औषधालय बने हुए हैं। प्रवासियों के अंतिम संस्कार का अच्छा प्रबंध ही नहीं, किंतु उनकी संपत्ति भी उनके वारिसों के पास पहुंचा दी जाती है। नये वर्ष के प्रारंभ के दिन विद्वानों की सभा राजा के सन्मुख होती है जहां जो लोग कृषि, पशु और प्रजा की उन्नति के विषयों पर अपनी उत्तम संमति प्रकट करते उनको पुरस्कार मिलता है। कृषि के लाभ के लिये जगह जगह नहरें बनी हुई हैं और कृषक सुख शांति के साथ खेती बाड़ी का काम करते हैं। सड़कों पर कोस कोस के अंतर पर स्तंभ खड़े हुए हैं, जिनसे स्थानों की दूरी और मार्गों का पता लगता है। चोरी बहुत कम होती है। ४००००० सेना के पड़ाव में २०० द्रम्म (५० रुपये) से अधिक की चोरी कभी सुनी नहीं गई। लोग विश्वास पर ही कारोबार करते और आपस में मेलजोल के साथ आनंद से रहते हैं[1]।

चंद्रगुप्त के मंत्री कौटिल्य (चाणक्य) के लिखे हुए 'अर्थशास्त्र' से उस समय की थोड़ी सी बातों का उल्लेख यहां इसलिये किया जाता है कि पाठकों को उस समय एवं उसके पूर्व की राजनीति का कुछ ज्ञान हो जावे—

राजा का विद्वान्, प्रजापालक पुरुषार्थी, परिश्रमी और न्यायशील होना आवश्यक था। योग्य पुरुषों को ही राज्य के अधिकार दिये जाते और उनपर भी गुप्तचरों द्वारा पूरा निरीक्षण रक्खा जाता था। गुप्तचर स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के होते जो भेष बदले विद्यार्थी, गृहस्थी, किसान, संन्यासी, जटाधारी, व्यापारी, तपस्वी आदि अनेक रूप में जहां तहां विचर कर सब प्रकार की

(१) इं० एं; जि० ६, पृ० २३६–४०।

ठीक ठीक खबरें राजा के पास पहुंचाया करते थे। वे लोग भिन्न भिन्न देशों की भाषा, पोशाक, रीतिरिवाज और रहन सहन को जाननेवाले होते थे। राजकुमारों पर पूरी दृष्टि रक्खी जाती और यदि वे पितृद्वेषी होते तो किसी दूर के सुरक्षित स्थान में क़ैद कर दिये जाते या कभी कभी मार भी डाले जाते थे। राजसेवकों को वेतन रोकड़रूप में दिया जाता और भूमि भी दी जाती थी जिसको न तो वे बेच सकते और न गिरवी रख सकते थे। किसानों को भूमि पक्की नहीं, किंतु खेती के लिये दी जाती थी। कृषि की उन्नति का पूरा प्रबंध था। उसके लिये एक विभाग बना हुआ था जिसका प्रबंधकर्ता 'सीताध्यक्ष' कहलाता था। भूमि की उपज का छठा भाग राजा लेता था। भूमि की सिंचाई के लिये नहरें, तालाब, कुएं आदि बनवाये जाते, खानों से धातुएं आदि निकाली जातीं, कारखाने चलते, जंगल सुरक्षित रक्खे जाते और लकड़ी तथा सब प्रकार की जंगल की पैदाइश से व्यवसायिक द्रव्य तय्यार किये जाते थे। स्थल और जल के व्यापार के मार्ग सुरक्षित रहते; अनाथ बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त तथा अपाहिजों का भरण पोषण राज की तरफ से किया जाता था। राज्य की सीमा पर के जंगलों से हाथी पकड़े जाते थे। कोष्ठागार (कोठार) में एक अरत्नि (२४ अंगुल) के मुखवाला वृष्टि नापने का पात्र रक्खा जाता था। व्यापारी आदि को सदा शुद्ध पदार्थ बेचना पड़ता था। राज्य की आय व्यय का हिसाब ब्यौरेवार उत्तम रीति से रखने की व्यवस्था थी। हिसाब के काम का अधिकारी 'गणनिक्य' और उस विभाग का नाम 'अक्षपटल' था। रत्नपरीक्षा का ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था; लोहा, तांबा, सोना, चांदी आदि सभी प्रकार के खनिज द्रव्य खानों से निकाले जाते; सिक्के सोने, चांदी और तांबे के बनते थे। सुनारों के बनाये हुए आभूषणों की जांच राज की कसौटीद्वारा की जाती और उनमें खाद डालने के नियम भी बंधे हुए थे। बाट और नाप राज की ओर से दिये जाते थे। कृत्रिम सुवर्ण बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। दाण (चुंगी) आयात (प्रवेश) और निर्यात (निकास) माल पर बंधा हुआ लिया जाता था। नाना प्रकार की मदिरा बनती और आबकारी के विभाग का भी योग्य प्रबंध था। पशुविद्या (शालिहोत्र) का अर्थात् गाय, बैल, भैंस, घोड़े, हाथी, ऊंट आदि जानवरों की जातियों, लक्षण, खानपान, एवं स्थान आदि जानने और उनके रोगों की चिकित्सा करने का पूर्ण ज्ञान था और उनपर सवारी करने या बोझा लादने

आदि के नियम भी बंधे हुए थे। पशु चुरानेवाले को प्राणदंड तक दिया जाता था। न्याय के लिये दीवानी और फौजदारी अदालतें खुली हुई थीं और उनके क़ानून भी बने हुए थे। दुर्भिक्ष-निवारण के लिये स्थल स्थल पर अन्न के भंडार सुरक्षित रहते थे। चर्म, वल्कल, ऊन, सूत आदि के वस्त्र स्थान स्थान पर बनते और वृद्ध, विधवा, लूली, लंगड़ी आदि स्त्रियें भी सूत काता करती थीं। मरे हुए पशुओं के चर्म, हड्डी, दांत, सींग, खुर, पूंछ आदि काम में लाये जाते थे। नाना प्रकार के अस्त्र, जैसे कि स्थितियंत्र, सर्वतोभद्र (सब तरफ मार करनेवाला), जामदग्न्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघाटी, आग लगाने और बुझाने आदि के यंत्र बनाने की विद्या उन्नत दशा में थी। उपदंश (गर्मी) और सुज़ाक के रोगियों की चिकित्सा करनेवाले वैद्यों को पुलिस में उनकी इत्तिला करनी पड़ती थी, यदि वे ऐसी सूचना न देते तो दंड के भागी होते थे। मज़दूर और कारीगरों की रक्षा की जाती और इस विषय के भिन्न भिन्न कामों के लिये भिन्न भिन्न नियम बने हुए थे। ज़िले व परगनेवार ग्रामों की संख्या रहती और मनुष्यगणना तथा पशुगणना भी समय समय पर हुआ करती थी। सारांश कि सभ्य और सुशिक्षित राज्य और प्रजा के हित के लिये जितनी उत्तम बातों का प्रबंध होना चाहिये वह सब उस समय बराबर होता था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में जो जो बातें लिखी हैं उनका विशेष वर्णन करने के लिये यहां स्थान नहीं है, जिनको विशेष जिज्ञासा हो वे उस पुस्तक का हिंदी अनुवाद देख लेवें।

चंद्रगुप्त का २४ वर्ष राज्य करना पुराणों से पाया जाता है। उसने अपने राज्याभिषेक के वर्ष से 'मौर्य संवत्' चलाया, परंतु उसका विशेष प्रचार न हुआ। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बिंदुसार हुआ।

(२) बिंदुसार का नाम पुराणों में भद्रसार (वारिसार) भी लिखा मिलता है। ग्रीक (यूनानी) लेखकों ने उसका नाम 'अमिट्रोचेटि' लिखा है जो संस्कृत 'अमित्रघाती' (शत्रुओं को नष्ट करनेवाला) से मिलता हुआ है। शायद यह उसका विरुद (खिताब) हो। उसने अपने पिता के स्थापित किये हुए महाराज्य को यथावत् बना रक्खा और यूनानियों के साथ भी उसका संबंध पूर्ववत् बना रहा। सीरिआ के बादशाह ऐंटिऑकस् सोटर ने अपने राज-दूत डिमैकस् को, और मिसर के पादशाह टालमी फिलाडेल्फस् ने अपने राज-दूत डायोनिसिअस् को उसके दरबार में भेजा था। बिन्दुसार ने २५ वर्ष राज्य

किया। उसके कई राणियां और कुंवर थे जिनमें से अशोक उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(२) अशोक मौर्यों में सब से अधिक प्रतापी और क़रीब क़रीब सारे हिंदुस्तान का स्वामी हुआ। वि० सं० २१५ वर्ष पूर्व (ई० स० से २७२ वर्ष पूर्व) वह सिंहासन पर बैठा और वि० सं० से २१२ वर्ष पूर्व (ई० स० से २६९ वर्ष पूर्व) उसके राज्याभिषेक का उत्सव मनाया गया। उसने अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष पीछे कलिंग (उड़ीसा) देश विजय किया, जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ देखकर उसकी रुचि बौद्ध धर्म की ओर झुकी हो ऐसा प्रतीत होता है। बौद्ध धर्म ग्रहण कर उसके प्रचार के लिये उसने तन, मन और धन से पूरा प्रयत्न किया, अपनी धर्माज्ञा प्रजा की जानकारी के निमित्त पहाड़ी चटानों तथा पाषाण के विशाल स्तंभों पर कई स्थानों में खुदवाई, जो शहबाज़गढ़ी (पेशावर ज़िले में), कालसी (संयुक्त प्रदेश के देहरादून ज़िले में), रुम्मिनीदेई और निग्लिवा (दोनों नेपाल की तराई में); ली, इलाहाबाद, सारनाथ (बनारस के पास), वैराट (राजपूताना के पुर राज्य में), लौरिया अरराज अथवा रधिया, लौरिया नवंदगढ़ अथवा मथिया, रामपुरवा (तीनों बिहार के चंपारन ज़िले में), सहसराम (बिहार के शाहाबाद ज़िले में), बराबर (बिहार में गया के निकट), रूपनाथ (मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले में), सांची (भोपाल राज्य में), गिरनार (काठियावाड़ में), सोपारा (बंबई से ३७ मील उत्तर में), धौली (उड़ीसे के पुरी ज़िले में), जौगड़ (मद्रास इहाते के गंजाम ज़िले में), ब्रह्मगिरि, सिद्धापुर और जतिंगरामेश्वर (तीनों माइसोर राज्य के चितलदुर्ग ज़िले में) और मास्की (निज़ाम राज्य के रायचूर ज़िले में) में मिल चुकी हैं। इन स्थानों से उसके राज्य के विस्तार का अनुमान हो सकता है। उन आज्ञाओं से पाया जाता है कि अशोक ने अपने रसोई घर में, जहां प्रतिदिन हज़ारों जीव भोजनार्थ मारे जाते थे उनको जीवदान देकर केवल दो मोर और एक हिरन प्रतिदिन मारने की आज्ञा दी, इतना ही नहीं, किंतु पीछे से उन्हें भी जीवदान देने की इच्छा प्रकट की। अपने राज्य में मनुष्य और पशुओं के लिये औषधालय स्थापित किये। सड़कों पर जगह जगह कूएं खुदवाये, वृक्ष लगवाये और धर्मशालाएं बनवाईं। अपनी प्रजा में माता पिता की सेवा करने; मित्र, परिचित, संबंधी,

ब्राह्मण तथा श्रमणों (बौद्ध साधुओं) का सम्मान करने; जीवहिंसा, व्यर्थव्यय, एवं परनिंदा को रोकने; दया, सत्यता, पवित्रता, आध्यात्मिक ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करने का प्रबंध किया, तथा धर्ममहामात्र नामक अधिकारी नियत किये जो प्रजा के हित तथा सुख का यत्न करते; शहर, गांव, राजमहल, अंतःपुर आदि सब स्थानों में जाकर धर्मोपदेश करते तथा धर्मसंबंधी सब कामों को देखते रहते थे। कई एक दूत (प्रतिवेदिक) भी नियत किये जो प्रजासंबंधी खबरें राजा के पास पहुंचाया करते थे, जिनको सुनकर प्रजा के सुख के लिये योग्य प्रबंध किया जाता था। पशुओं को मारकर यज्ञ करने की राज्य भर में मनाई करदी गई थी; चौपाये, पक्षी तथा जलचरों एवं बच्चेवाली भेड़ बकरी तथा शूकरी को, ऐसे ही छः मास से कम अवस्थावाले उनके बच्चों को मारने की रोक की गई। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा अन्य नियत दिनों में सब प्रकार की जीवहिंसा रोक दी गई। बैलों को आंकने तथा बैल, बकरे, मेंढे या सूअरों को अक्षता करने, जंगलों में आग लगाने तथा जीवहिंसा से संबंध रखनेवाले बहुधा सब काम बंद कर दिये गये थे। वह सब धर्मवालों का सम्मान करता; मनुष्य के लिये सृष्टि का उपकार करने से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है ऐसा मानता हुआ उसीके लिये यत्न करता; क्रोध, निर्दयता, अभिमान तथा ईर्षा को पाप मानता; ब्राह्मणों तथा श्रमणों के दर्शनों को लाभदायक समझता; प्रजा की भलाई में दत्तचित्त रहता और दंड देने में दया करता था।

वह अपने दादा चंद्रगुप्त से भी अधिक प्रतापी हुआ। उसकी मैत्री भारतवर्ष से बाहर दूर दूर के विदेशी राजाओं से थी, जिनमें से ऐंटिओकस दूसरा (सीरिआ का), टॉलमी फिलाडेल्फस (मिसर का), ऐंटिगॉनस (मकदूनिया का), मेगस (सीरीन का) और अलेग्जैंडर (इपीरस का) के नाम इसके मुख्य पहाड़ी चटानों की धर्माज्ञाओं में मिलते हैं। जीवहिंसा को रोकने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये दूर देशान्तरों में उसने उपदेशक भेजे थे और असंख्य बौद्ध स्तूप भी बनवाये जिनका उल्लेख चीनी यात्री फाहियान और हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तकों में मिलता है। पुराणों में अशोक का ३६ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुनाल हुआ और दूसरे पुत्र जलौक को कश्मीर का राज्य मिला[1]।

(१) इं. ऐं. जि० १८, पृ० ६८।

(४) कुनाल के स्थान में सुयशा नाम भी पुराणों में मिलता है जो उसका बिरुद होना चाहिये। उसका पुराणों में आठ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसके पीछे उसका पुत्र दशरथ राज्य पाया।

(५) दशरथ के शिलालेख नागार्जुनी गुफा (गया के निकट) में खुदे हुए हैं जिनसे पाया जाता है कि वे गुफाएं आजीवकों को दी गई थीं[1]। बौद्धों के दिव्यावदान नामक पुस्तक में तथा जैनों के परिशिष्टपर्व, विचारश्रेणी तथा तीर्थकल्प से पाया जाता है कि कुनाल का पुत्र संप्रति[2] था। इससे अनुमान होता है कि मौर्य राज्य कुनाल के दो पुत्रों (दशरथ और संप्रति) में बंटकर पूर्वी विभाग दशरथ के और पश्चिमी संप्रति के अधिकार में रहा हो। संप्रति की राजधानी कहीं पाटलीपुत्र और कहीं उज्जैन लिखी मिलती है। राजपूताना, मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ के कई प्राचीन मंदिरों को, जिनके बनानेवालों का पता नहीं चलता, जैन लोग राजा संप्रति के बनाये हुए मान लेते हैं। यद्यपि वे मंदिर इतने प्राचीन नहीं कि उनको संप्रति के समय के बने हुए कह सकें, तो भी इतना माना जा सकता है कि इन देशों पर संप्रति का राज्य रहा हो और कितने एक जैन मंदिर उसने अपने समय में बनवाये हों। तीर्थ कल्प में यह भी लिखा है कि परमार्हत संप्रति ने अनार्य देशों में भी विहार (मंदिर) बनवाये थे[3]।

पुराणों के अनुसार दशरथ के पीछे पाटलीपुत्र की गद्दी पर संगत (इंद्रपालित), सोमशर्मा (देववर्मा), शतधन्वा (शतधर) और बृहद्रथ राजा हुए।

(१) आजीवक भगवान् बुद्ध और जैनों के २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन मक्खलीपुत्र गोशाल के मतावलम्बियों को कहते थे। कई विद्वान् उनको वैष्णव (भागवत) सम्प्रदाय के और कई दिगंबर जैन सम्प्रदाय के साधु बतलाते हैं, यद्यपि गोशाल के पूर्व भी इस सम्प्रदाय के दो और गुरुओं के नाम मिलते हैं। जैन कल्पसूत्र के अनुसार गोशाल पहले महावीरस्वामी का शिष्य था, परंतु फिर उनसे पृथक् होकर उसने अपना अलग पंथ चलाया। वही आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य भी बना। इस सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते और बस्ती के बाहर निवास करते थे।

(२) पुराणों की हस्तलिखित पुस्तकों में बहुधा संप्रति का नाम नहीं मिलता तो भी वायुपुराण की एक हस्तलिखित प्रति में दशरथ के पुत्र का नाम संप्रति दिया है और मत्स्यपुराण में 'सप्तति' पाठ मिलता है जो संप्रति का ही अशुद्ध रूप है (पार्जिटर; 'दी पुरान टेक्स्ट ऑफ् दी डाइनेस्टीज़ ऑफ दी कलि एज;' पृ० २८ और टिप्पण ६।

(३) 'बंबई गेज़ेटियर; जि० १, भाग १, पृ० १५ और टिप्पण २।

बृहद्रथ के सेनापति सुंगवंशी पुष्यमित्र ने उसे मारकर उसका राज्य छीन लिया।

संप्रति के वंश का राजपूताने से संबंध रखनेवाला शृंखलाबद्ध कुछ भी इतिहास नहीं मिलता, तो भी राजपूताने में विक्रम की आठवीं शताब्दी तक मौर्यों का कुछ कुछ अधिकार रहने का पता लगता है।

राजपूताने के पिछले मौर्यवंशी राजा

चित्तोड़ का क़िला मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) ने बनाया ऐसा प्रसिद्ध है और जैन ग्रंथों में लिखा भी मिलता है[1]। चित्तोड़ पर का एक तालाब चित्रांग (चित्रांगद) मोरी का बनवाया हुआ माना जाता है और उसको चत्रंग कहते हैं। मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय के वि. सं. १३४४ (ई. स. १२८७) के चित्तोड़ के शिलालेख में 'चित्रंग तड़ाग' नाम से उसका उल्लेख है। चित्तोड़गढ़ से कुछ दूर मानसरोवर नामक तालाब पर राजा मान का, जो मौर्यवंशी माना जाता है, एक शिलालेख वि० सं. ७७० (ई. स० ७१३) का कर्नल् टॉड को मिला[2] जिसमें माहेश्वर, भीम, भोज और मान ये चार नाम क्रमशः दिए हैं। राजा मान वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) में विद्यमान था और उसीने वह तालाब बनवाया था। राजपूताने में ऐसी प्रसिद्धि है कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा (कालभोज) ने मान मोरी से चित्तोड़गढ़ लिया था।

कोटे के निकट कणसवा (कण्वाश्रम) के शिवालय में एक शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ७९५ (ई० स० ७३८) का[3] लगा हुआ है जिसमें मौर्यवंशी राजा धवल का नाम है। उसके पीछे राजपूताना के मौर्यों का कुछ भी वृत्तांत नहीं मिलता। अब तो राजपूताने में कोई मौर्यवंशी (मोरी) रहा ही नहीं है। पिछले समय में राजपूताने के समान बंबई इहाते के खानदेश पर भी मौर्यों का अधिकार रहा था। वाघली गांव से मिले हुए शक संवत् ९९१ (वि० सं० ११२६ ई० स० १०६९) के शिलालेख में वहां के २० मौर्य राजाओं के नाम मिलते हैं, जिनके वंशज अब तक दक्षिण में पाये जाते और मोरे कहलाते हैं।

---

(१) *तत्र चित्राङ्गदश्चक्रे दुर्गं चित्रनगोपरि ॥ १० ॥*
नगरं चित्रकूटाख्यं देवेनतदधिष्ठितम्....॥ ११ ॥

कुमारपालप्रबंध, पत्र ३०। २।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० ९१९-२२।

(३) इं० ऐं० जि० १९, पृ० ५५-५७।

मालव

जैसे यौधेय, अर्जुनायन आदि प्राचीन जातियां थीं वैसे ही मालव नाम की भी एक प्राचीन जाति थी, जिसका अधिकार अवंती (पश्चिमी मालवा) और आकर (पूर्वी मालवा) पर रहने से उन देशों का नाम मालव (मालवा) हुआ। मालवों का अधिकार राजपूताने में जयपुर राज्य के दक्षिणी अंश, कोटा तथा झालावाड़ राज्यों पर, जो मालवे से मिले हुए हैं, रहा हो ऐसा अनुमान होता है। वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आस पास की लिपि के कितने एक तांबे के सिक्के जयपुर राज्य के उणियारा के निकट प्राचीन 'नगर' (कर्कोटक नगर) के खंडहर से मिले हैं, जिनपर 'मालवानां जय' (मालव जाति की विजय) लेख है[1]। कितने एक बहुत छोटे छोटे उनके तांबे के सिक्के भी मिले हैं जिनमें से कई एक को पास पास रखने से उनपर का पूरा लेख 'जय मालवगणस्य[2]' (मालवगण की विजय) पढ़ा जाता है। ये सिक्के मालवगण या मालव जाति की विजय के स्मारक हैं। ऐसे ही कितने एक छोटे छोटे सिक्कों पर उक्त गण या जाति के राजाओं के नाम भी अंकित किये गये हों ऐसा अनुमान होता है, परंतु ऐसे छोटे सिक्कों पर उनके नाम और विरुद का अंशमात्र ही आने से उन नामों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों ने उनके नाम पढ़ने का यत्न किया है और २० नाम प्रकट भी किये हैं[3] जो विलक्षण एवं अस्पष्ट हैं। उन्हीं अस्पष्ट पढ़े हुए नामों पर से कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना कर डाली है कि मालव एक विदेशी जाति थी, परंतु हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। अब तो मालव जाति का नाम निशान भी नहीं रहा है।

(१) स्मि; कै० कॉ० इं० म्यू० ३ पृ० १७०-७२।

(२) वही, पृ० १७३-७४।

(३) ये नाम इस तरह पढ़े गये हैं—भपंयन, यम (या मय) मजुप, मपोजय, मपय, मगजश, मगज, मगोजय, गोजर, माशप, मपक, यम, पछ, मगच्छ (?), गजव, जामक, जमपय, पय, महराय और मरज, (वही, पृ० १७४-१७८)। इनमें से महाराय तो ख़िताब है और बाकी के नाम सिक्कों पर लेख के दो या चार अक्षर चाहे जहां के पाये उनको असंबद्ध जोड़कर ये नाम अटकलपच्चू धर दिये गये हैं। जब तक ख़िताब और पूरे नाम सहित स्पष्ट सिक्के न मिल आवें तब तक हम इन नामों में से एक को भी शुद्ध नहीं कह सकते।

यूनानी या यवन (ग्रीक) राजा

अशोक के लेखों में यूनानी (ग्रीक) राजाओं को 'योनराज' कहा है। 'योन' संस्कृत के 'यवन'[1] शब्द का प्राकृत रूप ही है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'यवनानी' शब्द मिलता है जिसका आशय 'यवनों की लिपि' है। पीछे से यवन शब्द भारतवर्ष के बाहर की ईरानी, मुसलमान आदि सब जातियों के लिये व्यवहार में आने लगा। यूनान के बादशाह सिकंदर ने पंजाब तथा सिंध के जो अंश अपने अधीन किये थे वे तो पांच वर्ष भी यूनानियों के अधिकार में रहने न पाये, परंतु हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर में बाक्ट्रिया (बलख़) में उनका राज्य जम गया था। वहां के राजा डेमिट्रियस ने, जो युथीडिमस् का पुत्र था, हिंदुकुश को पारकर अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर वि० सं० पूर्व १३३=ई० स० पूर्व १९० के आसपास अपना अधिकार जमाया। उन प्रदेशों पर यूनानियों के एक से अधिक स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, जहां २५ से अधिक राजाओं ने[2] राज किया, परंतु उनका शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। उनके अधिकतर सिक्के ही मिले हैं, जिनकी एक ओर प्राचीन ग्रीक लिपि और ग्रीक भाषा का लेख, और दूसरी तरफ़ उसी आशय का खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा का लेख है, जिसमें राजा का नाम और ख़िताब मात्र दिये हैं; जिनसे न तो उनका क्रम, न परस्पर का संबंध और न ठीक समय नियत हो सकता है। उनमें मिनेंडर नामक राजा अधिक प्रतापी हुआ और उसने दूर दूर तक अपना राज्य जमाया। मिनेंडर (और ऍपोलोडॉटस) के सिवाय किसी यूनानी राजा का संबंध राजपूताने के साथ नहीं रहा। पतंजलि

(१) मत्स्यपुराण में लिखा है कि यदु के वंशज यादव, तुर्वसु के यवन, द्रुह्यु के भोजवंशी और अनु के वंशज म्लेच्छ हुए—

यदोस्तु यादवा जाता तुर्वसोर्यवनाः सुताः।
द्रुह्योश्चैव सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः॥ ३१॥

मत्स्यपुराण, अध्याय ३४।

ऐसा ही महाभारत (१।८९।३५३३) और पद्मपुराण (१२। १०६) में लिखा है। यदुं, तुर्वसु आदि राजा ययाति के पुत्र थे (देखो ऊपर पृ० ४९)।

(२) इन राजाओं की नामावली आदि के लिये देखो हिं० टा

ने अपने महाभाष्य में अपने समय की भूतकालिक घटनाओं के उदाहरणों में 'यवन' (यवन राजा) का मध्यमिका पर आक्रमण करना लिखा है[1]। मध्यमिका नामक प्राचीन नगर मेवाड़ में चित्तोड़ के प्रसिद्ध क़िले से ७ मील उत्तर में था, जिसको अब 'नगरी' कहते हैं और जिसके खंडहर दूर दूर तक विद्यमान हैं। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पाया जाता है कि 'शुंग वंश' के संस्थापक पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े को सिंधु के दक्षिणी तट पर यवनों के रिसाले ने पकड़ लिया था, जिसको कुमार वसुमित्र लड़कर छुड़ा लाया[2]। यह सिंधु नदी राजपूताने की सिंध (कालीसिंध) प्रतीत होती है। ऊपर लिखी हुई राजपूताने की दोनों घटनाएं किस यूनानी राजा के समय हुई इसका कोई लिखित प्रमाण तो अब तक नहीं मिला, परंतु संभव यही है कि वे मिनेंडर के समय की हों। मिनेंडर के दो चांदी के सिक्के मुझे नगरी (मध्यमिका) से मिले जो इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। ऐसे ही काठियावाड़ और गुजरात से मिलनेवाले उसके सिक्के भी इसकी पुष्टि करते हैं। मिनेंडर के विषय में स्ट्रेबो ने लिखा है कि 'उसने पातालन् (सिंध), सुरास्ट्रस् (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़) तथा सागरडिस् (सागरद्वीप, यह कच्छ हो) को विजय किया था[3]'। वह राजा स्थविर नागसेन के उपदेश से बौद्ध हो गया था। मिलिंदपन्हो (मिलिंदप्रश्न) नामक पाली भाषा के ग्रंथ में मिनेंडर और नागसेन के निर्वाण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। उक्त ग्रंथ से पाया जाता है कि मिलिंद (मिनेंडर) यवन (यूनानी) था, उसका जन्म अलसंद (अलेग्ज़ेंड्रिया, हिन्दुकुश के निकट का) में हुआ था, उसकी राजधानी साकल (पंजाब) में बड़ी समृद्धिवाला नगर था[4]। प्लुटार्क लिखता है कि 'वह ऐसा न्यायी और लोकप्रिय राजा था कि उसका देहान्त होने पर अनेक शहरों के लोगों ने उसकी राख आपस में बांट ली और अपने अपने स्थानों में ले जाकर उसपर स्तूप बनवाये[5]'। इससे भी उसका बौद्ध होना स्थिर होता है।

(१) ना० प्र० प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।
(२) वही पृ० २०३।
(३) बंबई गैज़ेटियर; जिल्द १, भाग १, पृ० १६।
(४) 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट'; जि० ३५-३६।
(५) 'न्युमिस्मैटिक क्रॉनिकल'; ई० स० १८६६, पृ० २२६।

मिनेंडर का नाम उसके सिक्कों पर 'मेनंद्र' लिखा मिलता है जो मिनेंडर से बहुत मिलता जुलता है। उसका समय ई० स० पू० १५० (वि० सं० पूर्व ६३) के आसपास होना अनुमान किया जाता है। ग्रीक राजाओं में इसीका संबंध राजपूताने से रहना पाया जाता है। पेरिप्लस का कर्त्ता यह भी लिखता है कि ऍपोलोडॉटस् और मिनेंडर के सिक्के अब तक (ई० स० २४०=वि० सं० २९७ के आसपास तक) बरुगज़ (भृगुकच्छ, भड़ौच) में चलते हैं[1], इससे संभव है कि मिनेंडर के पीछे ऍपोलोडॉटस् का संबंध गुजरात, राजपूताना आदि के साथ रहा हो, परंतु ऐसा मानने के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

अर्जुनायन

अर्जुनायन जाति के थोड़े से सिक्के मथुरा से मिले हैं जिनपर वि० सं० के प्रारंभ काल के आसपास की लिपि में "अर्जुनायनानां जय" (अर्जुनायनों की विजय) लेख है[2]। इस जाति का अधिकार आगरा तथा मथुरा से पश्चिम के प्रदेश अर्थात् भरतपुर और अलवर राज्यों अथवा उनके कितने एक अंश पर कुछ समय तक रहना अनुमान किया जा सकता है[3]। प्रयाग के क़िले में राजा अशोक के विशाल स्तंभ पर गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त का बड़ा लेख खुदा हुआ है जिसमें उक्त राजा का कई अन्य जातियों के साथ अर्जुनायनों को भी अपने अधीन करना लिखा है[4]। इसके सिवाय इस जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

क्षत्रप

क्षत्रप शब्द हिन्दुस्तान के क्षत्रप राजाओं के संस्कृत शिलालेखों में और उसका प्राकृत रूप खतप, छत्रप अथवा छत्रव उनके प्राकृत लेखों में मिलता है। क्षत्रपों के शिलालेखों तथा सिक्कों के अतिरिक्त क्षत्रप शब्द संस्कृत साहित्य में

(१) 'बंबई गैज़ेटियर'; जि० १, भाग १, पृ० १७-१८।

(२) स्मि; कै० कॉ० इ० म्यु; जि० १, पृ० १६१, १६६ और प्लेट २०, संख्या १०,

(३) वही, पृ० १६१।

(४) नेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्म्मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानिककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोपितप्रचण्डशासनस्य (फ्ली; गु. इं; पृ. ८)

कहीं नहीं पाया जाता। संस्कृत शब्दरचना के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ 'क्षत्रिय जाति का रक्षण करनेवाला' (क्षत्रं पातीति क्षत्रपः) होता, परंतु वास्तव में यह शब्द संस्कृत भाषा का नहीं, किंतु प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसमें क्षत्रप (क्षत्रपावन) शब्द का अर्थ देश का स्वामी या ज़िले का हाकिम है।

हिंदुस्तान में प्रथम शक राजाओं की तरफ़ से रहनेवाले ज़िलों के हाकिम 'क्षत्रप' कहलाये। उस समय तो उक्त शब्द का अर्थ राजा का प्रतिनिधि या ज़िले का हाकिम ही था, परंतु पीछे से जब वे लोग स्वतंत्र बन बैठे तब वह शब्द उनके वंश का सूचक हो गया। उनका राज्य प्रथम पंजाब तथा मथुरा आदि में, और पीछे से राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा दक्षिण के कितने एक अंश पर रहा। इनमें से पहले दो का उत्तरी क्षत्रप और पिछले का पश्चिमी क्षत्रप नाम से विद्वानों ने परिचय दिया है। उत्तरी क्षत्रपों में से पंजाब के क्षत्रपों का राजपूताने से कोई संबंध नहीं रहा। मथुरावालों का अधिकार राजपूताने के उधर के थोड़े से अंश पर थोड़े समय तक ही रहा, परंतु पश्चिमी क्षत्रपों का राज्य राजपूताने के अधिक अंश पर बहुत अर्से तक बना रहा था। मथुरा के क्षत्रपों का वृत्तान्त नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

(१) मथुरा के क्षत्रपों में से सब से प्रथम नाम राजुल का मिलता है, और कहीं कहीं उसके स्थान में रजुवुल, राजुवुल और राजुबुल भी लिखा है। यह प्रारंभ में किसी शक महाराजा के अधीनस्थ मथुरा के आसपास के प्रदेश का क्षत्रप होना चाहिये, परंतु उसके कितने एक सिक्कों पर महाक्षत्रप की पदवी लिखी रहने से यह अनुमान हो सकता है कि पीछे से वह स्वतंत्र हो गया हो। उसकी अग्रमहिषी (पटराणी) 'नदसी अकसा' ने मथुरा में एक बौद्ध स्तूप और मठ बनवाया, जिससे संबंध रखनेवाले प्राकृत लेख से ज्ञात हुआ कि उस (राणी) के पिता का नाम 'अयासिअ कुमुसअ' और माता का नाम 'अबुहोला' था। उसका पुत्र खरोस्ट उस समय युवराज था। स्तूप के उत्सव में राजा और राणी के संबंधी आदि कई लोग उपस्थित थे जिनके नाम वहां के स्तंभ के सिंहाकृतिवाले सिरे पर के खरोष्ठी लिपि के लेखों में खुदे हुए हैं। उनमें से एक छोटासा लेख, "सारे शकस्तान के सम्मान के लिये" इस आशय का होने से अनुमान होता है कि ये शक जाति के क्षत्रप हों। पुराणों से पाया जाता है कि शक भी क्षत्रिय (आर्य) जाति के लोग थे, परंतु ब्राह्मणों का संबंध छूट जाने से उनकी

गणना वृषलों (पतितों) में हुई (देखो ऊपर पृ० ४३-४४)। युवराज खरोष्ट का न तो कोई शिलालेख और न कोई सिक्का अब तक मिला जिससे संभव है कि वह राजुल की जीवित दशा में ही मर गया हो। जिससे राजुल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सोडास हुआ।

(२) महाक्षत्रप सोडास का एक शिलालेख संवत् ७२ का मथुरा से मिला है, परंतु वह कौनसा संवत् है यह अनिश्चित है; कदाच वह विक्रम संवत् हो। उक्त दो महाक्षत्रपों के अतिरिक्त मथुरा से कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिनमें एक ही सिक्के पर 'हगान' और 'हगामाश' दोनों नाम हैं; और कुछ सिक्कों पर केवल 'हगामाश' का ही नाम है, इसलिये ये दोनों क्षत्रप भी एक दूसरे के बाद होने चाहिये (शायद भाई हों)। ऐसे ही कुछ सिक्कों पर क्षत्रप 'शकमित्र' के पुत्र क्षत्रप 'मेवक' का नाम मिलता है। वे सिक्के महाक्षत्रप सोडास के सिक्कों की शैली के हैं।

मथुरा के उपर्युक्त महाक्षत्रपों और क्षत्रपों का समय, क्रम, तथा परस्पर का संबंध ठीक निश्चय करने के लिये अब तक साधन उपस्थित नहीं हुए। अनुमान होता है कि वे विक्रम संवत् के पूर्व की पहिली शताब्दी और वि. सं. की पहिली शताब्दी के बीच में हुए हों और उनका राज्य कुशन वंशियों ने छीना हो।

पश्चिमी क्षत्रप भी जाति के शक होने चाहिये क्योंकि महाक्षत्रप नहपान की पुत्री दक्षमित्रा का विवाह शक 'दीनीक' के पुत्र उषवदात के साथ हुआ था।

पश्चिमी क्षत्रप

इनके वंशवृक्ष से इन पश्चिमी क्षत्रपों में एक ऐसी रीति का होना पाया जाता है कि एक राजा के जितने पुत्र हों वे अपने पिता के पीछे क्रमशः राज्य के मालिक होते थे। उनके पीछे यदि ज्येष्ठ पुत्र का बेटा विद्यमान होता तो उसको राज्य मिलता था। राजपूतों की नांई सदा ज्येष्ठ पुत्र के वंश में ही राज्य रहने नहीं पाता था। स्वतंत्र राज्य करनेवाला 'महाक्षत्रप' की पदवी धारण करता, और जो ज़िलों का शासक होता वह 'क्षत्रप' कहलाता था, परंतु अपने नाम के सिक्के महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों चलाते थे। उन्होंने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर आदि खिताब कभी धारण नहीं किये, परंतु क्षत्रप शब्द के पूर्व राजा पद सब लिखते रहे (राज्ञो महाक्षत्रपस्य। राज्ञः क्षत्रपस्य)। उनके शिलालेख थोड़े ही मिले हैं, परंतु सिक्के

जिनपर बहुधा संवत् और महाक्षत्रप या क्षत्रप के नाम के साथ उसके पिता का नाम रहता है जिससे उनका वंशक्रम स्थिर हो जाता है[1]। राजपूताने में उनके सिक्के पुष्कर, चित्तोड़, नगरी (मध्यमिका) आदि प्राचीन स्थानों में कभी कभी मिल आते हैं, परंतु अधिक संख्या में नहीं। उनके सिक्कों का बड़ा संग्रह बांसवाड़ा राज्य के सिरवाणिया गांव से वि० सं० १९६९ (ई० स० १९१२) में मिला जिसमें २४०० सिक्के केवल उसी वंश के २१ महाक्षत्रपों या क्षत्रपों के थे, जिनपर शक संवत् १०३ से २७५ (वि० सं० २३८ से ४१०=ई० स० १८१ से ३५३) तक के अंक स्पष्ट थे। उन सिक्कों से इस बात की पुष्टि होती है कि राजपूताने के बड़े विभाग पर उनका राज्य रहा था। इस वंश के राजाओं का परिचय नीचे दिया जाता है।

भूमक के तांबे के ही सिक्के पुष्कर आदि से मिले हैं जिनपर के लेखों में उसको क्षहरात क्षत्रप कहा है। क्षहरात (छहरात, खहरात, खखरात) उसके वंश का नाम होना चाहिये। उसके सिक्कों पर कोई संवत् नहीं है और यह भी अब तक पाया नहीं गया कि उसने महाक्षत्रप पद धारण किया या नहीं। इसीसे हमने उसको महाक्षत्रपों में स्थान नहीं दिया है।

(१) नहपान[2] के राज्य-समय के शक सं० ४१ से ४५ (वि० सं०१७६-१८०=ई० स० ११९-१२३) तक के शिलालेखों[3] में उसको क्षत्रप लिखा है, परंतु उसके मंत्री अयम (अर्यमन्) के शक सं० ४६ (वि० सं० १८१=ई० स० १२४) के लेख में उसके नाम के साथ 'महाक्षत्रप[4]' शब्द जुड़ा है। नहपान का राज्य दक्षिण में नासिक और पूना के ज़िलों से लगाकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताने में पुष्कर से उत्तर तक था। उसका जामाता शक उषवदात उसका सेनापति हो ऐसा प्रतीत होता है। वह उसके राज्य में दौरा करता

(१) लंडन नगर के ब्रिटिश म्यूज़ियम् में क्षत्रपों के सिक्कों का बड़ा संग्रह है जिसकी विस्तृत सूची प्रसिद्ध विद्वान् प्रॉफेसर इ० जे० राप्सन ने प्रकाशित की है। सिरवाणिया से मिले हुए २४०० सिक्कों का विवेचन मैंने राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१२-१३ की रिपोर्ट में किया है।

(२) नहपान का भूमक के साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ तो भी यह निश्चित है कि नहपान भी क्षहरातवंशी था।

(३) ए० इं०; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या ११३३-३९।

(४) वही; लेखसंख्या ११७४।

और जगह जगह दान दिया करता था। उसके लेख से पाया जाता है कि राजपूताने में उसने बार्णासा (बनास) नदी पर तीर्थ (घाट) बनवाया और सुवर्ण का दान किया। भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से चौमासे में ही मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्र क्षत्रियों को छुड़ाने के वास्ते वह गया। मालव उसके आने की ध्वनि होते ही भाग निकले, परंतु वे उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बन्धुए बनाये गये। फिर उसने पुष्कर जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया [1]। अन्त में आंध्र (सातवाहन) वंश के राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने क्षहरात वंश को नष्ट कर नहपान के राज्य का बड़ा हिस्सा अपने राज्य में मिला लिया [2]।

(२) चष्टन—घ्सामोतिक[3] (ज़ामोतिक) का पुत्र था। उसके कुछ सिक्के क्षत्रप और कुछ महाक्षत्रप पदवीवाले मिले हैं। नहपान के वंश से उसका क्या संबंध था यह पाया नहीं जाता। उसने नहपान का खोया हुआ बहुतसा राज्य अपने अधीन किया। उसका पुत्र जयदामा उसकी विद्यमानता में-ही मर गया जिससे जयदामा का पुत्र रुद्रदामा उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(३) रुद्रदामा—पश्चिमी क्षत्रपों में सब से प्रतापी राजा हुआ। कच्छ राज्य के अंधौ गांव से उसके ४ शिलालेख शक संवत् ५२ (वि० सं० १८७=ई० स० १३०) के मिले हैं[4] जिनमें 'क्षत्रप' शब्द के स्थान पर 'राज्ञः' शब्द का प्रयोग चष्टन और रुद्रदामा के नामों के साथ किया है, परंतु घ्सामोतिक तथा जयदामा के नामों के साथ उस शब्द का प्रयोग नहीं है। ऐसी दशा में यह मानना युक्तिसंगत है कि उक्त संवत् से पूर्व वह स्वतंत्र राजा हो गया हो। गिरनार के पास अशोक के १४ प्रज्ञापनवाले चटान पर रुद्रदामा के समय का एक शिलालेख खुदा है जिससे पाया जाता है कि उसने युद्ध के सिवा मनुष्य वध

(१) ए. इं; जि. ८, पृ० ७८।

(२) वही; जि. ८; पृ० ६०।

(३) कोई कोई विद्वान् घ्सामोतिक को 'य्सामोतिक' पढ़ते हैं। क्षत्रपों के समय की ब्राह्मी लिपि में 'घ' और 'य' अक्षर कभी कभी मिलते जुलते होते हैं, परंतु यहां य्सामोतिक पढ़ना असंगत है। ज़ामोतिक को ब्राह्मी लिपि में घ्सामोतिक लिखा है और वैसा ही पढ़ना ठीक प्रतीत होता है।

(४) ए. इं; जि० १६ पृ० २३-२५।

न करने की प्रतिज्ञा की थी। वह पूर्वी और पश्चिमी आकरावंती[1], अनूप[2], आनर्त[3], सुराष्ट्र[4], श्वभ्र[5], मरु[6], कच्छ[7], सिंधुसौवीर[8], कुकुर[9], अपरांत[10], निषाद[11] आदि देशों का राजा था। उसके राज्य में चोर आदि का भय न था, सारी प्रजा उसकी ओर अनुरक्त थी, क्षत्रियों में 'वीर' का ख़िताब धारण करनेवाले यौधेयों को उसने नष्ट किया था; दक्षिणापथ (दक्षिण) के स्वामी सातकर्णी को दो बार परास्त किया, परंतु निकट का संबंधी होने से उसको मारा नहीं, और पदच्युत किये हुए राजाओं को फिर अपने अपने राज्यों पर स्थापित किया। धर्म पर उसे रुचि थी। वह व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता; अश्व, रथ और हाथी का चढ़ैया, तलवार और ढाल से लड़ने में कुशल और शत्रुसैन्य को सहज में जीतनेवाला था। उसका कोष सोना, चांदी, हीरे और रत्नों से भरा हुआ था, वह गद्य और पद्य का लेखक था, महाक्षत्रप पद उसने स्वयं धारण किया था और अनेक स्वयंवरों में राजकन्याओं ने उसे वरमालाएं पहिनाई थीं। उसके समय में शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) मार्गशीर्ष कृष्णा १ को अतिवृष्टि के कारण ऊर्जयंत (गिरनार) पर्वत से निकलनेवाली सुवर्णसिकता, पलाशिनी आदि नदियों की बाढ़ से सुदर्शन

(१) आकरावंती (आकर और अवंती) अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी मालवा (सारा मालवा)।

(२) जल की बहुतायतवाला देश, शायद यह मालवे से दक्षिण के प्रदेश का सूचक हो।

(३) उत्तरी काठियावाड़।

(४) दक्षिणी काठियावाड़ (सोरठ)।

(५) साबरमती के तटों पर का देश अर्थात् उत्तरी गुजरात।

(६) मारवाड़।

(७) कच्छ देश प्रसिद्ध है।

(८) सिंध और सौवीर। सौवीर सिंध से मिला हुआ देश होना चाहिये। चाहे वह सिंध के उत्तरी हिस्से का सूचक हो चाहे सिंध से मिले हुए जोधपुर राज्य के पश्चिमी हिस्से का।

(९) कुकुर का स्थान अनिश्चित है। शायद वह इंदोर राज्य का कुकरेश्वर नामक ज़िला हो, जो मंदसौर से उत्तर पूर्व में है और जहां पान अधिकता से होते हैं।

(१०) उत्तरी कौंकण।

(११) निषाद का स्थान भी अनिश्चित है। शायद यह निषाद अर्थात् भील आदि जंगली जातियों से बसे हुए किसी प्रदेश का सूचक हो।

तालाव का बंद ४२० हाथ लंबा, उतना ही चौड़ा और ७५ हाथ गहरा बह गया था। इतना बड़ा बंद फिर बनवाना कठिन काम था, परंतु प्रजा के आराम के लिये उस(रुद्रदामा)की आज्ञा से आनर्त और सुराष्ट्र के शासक सुविशाख ने, जो पल्हव कुलेप का पुत्र था, उस बंद को पहले से तिगुना मज़बूत बनवा दिया, जिसका कुल खर्च राज के खज़ाने से दिया गया। उसके निमित्त न तो प्रजा पर कोई कर लगाया और न बेगार में काम कराया गया'[1] "। इस लेख से पाया जाता है कि रुद्रदामा की राजधानी काठियावाड़ में न थी, वह उज्जैन होनी चाहिये, जो उसके दादा की राजधानी थी। उसके दो पुत्र दामघ्सद (दामजदश्री) और रुद्रसिंह थे। जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र दामघ्सद उसके राज्य का स्वामी हुआ।

(४) दामघ्सद के दो पुत्र सत्यदामा और जीवदामा थे जिनमें से जीवदामा अपने चचा रुद्रसिंह का उत्तराधिकारी हुआ। सत्यदामा अपने छोटे भाई के महाक्षत्रप होने के पूर्व ही मर गया हो ऐसा पाया जाता है, क्योंकि उसको महाक्षत्रप नहीं लिखा।

(५) रुद्रसिंह (संख्या ४ का छोटा भाई)-उसके समय के चांदी के सिक्के शक सं० १०३ से ११० (वि० सं० २३८ से २४५=ई० स० १८१ से१८८) तक के मिले हैं। फिर श० सं० ११० से ११२ (वि० सं० २४५ से २४७=ई० स० १८८ से १९०) तक के सिक्कों में उसको क्षत्रप ही लिखा है जिससे अनुमान होता है कि दो वर्ष तक वह किसी के अधीन रहा हो। संभव है कि उसको दो वर्ष तक अपने अधीन रखनेवाला महाक्षत्रप ईश्वरदत्त हो जिसके सिक्के केवल पहले और दूसरे राज्यवर्ष के ही मिलते हैं। श० सं० ११३ से ११८ तक (वि० सं० २४८ से २५३=ई० स० १९१ से १९६) के सिक्कों में उसकी पदवी फिर महाक्षत्रप होने से अनुमान होता है कि दो वर्ष पीछे वह पुनः स्वतंत्र हो गया था। उसके समय का एक शिलालेख गुंदा गांव (जामनगर राज्य में) से शक सं० १०३ (वि० सं० २३८=ई० स० १८१) वैशाख सुदि ५ का मिला जिसमें आभीर (अहीर) जाति के सेनापति बाहक के पुत्र सेनापति रुद्रभूति के एक ह्रद (तालाव)बनाने का उल्लेख है[2]। रुद्रसिंह के तीन पुत्र रुद्रसेन, संघदामा

(१) ए. इं; जि. ८, पृ० ४२-४५। इं. एं; जि० ७, पृ० २५९-६१।
(२) 'भावनगर इंस्क्रिप्शन्स'; पृ० २२।

और दामसेन थे जो जीवदामा के पीछे क्रमशः राजा हुए।

(६) ईश्वरदत्त के पहले और दूसरे राज्यवर्ष के सिक्के मिलते हैं जिनपर न तो उसके पिता का नाम है और न संवत्, जिससे उसका पूर्व के राजाओं के साथ का संबंध निश्चय नहीं हो सकता। उसने रुद्रसिंह को दो वर्ष तक अपने अधीन किया हो ऐसा अनुमान होता है।

(७) जीवदामा (संख्या ४ वाले दामजदश्री का दूसरा पुत्र)—उसके समय के सिक्के श० सं० ११९ और १२० (वि० सं० २५४ और २५५=ई० स० १९७ और १९८) के मिले हैं। उसके पीछे उसके चचा रुद्रसिंह का ज्येष्ठ पुत्र रुद्रसेन राजा हुआ।

(८) रुद्रसेन के समय के चांदी के सिक्के श० सं० १२२ से १४४ (वि० सं० २५७ से २७९=ई० सन् २०० से २२२) तक के मिले हैं। उसके राज्य-समय का एक शिलालेख गढ़ा गांव (काठियावाड़ के जसदण राज्य में) से मिला जो शक सं० १२७ (वि० सं० २६२=ई० स० २०५) भाद्रपद बहुल (कृष्ण) ५ का है[१] और उसमें मानस गोत्र के प्रथानक के पुत्रों और खर के पौत्रों का एक सत्र (अन्न-क्षेत्र) बनाने का उल्लेख है। उस (रुद्रसेन) के दो पुत्र पृथिवीसेन और दामजद-श्री थे जो क्षत्रप ही रहे। कुल-मर्यादा के अनुसार रुद्रसेन का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई संघदामा हुआ।

(९) संघदामा के समय के चांदी के सिक्के शक सं० १४४ और १४५ (वि० सं० २७९ और २८०=ई० स० २२२ और २२३) के मिले हैं। उसने दो वर्ष से कम ही राज्य किया। उसका क्रमानुयायी उसका छोटा भाई दामसेन हुआ।

(१०) दामसेन के चांदी के सिक्के श० सं० १४५ से १५८ (वि० सं० २८० से २९३=ई० स० २२३ से २३६) तक के मिले हैं। उसके ४ पुत्र वीरदामा, यशो-दामा, विजयसेन, और दामजदश्री (दूसरा) थे, जिनमें से वीरदामा क्षत्रप ही रहा और संभवतः वह अपने पिता की विद्यमानता में ही मर गया हो जिससे दामसेन का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र यशोदामा हुआ।

(११) यशोदामा के समय के चांदी के सिक्के श० सं० १६१ (वि० सं० २९६=ई० स० २३९) के मिले हैं। उसके पीछे उसका छोटा भाई विजयसेन क्षत्रप राज्य का स्वामी हुआ।

(१) 'भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स;' पृ० २२-२३।

(१२) विजयसेन के सिक्के श० सं० १६१ से १७२ (वि० सं० २९६ से ३०७=ई० स० २३९ से २५०) तक के मिले हैं। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दामजदश्री हुआ।

(१३) दामजदश्री (दूसरे) के सिक्के श० सं० १७२ से १७६ (वि० सं० ३०७ से ३११=ई० स० २५० से २५४) तक मिले हैं।

(१४) रुद्रसेन दूसरा (संख्या १० के ज्येष्ठ पुत्र क्षत्रप वीरदामा का बेटा)-उसके सिक्के श० सं० १७८ से १९६ (वि० सं० ३१३ से ३३१=ई० स० २५६ से २७४) तक के हैं। उसके दो पुत्र विश्वसिंह और भर्तृदामा थे जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए।

(१५) विश्वसिंह के सिक्कों पर संवत् के अंक अस्पष्ट हैं।

(१६) भर्तृदामा (संख्या १५ का छोटा भाई)-उसके सिक्के श० सं० २०६ से २१७ (वि० सं० ३४१ से ३५२=ई० स० २८४ से २९५) तक के मिले हैं। उसके पुत्र विश्वसेन के सिक्के मिलते हैं।जिनमें उसको क्षत्रप लिखा है। संख्या ३ से १६ तक (संख्या ६ को छोड़कर) महाक्षत्रपों की वंशावली शृंखलाबद्ध मिलती है, फिर स्वामी रुद्रदामा (दूसरे) से वंशावली शुरू होती है।

(१७) स्वामिरुद्रदामा किसका पुत्र था यह जाना नहीं गया, क्योंकि उसका कोई सिक्का अब तक नहीं मिला है। उसका नाम और महाक्षत्रप की पदवी उसके पुत्र स्वामिरुद्रसेन (दूसरे) के सिक्कों पर मिलती है। स्वामिजीवदामा का उसके समय के निकट ही होना अनुमान किया जाता है। जीवदामा के पुत्र रुद्रसिंह और पौत्र यशोदामा के सिक्के मिलते हैं जिनमें उनको क्षत्रप कहा है। संभव है कि स्वामिरुद्रदामा, स्वामिजीवदामा का पुत्र या उसका निकट संबंधी हो।

(१८) स्वामिरुद्रसेन (संख्या १७ का पुत्र)-के सिक्के श० सं० २७० से ३०० (वि० सं० ४०५ से ४३५=ई० स० ३४८ से ३७८) तक के मिलते हैं।

(१९) स्वामिसिंहसेन (संख्या १८ का भानजा)—उसके सिक्के श० सं० ३०४ (वि० सं० ४३९=ई० स० ३८२) के मिले हैं।

(२०) स्वामि[रुद्र]सेन दूसरा (संख्या १९ का पुत्र)-उसके सिक्के बहुत कम मिलते हैं और उनपर संवत् नहीं है।

(२१) स्वामिसत्यसिंह-का कोई सिक्का नहीं

पश्चिमी क्षत्रपों और महाक्षत्रपों की नामावली संवत् सहित।

संख्या	नाम क्षत्रप	ज्ञात समय		संख्या	नाम महाक्षत्रप	ज्ञात समय	
		शक सं०	वि० सं०			शक सं०	वि० सं०
१	भूमक						
२	नहपान	४१-४५	१७६-१८०	१	नहपान	४६	१८१
३	चष्टन			२	चष्टन		
४	जयदामा			३	रुद्रदामा	५२-७२	१८७-२०७
५	दामघ्सद दामजदश्री }			४	दामघ्सद दामजदश्री }		
				५	रुद्रसिंह	१०३-११०	२३८-२४५
६	सत्यदामा			६	ईश्वरदत्त	दो वर्ष	दो वर्ष
७	रुद्रसिंह	१०२-१०३	२३७-२३८		रुद्रसिंह दूसरीवार }	११३-११८	२४८-२५३
	रुद्रसिंह दूसरीवार }	११०-११२	२४५-२४७	७	जीवदामा	११९-१२०	२५४-२५५
८	रुद्रसेन	१२१	२५६	८	रुद्रसेन	१२२-१४४	२५७-२७९
९	पृथिवीसेन	१४४	२७९	९	संघदामा	१४४-१४५	२७९-२८०
१०	दामजदश्री	१५४-१५५	२८९-२९०	१०	दामसेन	१४५-१५८	२८०-२९३
११	वीरदामा	१५६-१६०	२९१-२९५				
१२	यशोदामा	१६०	२९५	११	यशोदामा	१६१	२९६
१३	विजयसेन	१६०	२९५	१२	विजयसेन	१६१-१७२	२९६-३०७
				१३	दामजदश्री	१७२-१७६	३०७-३११
				१४	रुद्रसेन	१७८-१९६	३१३-३३१
१४	विश्वसिंह	१९८-२००	३३३-३३५	१५	विश्वसिंह		
१५	भर्तृदामा	२००-२०४	३३५-३३९	१६	भर्तृदामा	२०६-२१७	३४१-३५२
१६	विश्वसेन	२१५-२२६	३५०-३६१				
१७	रुद्रसिंह	२२६-२३६	३६१-३७१	१७	स्वा. रुद्रदामा		
१८	यशोदामा	२३९-२५४	३७४-३८९	१८	,, रुद्रसेन	२७०-३००	४०५-४३५
				१९	,, सिंहसेन	३०४	४३९
				२०	,, रुद्रसेन		
				२१	,, सत्यसिंह		
				२२	,, रुद्रसिंह	३१०	४४५

कुशनवंश

कुशनवंश का परिचय हम ऊपर (पृ० ५२-५३ में) दे चुके हैं। मथुरा के निकटवर्ती राजपूताने के प्रदेश पर इस वंश का अधिकार कनिष्क के पिता वाझेष्क के समय से हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। इन राजाओं के समय के कई शिलालेख मथुरा तथा उसके आसपास के प्रदेशों से मिले हैं। उन शिलालेखों के संवतों के विषय में विद्वानों में मतभेद है; कोई उनको विक्रम संवत्, कोई शक संवत् और कोई शताब्दी के अंक छोड़कर ऊपर के ही वर्ष मानते हैं। हमारा अनुमान है कि उनके संवत् शक संवत् हैं। कनिष्क तथा उसके पीछे के तीन राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर प्राचीन ग्रीक लिपि के लेख हैं[1]।

(१) वाझेष्क के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। आरा से मिले हुए खरोष्ठी लिपि के कनिष्क के समय के शक सं० ४१ (वि० सं० १७६=ई० स० ११६) के लेख में कनिष्क को वाझेष्क का पुत्र कहा है।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेख श० सं० ५ से ४१ (वि० सं० १४० से १७६=ई० स० ८३ से ११६) तक के मिले हैं[2]। हिन्दुस्तान में उसका राज्य पंजाब और कश्मीर से लगाकर पूर्व में काशी से परे तक; दक्षिण में सिंध, और राजपूताने में मथुरा से दक्षिण के प्रदेशों पर होना पाया जाता है। उसने हिन्दुकुश पर्वत से उत्तर में बढ़कर खोतान, यारक़ंद तथा काश्गर तक के प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमाया था। बौद्ध धर्म की ओर उसका झुकाव अधिक होने पर भी वह हिंदुओं के शिव आदि देवताओं का पूजक था और होम करता था, ऐसा उसके

---

(१) कनिष्क के पहले कुशनवंशी राजा 'कुजुलकडफिसेस' (कुजुल कस) और 'वेमकडफिसेस' (विम कटफिस) के सिक्के मिले हैं जिनकी एक तरफ प्राचीन ग्रीक भाषा व लिपि के और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में भारतीय प्राकृत भाषा के लेख हैं। कनिष्क और उसके पिछले राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर ग्रीक लिपि के ही लेख हैं। 'कुजुलकडफिसेस' और 'वेमकडफिसेस' के साथ कनिष्क का क्या संबंध था यह अनिश्चित है। संभव है कि वे दोनों राजा कनिष्क से बहुत पहले हुए हों और कुशन वंश की अन्य शाखा से संबंध रखते हों।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेखों के लिये देखो ए. इं; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या १८, २१, २२ और २३। ज० रॉ. ए. सो; ई. स. १९२४, पृ० ४००; और आरा के लेख के लिये देखो ए. इं; जि० १४, पृ० १४३।

सिक्कों पर मिलनेवाली शिव की मूर्ति आदि से पाया जाता है। उसके बनवाये हुए पेशावर के बौद्ध स्तूप का पता लग गया है। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि उसने अपनी कश्मीर की राजधानी में बौद्ध धर्म के पुराने सिद्धांतों का निर्णय करने के लिये बौद्ध संघ एकत्रित किया था, उसमें जो त्रिपिटिक माना गया उसको उसने तांबे के पत्रों पर खुदवाकर पत्थर की संदूक में रखवाया और उसपर एक स्तूप बनवाया था [१]। उस स्तूप तथा उन पत्रों का अब तक पता नहीं लगा है। वास्तव में वह संघ बौद्धों के हीनयान पंथ (प्राचीन मतावलंबियों) का था जिनकी संख्या इस देश में बहुत थोड़ी थी। दूसरा पंथ महायान कहलाता था जिसके अनुयायी विशेष थे। कनिष्क के समय में शिल्प और विद्या की बड़ी उन्नति रही, प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र तथा सुप्रसिद्ध वैद्य चरक उस राजा के सम्मानपात्र हुए थे।

(३) वासिष्क के शिलालेख श० सं० २४ और २८ (वि० सं० १५६ और १६३=ई० स० १०२ और १०६) के मिले हैं [२]। कनिष्क के साथ उसका क्या सम्बन्ध था इसका कुछ पता नहीं चलता (शायद वह कनिष्क का पुत्र हो)। अनुमान होता है कि जिस समय कनिष्क मध्य एशिया की लड़ाइयों में लगा था उस समय वह (वासिष्क) मथुरा आदि के इलाक़ों का शासक रहा हो (स्वतन्त्र राजा नहीं था)।

(४) हुविष्क—राजतरंगिणी में उसका नाम हुष्क मिलता है। उसके समय के शिलालेख श० सं० ३३ से ६० (वि० सं० १६८ से १६५=ई० स० १११ से १३८) तक के मिले हैं [३]। कनिष्क या वासिष्क के साथ उसका क्या संबंध था यह निश्चयरूप से जाना नहीं गया, शायद वह भी कनिष्क का पुत्र हो और प्रारंभ में अपने पिता की ओर से इधर का शासक रहा और उसकी मृत्यु के पीछे स्वतंत्र राजा हुआ हो।

(५) वासुदेव के समय के शिलालेख श० सं० ७४ से ९८ (वि० सं०

---

(१) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १५४, टिप्पण १। बी; बु० रे० वे० व; जि० १, पृ० १५५।

(२) आर्कियालोजिकल सर्वे की रिपोर्ट; ई० स० १९१०–११, पृ० ४१–४२।

(३) ए० इं; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या २९, ३८, ४१, ४६, ५१, ५२, ५६, ६२ और ८०।

२०१ से २३३=ई० स० १५२ से १७६) तक के मिले हैं[1]। उसका हुविष्क के साथ क्या संबंध था यह भी अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

वासुदेव के पीछे भी कुशनवंशियों का राज्य मथुरा आदि प्रदेशों पर रहा हो, परंतु उसका कुछ भी पता नहीं चलता है।

गुप्तवंश

गुप्तवंशी राजा किस वंश के थे इसका कुछ भी स्पष्ट उल्लेख उनके पहले के शिलालेखादि में तो नहीं मिलता, परंतु उक्त वंश के पिछले समय के राजाओं के लेखों में उनका चन्द्रवंशी होना लिखा है[2]। उनके नामों के अन्त में गुप्त पद देखकर कोई कोई यह अनुमान कर बैठते हैं कि वे राजा वैश्य हों, परंतु ऐसा मानना भ्रम ही है। पुराणों में सूर्य वंश के एक राजा का भी नाम उपगुप्त मिलता है[3]। ऐसे ही प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के पिता का नाम आदित्यदास था[4], तो क्या अन्त में केवल 'गुप्त' और 'दास' पदों[5] के आने से ही यह कहा जासकता है

(१) ए० इं० जि० १० का परिशिष्ट, लेखसंख्या ६०, ६६, ६८, ७२ और ७६।

(२) गुप्तों का महाराज्य नष्ट होने बाद भी उनके वंशजों का राज्य मगध, मध्यप्रदेश और गुत्तल (बंबई इहाते के धारवाड़ ज़िले में) आदि पर रहा था। गुत्तल के गुप्तवंशी अपने को उज्जैन के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के वंशज और सोमवंशी मानते थे (बंबई गैज़ेटियर; जि० १, भाग २, पृ० ५७८; टिप्पण ३। 'पाली, संस्कृत ऐंड ओल्ड कैनेरीज़ इन्स्क्रिप्शन्स'; संख्या १०८)। सिरपुर (मध्यप्रदेश की रायपुर तहसील में) से मिले हुए महाशिवगुप्त के शिलालेख में वहां के गुप्तवंशी राजाओं को चंद्रवंशी बतलाया है—

[आसीच्छशी]व भुवनाद्भुतभूतभूतिरुद्भूतभूतपति[भक्तिसम]प्रभावः।
चन्द्रान्वयैकतिलकः खलु चन्द्रगुप्तराजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम्॥

ए० इं०; जि० ११, पृ० १९०।

(३) उपगुप्त सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के पुत्र निमि (विदेह) का वंशधर था—

तस्मात्समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः॥ २४॥

'भागवत'; स्कंध ९, अध्याय १४।

(४) आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवंतिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥ २॥

'बृहज्जातक'; उपसंहाराध्याय।

(५) ब्राह्मण के नाम के अंत में शर्मा, क्षत्रिय के वर्मा, [illegible]

कि सूर्यवंशी उपगुप्त वैश्य और वराहमिहिर का पिता आदित्यदास शूद्र था? गुप्तवंशियों का विवाह-संबंध लिच्छिवि[1] और वाकाटक आदि क्षत्रिय वंशों के साथ होने के प्रमाण मिलते हैं जो उनका क्षत्रिय होना ही बतलाते हैं। गुप्तवंशी राजाओं का प्रताप बहुत ही बढ़ा, एक समय ऐसा था कि द्वारिका से आसाम

नाम के अंत में दास पद लगाने की शैली प्राचीन नहीं है और न उसका कभी पालन होना पाया जाता है। रामायण, महाभारत और पुराणों में इसका अनुकरण पाया नहीं जाता।

(१) आधुनिक प्राचीन शोधक अपनी मनमानी अनेक कल्पनाएं कर डालते हैं उनमें से एक लिच्छिवियों के संबंध की भी है। विन्सेंट स्मिथ का मानना है कि लिच्छिविवंशी तिब्बती थे (इं. ऐं; जि. ३२, पृ. २३३-३६)। सतीशचंद्र विद्याभूषण का कथन है कि वे ईरानी थे (इं. ऐं; जि. ३७, पृ. ७८-८०) और मि० हॉगसन् ने उनको सीथियन् (शक) बतलाया है ('हॉगसन्स ऐसेज़'; पृ. १७)। इनमें से किसका कथन ठीक कहा जाय? बॉथलिंग और रॉथ उनको क्षत्रिय मानते हैं (बॉथलिंग और रॉथ के 'वार्टेबुख्' नामक महान् 'संस्कृत-जर्मन कोष में 'लिच्छिवि' शब्द)। वही मत मोनियर विलियम का है (मोनियर विलियम का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश, दूसरा संस्करण, पृ. ९०२)। तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रंथ 'दुल्व' में उनको वसिष्ठगोत्री क्षत्रिय माना है (रॉकहिल; 'लाइफ़ ऑफ़ दी बुद्ध'; पृ. ९७ का टिप्पण)। बौद्धों के 'दीघनिकाय', (दीर्घनिकाय) के 'महापरिनिब्बाणसूत्र' में लिखा है कि लिच्छिविवंशियों ने भगवान् बुद्ध की अस्थि का विभाग यह कहकर मांगा था कि 'भगवान् भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं' ('दीघनिकाय'; जि. २, पृ. १६४)। जैनों के 'कल्पसूत्र' से पाया जाता है कि 'महावीर स्वामी' लिच्छिवियों के मामा थे और उनके निर्वाण के स्मरणार्थ उन्हों (लिच्छिवियों) ने अपने नगर में रोशनी की थी ('सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट'; जि. २२, पृ. २६६। हर्मन जैकोबी का 'कल्पसूत्र' का अंग्रेज़ी अनुवाद)। विन्सेंट स्मिथ ने 'अर्ली हिस्टरी ऑफ़ इंडिया' (भारत के प्राचीन इतिहास) में लिखा है कि 'ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ काल में नेपाल में लिच्छिवि वंश का राज्य था। वैशाली के लिच्छिवियों के साथ उनका क्या संबंध था इसका पता नहीं चलता, नेपाल के लिच्छिवियों के विषय में हुएन्त्संग लिखता है कि वे बड़े विद्वान् थे और बौद्ध धर्मावलंबी तथा क्षत्रिय जाति के थे' (पृ० २६६; और थामस् वॉटर्स; 'ऑन युवन् च्वांग'; जि. २, पृ. ८४)। इन प्रमाणों से निश्चित है कि लिच्छिविवंशी क्षत्रिय ही थे। लिच्छिवियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, जिससे ब्राह्मणों ने उन (लिच्छिवियों) की गणना व्रात्यों की संतति में की है (मनुस्मृति; १०। २२), किंतु यह कथन धर्म-द्वेष से ख़ाली नहीं है। बौद्ध धर्म के ग्रहण करने से क्षत्रिय व्रात्य (धर्मभ्रष्ट; संस्कारहीन) नहीं माने जा सकते। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, परंतु उसके पुरोहितों ने, जो नागर ब्राह्मण थे, उसको व्रात्य मानकर उसकी पुरोहिताई छोड़ी नहीं थी, ऐसा गुर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वरदेव के 'सुरथोत्सव' काव्य से पाया जाता है। कुमारपाल के साथ अन्य राजवंशों का संबंध भी पूर्ववत् बना रहा था।

तक और पंजाब से नर्मदा तक का सारा देश उनके अधीन था, और नर्मदा से दक्षिण के देशों में भी उन्होंने विजय का डंका बजाया था। उन्होंने वि० सं० ३७६=ई० स० ३१९ से अपना संवत् चलाया जो गुप्त संवत् के नाम से अनुमान ६५० वर्ष तक चलता रहा। पीछे से वही संवत् वलभी संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ[1]। मौर्यवंशी राजा अशोक के समय से ही वैदिक धर्म की अवनति और बौद्ध धर्म की उन्नति होने लगी थी, परंतु गुप्तवंशियों ने वैदिक धर्म की जड़ पीछी जमा दी और बौद्ध धर्म अवनत होता गया। चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उनके समय में फिर से आरम्भ हुआ। उनके कई शिलालेख, ताम्रपत्र और सोने चांदी तथा तांबे के जो सिक्के मिले उनके आधार पर उनका थोड़ासा सारभूत वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

श्रीगुप्त या गुप्त इस वंश का संस्थापक था जिसके नाम पर यह वंश गुप्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। गुप्त का पुत्र घटोत्कच था; इन दोनों का खिताब 'महाराज' मिलने से अनुमान होता है कि ये दोनों (गुप्त और घटोत्कच) किसी बड़े राजा के सामंत हों। घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त इस वंश में पहला प्रतापी राजा हुआ जिसने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की और अपने नाम के सोने के सिक्के चलाये जिससे उसका स्वतन्त्र राजा होना अनुमान किया जा सकता है। गुप्त संवत् भी उसी के राज्याभिषेक के वर्ष से चला हुआ माना जाता है। चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छिवि वंश के किसी राजा की पुत्री कुमारदेवी के साथ हुआ था जिससे महाप्रतापी समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। चंद्रगुप्त के सिक्कों पर उसकी और उसकी राणी की मूर्तियां होने से कितने एक विद्वानों का यह अनुमान है कि उसको अपने श्वसुर का राज्य मिला हो, परन्तु ऐसा मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। उसका राज्य बिहार, संयुक्त प्रान्त के पूर्वी विभाग और अवध के अधिकांश पर होना चाहिये। पुराणों में गुप्तवंशियों के अधीन गंगातट का प्रदेश, प्रयाग, अयोध्या तथा मगध का होना लिखा है[2] जो चंद्रगुप्त

(१) गुप्त संवत् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७४–७६।

(२) अनुगांगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥
'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो. ३८३। 'ब्रह्मांडपुरा '

के समय की राज्यस्थिति प्रकट करता है। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त हुआ। ऊपर लिखे हुए तीनों राजाओं का कुछ भी संबंध राजपूताने के साथ नहीं था।

(४) समुद्रगुप्त गुप्तवंशी राजाओं में बड़ा ही प्रतापी हुआ। प्रयाग के क़िले में अशोक के लेखवाले विशाल स्तंभ पर उसका भी एक लेख खुदा है जिससे पाया जाता है कि "वह विद्वान् और कवि था, तथा विद्वानों के साथ रहने में आनंद मानता था। उसने अपने बाहुबल से अच्युत और नागसेन नामक राजाओं को पराजित किया, सैंकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की और उसका शरीर सैंकड़ों घावों से सुशोभित था। कोसल[1] के राजा महेंद्र, महाकांतार[2] के व्याघ्रराज, कौराळ के[3] मंत्रराज, पिष्टपुर[4] के महेंद्र, गिरिकोट्टूर[5] के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल[6] के दमन, कांची[7] के विष्णुगोप, अवमुक्त[8] के नीलराज,

(१) यहां कोसल नाम 'दक्षिण कोसल' का सूचक है, जिसमें मध्यप्रदेश की महानदी और गोदावरी की उत्तरी शाखाओं के बीच के प्रदेश का समावेश होता है (सिरपुर और सांबलपुर के निकट का प्रदेश)।

(२) दक्षिण कोसल के पश्चिम का मध्यप्रदेश का जंगलवाला हिस्सा जो सोनपुर से दक्षिण में है।

(३) कौराळ राज्य उड़ीसे के समुद्रतट पर के कौराळ के आसपास के प्रदेश का सूचक होना चाहिये (न कि केरल का)।

(४) मद्रास इहाते के गोदावरी ज़िले में पिठापुर की ज़मींदारी के आसपास का प्रदेश, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य भी रहा था (देखो 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' प्रथम भाग में पिठापुर के सोलंकियों का वृत्तांत, पृ० १६७–६६)।

(५) गिरिकोट्टूर अर्थात् पर्वती (क़िला) कोट्टूर। कोट्टूर का राज्य मद्रास इहाते के गंजाम ज़िले में था, जिसकी राजधानी कोट्टूर वर्तमान कोठूर होना चाहिये।

(६) एरंडपल्ल मद्रास इहाते के चिकाकोल ज़िले के मुख्य स्थान चिकाकोल के निकट एरंडपालि के आसपास का प्रदेश होना चाहिये।

(७) मद्रास इहाते का प्रसिद्ध नगर कांची (कांजीवरम्)। समुद्रगुप्त के समय कांची का पल्लववंशी राजा विष्णुगोप प्रबल राजा था। उसके साथ समुद्रगुप्त की लड़ाई कृष्णा नदी के निकट होनी चाहिये। संभव है कि अवमुक्त, वेंगी, पालक्क, देवराष्ट्र और कुस्थलपुर आदि के राजा समुद्रगुप्त को कृष्णा नदी से दक्षिण में आगे बढ़ते हुए रोकने के लिये विष्णुगोप से मिलकर लड़ने को आये हों और वहीं परास्त हुए हों।

(८) अवमुक्त राज्य का ठीक पता नहीं चला।

वेंगी[1] के हस्तिवर्म्मा, पालक्क[2] के उग्रसेन, देवराष्ट्र के[3] कुबेर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि दक्षिणापथ[4] के सब राजाओं को उसने क़ैद किया परंतु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्त्ति बढ़ाई। रुद्रदेव[5], मतिल[6], नागदत्त[7], चंद्रवर्मा, गणपतिनाग[8], नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा[9] आदि आर्यावर्त्त[10] के अनेक राजाओं को नष्ट कर अपना प्रभाव बढ़ाया; सब आटविक[11] (जंगल के स्वामी) राजाओं को अपना सेवक बनाया, समतट[12], डवाक, कामरूप[13], नेपाल, कर्तृपुर[14] आदि सीमांत प्रदेश के राजाओं को तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक, खर्परिक आदि जातियों को अपने अधीन कर उनसे कर लिया और राज्यच्युत राजवंशियों को फिर राजा बनाया। देवपुत्र शाही शहानुशाही[15], शक, मुरुंड तथा

(१) पूर्वी समुद्र-तट का गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश वेंगिराज्य कहलाता था, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य बहुत बरसों तक रहा था (देखो—'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० १३५)।

(२) पालक्क राज्य कृष्णानदी के दक्षिण में पालक्क के आसपास के प्रदेश का सूचक है।

(३) देवराष्ट्र राज्य मद्रास इहाते के विज़ागापट्टम् ज़िले के एक विभाग का नाम था।

(४) दक्षिणापथ—सारा दक्षिण देश। प्राचीन शिलालेखादि में उत्तरापथ और दक्षिणापथ नाम मिलते हैं। नर्मदा से उत्तर का सारा भारत उत्तरापथ और उक्त नदी से दक्षिण का दक्षिणापथ कहलाता था।

(५) यह राजा संभवतः वाकाटक वंशी रुद्रसेन (प्रथम) हो।

(६-७) आधुनिक विद्वान् मतिल और नागदत्त को पूर्वी मालवे और राजपूताने के राजा अनुमान करते हैं, परंतु ऐसा मानने के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(८) यह शायद पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में) का उक्त नामवलि नागवंशी राजा हो।

(९) आसाम के राजा भास्करवर्मा का पूर्वज।

(१०) विंध्याचल तथा हिमालय के बीच का देश।

(११) विंध्याचल के उत्तर का जंगलवाला देश।

(१२) गंगा और ब्रह्मपुत्र की धाराओं के बीच का समुद्र से मिला हुआ प्रदेश जिसमें ज़िला जस्सोर, कलकत्ता आदि हैं।

(१३) आसाम का कितना एक हिस्सा।

(१४) इसमें गढ़वाल, कमाऊं और अलमोड़ा ज़िलों का समावेश होता है।

(१५) देवपुत्र, शाही और शहानुशाही ये तीनों कुशनवंशी राजाओं के ख़िताब से उनके वंशजों के सूचक हों।

सिंहल आदि सब द्वीपनिवासी उसके पास उपस्थित होते और लड़कियां भेट करते थे। राजा समुद्रगुप्त दयालु था, हज़ारों गोदान करता था और उसका समय कंगाल, दीन, अनाथ और दुखियों की सहायता करने में व्यतीत होता था। वह गांधर्व (संगीत) विद्या में बड़ा निपुण[1] और काव्य रचने में 'कविराज' कहलाता था[2]। दूसरे शिलालेखादि से पाया जाता है कि उसके अनेक पुत्र और पौत्र थे, चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उसने किया था। उसके कई प्रकार के सोने के सिक्के मिलते हैं जिनसे उसके अनेक कामों का पता लगता है[3]। उन सिक्कों की शैली में कुशनवंशी राजाओं के सिक्कों का कुछ अनुकरण पाया जाता है। उसकी राणी दत्तदेवी से चंद्रगुप्त (दूसरे) ने जन्म लिया जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था।

(५) चंद्रगुप्त (दूसरे) को देवगुरु और देवराज भी कहते थे। उसने कई ख़िताब धारण किये थे जिनमें विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजित-विक्रम, सिंहविक्रम और महाराजाधिराज मुख्य थे। बंगाल से लगाकर बलूचिस्तान तक के देश उसने विजय किये,[4] तथा गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि पर राज्य करनेवाले शक जाति के क्षत्रपों (पश्चिमी क्षत्रपों) का राज्य छीनकर वि० सं० ४५० (ई० स० ३९३) के आसपास उनके राज्य की समाप्ति कर दी। उसने अपने पिता से भी अधिक देश अपने राज्य में मिलाये और अपने राज्य के पश्चिमी विभाग की राजधानी उज्जैन स्थिर की। वह विद्वानों का आश्रयदाता और विष्णु का परमभक्त था।

---

(१) देखो ऊपर पृ. ३० और टिप्पण २।

(२) फ्ली; गु. इं; पृ. ६-१०।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. १-३७; और प्लेट १-५। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के कई सिकों पर छंदोबद्ध लेख मिलते हैं। इतने प्राचीन काल के संसार की किसी अन्य जाति के सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख नहीं मिलते।

(४) *यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-*
न्वङ्गेष्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खङ्गेन कीर्त्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिणः॥

दिल्ली की लोह की लाट पर का लेख (फ्ली; गु. इं; पृ. १४१)

पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोह की लाट (कीली, जो मेहरोली गांव में कुतुब-मीनार के पास एक प्राचीन मंदिर के बीच खड़ी हुई है) चंद्रगुप्त ने बनवाकर विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर किसी विष्णु-मंदिर के आगे ध्वजस्तंभ के तौर खड़ी करवाई थी। तंवर अनंगपाल ने उसे वहां से उखड़वाकर वर्तमान स्थान में स्थापन कराई ऐसी प्रसिद्धि है। चंद्रगुप्त के सोने, चांदी और तांबे के कई प्रकार के सिक्के मिलते हैं[1] जिनमें सोने के अधिक हैं। उसके समय के जो शिलालेख मिले उनमें संवत्वाले तीन लेख गुप्त संवत् ८२ से ९३ (वि० सं० ४५८ से ४६९=ई० स० ४०१ से ४१२) तक के हैं[2]। उसकी दो राणियों के नामों का पता लगता है, एक तो कुवेरनागा जिससे एक पुत्री प्रभावती का जन्म हुआ और उसका विवाह वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन के साथ हुआ था। प्रभावती के उदर से युवराज दिवाकरसेन ने जन्म लिया[3]। दूसरी राणी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी ?) से दो पुत्र कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त उत्पन्न हुए जिनमें से कुमारगुप्त अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ।

चीनी यात्री फाहियान चंद्रगुप्त के राजत्व काल में मध्य एशिया के मार्ग से हिंदुस्तान में आया था। उसका उद्देश्य संस्कृत पढ़ना और महायान पंथ के विनयपिटक आदि के ग्रंथों को संग्रह करना था। वह स्वात, गांधार, तक्षशिला, पेशावर, मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली आदि में होता हुआ पाटलीपुत्र में पहुंचा, जहां अशोक के बनाये हुए महलों की कारीगरी को देखकर उसने यही माना कि ऐसे महल मनुष्य नहीं बना सकते, वे असुरों के बनाये हुए होने चाहियें। तीन वर्ष पाटलीपुत्र में रहकर उसने संस्कृत का अध्ययन किया, फिर वहां से कई स्थानों में होता हुआ

(१) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. २४-६०, प्लेट ६-११।

(२) गुप्त सं. ८२ का उदयगिरि (ग्वालियर राज्य के भेलसा से २ मील) की गुफा में (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या ३) और गु. सं. ९३ का सांची (भोपाल राज्य में) से (वहीं; लेखसंख्या ५)।

(३) *महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्प(त्स)त्पुत्रः.........महाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालङ्कारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराजश्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतिगुप्ता* (ए. इं; जि. १५, पृ० ४१)

ताम्रलिप्ति (तमलुक, बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले में) में पहुंचा, वहां दो वर्ष तक रहा। इस तरह अपनी यात्रा में कई पुस्तकों की नक़लें तथा चित्र आदि का संग्रह कर समुद्र-मार्ग से पीछा चीन पहुंचा। उसकी यात्रा की पुस्तक से पाया जाता है कि चंद्रगुप्त की प्रजा धनधान्यसंपन्न और सुखी थी, लोग स्वतंत्र थे, प्राणदंड किसी को नहीं दिया जाता था, अधिक वार अपराध करनेवाले का एक हाथ काट डाला जाता था, देश में मद्य और मांस का प्रचार न था, मांस चांडाल ही बेचते थे जो शहरों से बाहर रहते थे, धर्मशालाओं तथा औषधालयों का प्रबंध उत्तम था और विद्या का अच्छा प्रचार था।

(६) कुमारगुप्त ने भी कई ख़िताब धारण किये थे, जिनमें मुख्य महाराजाधिराज, परमराजाधिराज, महेंद्र, अजितमहेंद्र, महेंद्रसिंह और महेंद्रादित्य हैं। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया जिसके स्मारक सोने के सिक्के मिलते हैं। अपने पिता की नाईं वह भी परम भागवत (वैष्णव) था। उसके समय के संवत् वाले ६ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से ५ गुप्त संवत् ९६ से १२९ (वि० सं० ४७२ से ५०५=ई० स० ४१५ से ४४८) तक के[1] और एक मालव (विक्रम) संवत् ४९३=ई० स० ४३६) का है[2]। उसके कई प्रकार के सोने, चांदी और तांबे के सिक्के भी मिले[3] जिनमें चांदी के कितने एक सिक्कों पर संवत् भी दिया है। ऐसे सिक्के गुप्त संवत् ११९ से १३६ (वि० सं० ४९५ से ५१२=ई० स० ४३८ से ४५५) तक[4] के हैं। वि० सं० ५१२ (ई० स० ४५५) में उसके राज्य पर शत्रुओं (हूणों) का हमला हुआ जिनके साथ की लड़ाई में वह मारा गया। उसके तीन पुत्र घटोत्कच, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त थे। घटोत्कच की माता का नाम जाना नहीं गया, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त अनंतदेवी से उत्पन्न हुए थे। घटोत्कच, अपने पिता की विद्यमानता में गुप्त संवत् ११६ (वि० सं० ४९२=ई० स० ४३५)

---

(१) गुप्त सं० ९६ का बिलसड या बिलसंड (पश्चिमोत्तर प्रदेश के एटा ज़िले में) के स्तंभ पर का (फ्ली; गु; इं; लेखसंख्या १०) और गु. सं. १२९ का मनूकुवार गांव (पश्चिमोत्तर प्रदेश के इलाहाबाद ज़िले में) से मिली हुई बौद्ध मूर्त्ति के आसन पर खुदा है (वही; लेखसंख्या ११)।

(२) मालव सं० (वि० सं०) ४९३ का मंदसोर (वही; लेखसंख्या १८) से मिला है।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. ६१-११३; प्लेट १२-१८।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ३८४-८८; ३९४; ३९८; और ज. ए. सो. बंगा; इ. स. १८९४, पृ. १७५।

में मालव का शासन करता हो ऐसा कुमारगुप्त के उक्त संवत् के तुमैन (तुंबवन) गांव (ग्वालियर राज्य में) से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है[1]। यह (घटोत्कच) कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था या अन्य, यह ज्ञात नहीं हुआ। कुमारगुप्त का क्रमानुयायी स्कंदगुप्त हुआ।

(७) स्कंदगुप्त ने अपने पिता के मारे जाने पर वीरता के साथ तीन मास तक लड़कर शत्रुओं (हूणों) के राजा को परास्त किया और अपनी कुलश्री को, जो कुमारगुप्त के मारे जाने के कारण विचलित हो रही थी, स्थिर की[2]। उसके खिताब क्रमादित्य या विक्रमादित्य, राजाधिराज और महाराजाधिराज मिलते हैं। वह भी परम वैष्णव था, उसके समय के संवत् वाले दो शिलालेख गुप्त संवत् १३६ और १४१ (वि० सं० ५१२ और ५१७=ई० स० ४५५ और ४६०) के[3]

(१) इं. एं; जि. ४६, पृ. ११४-१५।

(२) *जगति भुजबलाढ्यो(ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः*
प्रथितविपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः।.... ॥
विचलितकुललक्ष्मीस्तंभनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीतास्त्रिमासाः।
समुदितबलकोषान्युध्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥....॥
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुजबलविजितारिर्य्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥....॥
हूणैर्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा.................. ।

भिटारी के स्तंभ पर स्कंदगुप्त का लेख (ज. बंब. ए. सो; जि. १६, पृ. २४६-५०। फ्ली; गु. इं; पृ. ५३-५४)

(३) गु. सं. १३६ (और १३७, १३८) का जूनागढ़ का लेख (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १४) और गु. सं. १४१ का काहाऊं (संयुक्त प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में) का लेख (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १५)

और एक दानपत्र गु० सं० १४६ (वि० सं० ५२२=ई० स० ४६५) का[1] मिला है। गढ़वा (इलाहाबाद जिले में) के विष्णुमंदिर के संबंध का एक टूटा हुआ शिलालेख गु० सं० १४८ (वि० सं० ५२४=ई० स० ४६७) का[2] मिला जिसमें राजा का नाम टूट गया है, परंतु वह उसी राजा के समय का होना चाहिये, क्योंकि वहां पर चंद्रगुप्त (दूसरे) और कुमारगुप्त के शिलालेख विद्यमान हैं, और उसके चांदी के सिक्कों पर गु० सं० १४१ से १४८ (वि० सं० ५१७ से ५२४=ई० स० ४६० से ४६७) तक[3] के वर्ष अंकित हैं। उसके सोने और चांदी के कई प्रकार के सिक्के मिले हैं[4]।

(८) कुमारगुप्त (दूसरा)—संभव है कि वह स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी हो। उसके समय का एक शिलालेख सारनाथ (काशी के निकट) से मिली हुई एक मूर्ति के नीचे खुदा है जो गु० सं० १५४ (वि० सं० ५३०=ई० स० ४७३) का है[5]।

(९) बुधगुप्त, कुमारगुप्त (दूसरे) का उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय का एक लेख सारनाथ से मिली हुई एक मूर्ति के आसन पर खुदा है जो गु० सं० १५७ (वि० सं० ५३३=ई० स० ४७६) का है[6], और दूसरा एरण (मध्य प्रदेश के सागर ज़िले में) गांव से गु० सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) मिला है। उसका आशय यह है कि "बुधगुप्त के राज्य-समय, जब कि महाराज सुरश्मिचंद्र कालिंदी (यमुना) और नर्मदा नदियों के बीच के प्रदेश

(१) फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १६।

(२) वही; लेखसंख्या ६६।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ५२३-३०; और ज. ए. सो. बंगा; ई. स. १८८९, पृ. १३४।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ. ११४-३४; प्लेट; १९-२१।

(५) *वर्षशते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे भूमिम्।*
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्॥

'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७४, टिप्पण ६।

(६) *गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपंचाशदुत्तरे।*
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति॥

'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७४, टिप्पण ६।

का पालन कर रहा था, (गुप्त) सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) आषाढ़ सुदि १२ के दिन महाराज मातृविष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का यह ध्वजस्तंभ बनवाया[1]"। उक्त राजा के चांदी के सिक्के मिले हैं जिनपर गु० सं० १७४, १७५[2] और १८० (वि० सं० ५५०, ५५१ और ५५६= ई० स० ४९३, ४९४ और ४९९) के अंक हैं। उसके अंतिम समय में गुप्त राज्य के पश्चिमी विभाग पर हूणों का अधिकार हो गया और केवल पूर्वी विभाग गुप्तों के अधिकार में रहा था, क्योंकि एरण गांव से एक और लेख मिला जिससे पाया जाता है कि "महाराजाधिराज तोरमाण के राज्य के पहले वर्ष फाल्गुन मास के १० वें दिन मृत महाराज मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने अपने राज्य के परिकेण (एरण) स्थान में भगवान् वराह का मंदिर बनवाया"। हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुप्त सं० १६५ (वि० सं० ५४१ ई० स० ४८४) में मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु दोनों जीवित थे और बुधगुप्त के आश्रितों में से थे, और गुप्त सं० १८० (वि० सं० ५५६=ई० स० ४९९) तक बुधगुप्त भी राज्य कर रहा था ऐसा उसके सिक्कों से पाया जाता है, जिसके पीछे हूणों के राजा तोरमाण ने गुप्त राज्य का पश्चिमी प्रदेश अपने अधीन किया और धन्यविष्णु को उसका सामंत बनना पड़ा। इस प्रकार वि० सं० ५५६ और ५६७ (ई० स० ४९९ और ५१०) के बीच राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा मध्य प्रदेश पर से गुप्तों का अधिकार उठकर वहां हूणों का राज्य स्थापित हो गया। बुधगुप्त के बचे हुए राज्य का उत्तराधिकारी भानुगुप्त हुआ।

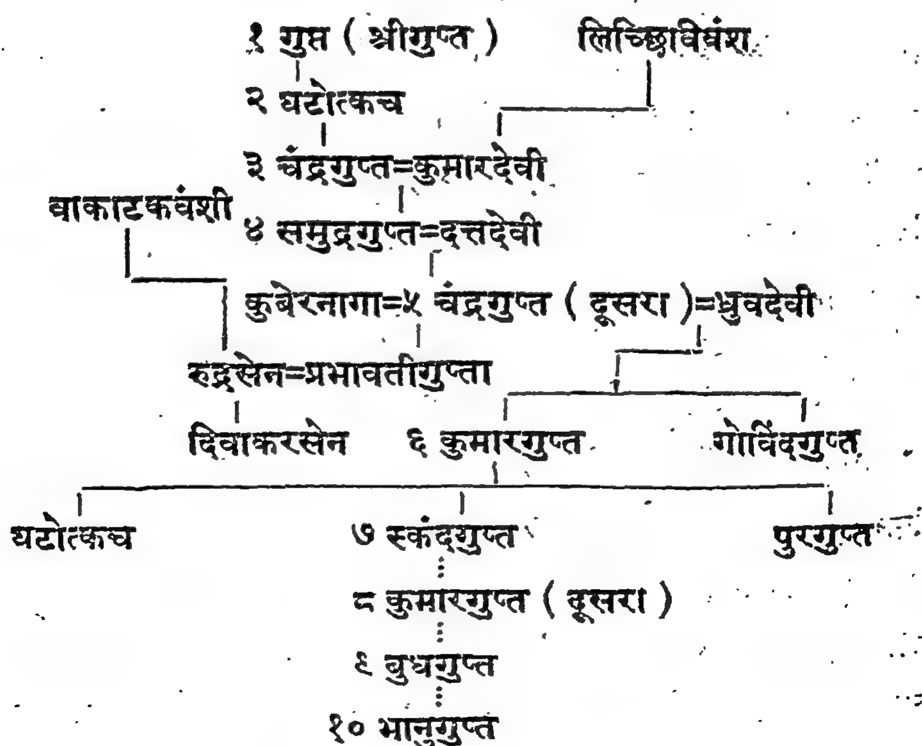
(१०) भानुगुप्त ने हूणों के हाथ में गये हुए गुप्त राज्य के पश्चिमी विभाग को पीछा लेने के लिये चढ़ाई की, परंतु उसमें उसको सफलता प्राप्त हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता। एरण के एक शिलालेख से सूचित होता है कि गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७=ई० स० ५१०) में "पार्थ (अर्जुन) के समान पराक्रमी वीर श्रीभानुगुप्त के साथ राजा गोपराज यहां (एरण में) आया और वीरता से लड़कर स्वर्ग को सिधारा। उसकी पतिव्रता स्त्री उसके साथ सती हुई[3]। यह युद्ध तोरमाण के साथ होना चाहिये। तोरमाण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल का

(१) फ्ली; गु इं; लेखसंख्या १९।
(२) ऑ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ६१७।
(३) फ्ली; गु. इं; लेख-संख्या ३६।

राज्य उक्त प्रदेशों पर हो गया जिससे बचे हुए गुप्त राज्य की भी समाप्ति हो गई।

इन गुप्तवंशी राजाओं का कोई लेख अब तक राजपूताने में नहीं मिला, जिसका कारण यही है कि यहां पर प्राचीन शोध का काम विशेष रूप से नहीं हुआ, तो भी गुप्त संवत् वाले कुछ शिलालेख मिले हैं[1] जो उनका यहां राज्य होना प्रकट करते हैं। राजपूताने में गुप्तों के विशेषकर सोने के और कुछ चांदी के सिक्के मिलते हैं। अजमेर में ही मुझे उनके २० से अधिक सोने के और ५ चांदी के सिक्के मिले। गुप्त राजाओं के समय में विद्या और शिल्प की बहुत कुछ उन्नति हुई, प्रजा सुख चैन से रही, बौद्ध धर्म की अवनति और वैदिक (ब्राह्मण) धर्म की फिर उन्नति हुई थी।

गुप्तों का वंशवृक्ष



(१) गुप्त संवत् २८९ का शिलालेख जोधपुर राज्य में नागोर से २४ मील उत्तर-पश्चिम के गोठ और मांगलोद गांवों की सीमा पर के दधिमती माता के मंदिर से मिला है (ए. इं; जि. ११, पृ० ३०३-४)

गुप्तवंशी राजाओं की नामावली (ज्ञात समय सहित)

१-गुप्त (श्रीगुप्त)

२-घटोत्कच

३-चंद्रगुप्त

४-समुद्रगुप्त

५-चंद्रगुप्त (दूसरा)—गु० सं० ८२ से ९३ तक (वि० सं० ४५८ से ४६९ तक)

६-कुमारगुप्त—गु० सं० ९६ से १३६ तक (वि० सं० ४७२ से ५१२ तक)

७-स्कंदगुप्त—गु० सं० १३६ से १४८ तक (वि० सं० ५१२ से ५२४ तक)

८-कुमारगुप्त (दूसरा) गु० सं० १५४ (वि० सं० ५३०)

९-बुधगुप्त—गु० सं० १५७ से १८० (वि० सं० ५३३ से ५५६ तक)

१०-भानुगुप्त—गु० सं० १९१ (वि० सं० ५६७)

वरीक वंश

वरीकवंशियों का राज्य भरतपुर राज्य में बयाना के आसपास के प्रदेश पर था। बयाने के क़िले विजयगढ़ में इस वंश के राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक नामक यज्ञ किया जिसका यूप (यज्ञस्तंभ) वहां खड़ा है। उसपर के लेख से पाया जाता है कि व्याघ्रात के प्रपौत्र, यशोरात के पौत्र और यशोवर्धन के पुत्र वरीक राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक यज्ञ का यह यूप संवत् वि० सं० ४२८ (ई० स० ३७२) फाल्गुन बहुल (वदि) ५ को स्थापित किया। इस वंश का केवल यही लेख[1] अब तक मिला है।

वर्मांत नामवाले राजा

मंदसोर (ग्वालियर राज्य में) और गंगधार (झालावाड़ राज्य में) से इन राजाओं के अब तक तीन शिलालेख मिले हैं जिनसे उनके वंश का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। उनके नामों के अंत में वर्मन् (वर्मा) पद लगा रहने से हमने उनको 'वर्मांत नामवाले राजा' कहकर उनका परिचय दिया है। राजपूताने में गंगधार के आसपास का कुछ प्रदेश उनके अधीन अवश्य

(१) फ्ली; गु. इं; पृ. २५२-५३।

रहा, जहां से इस अज्ञात वंश के राजा विश्ववर्मा का मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का शिलालेख[1] मिला है। इस वंश के राजाओं की नामावली इस तरह मिलती है—

१—जयवर्मा—मालव (विक्रम) सं० ४६१ (ई० स० ४०४) के मंदसोर से मिले हुए नरवर्मा के शिलालेख में उसको नरेंद्र (राजा) कहा है।

२—सिंहवर्मा (संख्या १ का पुत्र)—उसको उपर्युक्त लेख में क्षितीश (पृथ्वीपति) कहा है।

३—नरवर्मा (संख्या २ का पुत्र)—उसके समय के मालव (विक्रम) सं० ४६१ के शिलालेख[2] में उसको 'महाराज' लिखा है जिससे अनुमान होता है कि वह किसी राजा का सामंत (सरदार) हो। उसका पौत्र बंधुवर्मा गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था अतएव वह चंद्रगुप्त (दूसरे) का सामंत हो तो आश्चर्य नहीं।

४—विश्ववर्मा (संख्या ३ का पुत्र)—उसके समय का गंगधार का शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का[3] है। उसका पुत्र बंधुवर्मा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत हो, क्योंकि वि० सं० ४८० में कुमारगुप्त ही उत्तरी भारत का सम्राट् था। गंगधार के शिलालेख से पाया जाता है कि विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्ष ने विष्णु का मंदिर, तांत्रिक शैली का मातृका-गृह और एक बावड़ी बनवाई थी।

५ बंधुवर्मा (संख्या ४ का पुत्र)—उसके समय का मंदसोर का शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ४९३ (ई० स० ४३६) का[4] है। उक्त लेख से स्पष्ट है कि वह कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था। बंधुवर्मा के पीछे इस वंश के राजाओं का कोई लेख अब तक नहीं मिला है।

हूण वंश

मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्यजाति का नाम हूण था। हूणों के विषय में हम ऊपर (पृ० ५३-५६) लिख चुके हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि हूण कुशनवंशियों की शाखा हो (पृ० ५६)। अल्बेरूनी अपनी

(१) फ्ली; गु. इं; पृ. ७४-७६।
(२) ए. इं; जि. १२ पृ. ३२०-२१।
(३) फ्ली; गु. इं; पृ. ७४-७६।
(४) वही, पृ. ८१-८४।

पुस्तक 'तहक़ीक़े हिंद'[1] में काबुल (उदभांडपुर[2]) के शाहिवंशी हिंदू राजाओं के वर्णन में लिखता है कि 'इस वंश का मूलपुरुष बर्हतकीन था। इसी वंश में कनिक (कनिष्क) राजा हुआ जिसने पुरुषावर (पुरुषपुर, पेशावर) में एक विहार[3] (बौद्ध मठ) बनवाया, जो उसके नाम से कनिक चैत्य (कनिष्क चैत्य) कहलाया। उक्त वंश में ६० राजा हुए। अंतिम राजा लगतूरमान (लघु तोरमाण[4]) को मारकर उसके वज़ीर (मंत्री) ब्राह्मण[5] (?) कल्लर

(१) अल्बेरूनी ने ई० स० १०३० (वि० सं० १०८७) के आसपास अपनी अरबी पुस्तक लिखी, जिसका एक उत्तम संस्करण, और दो जिल्दों में उसका अंग्रेज़ी अनुवाद डॉ० एडवर्ड साचू ने प्रकाशित किया है।

(२) उदभांडपुर काबुल के हिंदू शाहिवंशी राजाओं की राजधानी थी। कल्हण पंडित ने अपनी 'राजतरंगिणी' में उक्त नगर का उल्लेख किया है (*उदभाण्डपुरे तेन शाहिराज्यं व्यजीयत*—५। २३२। *उदभाण्डपुरे····भीमशाहिरभूत्पुरा*—७। १०८१) अल्बेरूनी उसका नाम 'वेहंद' लिखता है और उसे कंदहार (गांधार) की राजधानी बतलाता है (एडवर्ड साचू; 'अल्बेरूनीज़ इंडिया'; जि० १, पृ० २०६)। चीनी यात्री हुएन्त्संग उसका नाम उ-तो किश्रा-हां चा (उदभांड) देता है और उसके दक्षिण में सिंधु नदी बतलाता है (बील; बु. रे. वे. व; जि. १, पृ० ११४)। हुएन्त्संग के जीवनचरित में लिखा है कि 'कपिश (काबुल) का राजा पहले उ तो-किश्रा हां-चा (उदभांड) में रहता था (श्रमण हूली के चीनी पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद, सेम्युल बीलकृत, पृ० १९२)। इस समय उदभांडपुर को उंद (हुंद, ओहिंद, या उहंद) कहते हैं और सिंधु और काबुल नदियों के संगम से कुछ दूर सिंधु से पश्चिम में है।

(३) हुएन्त्संग ने भी कुशनवंशी राजा कनिष्क के बनाये हुए इस विहार (संघाराम) का वर्णन किया है (बी; बु. रे. वे. व; जि. १; पृ० १०३)।

(४) एक ही राजवंश में एक ही नाम के दो राजा होते हैं तो दूसरे को 'लघु' (छोटा) कहते हैं, जैसे गुजरात के सोलंकियों में भीमदेव नाम के दो राजा हुए तो दूसरे को 'लघु भीमदेव' कहा है। ऐसे ही मेवाड़ में अमरसिंह नाम के दो राजा हुए जिससे पहले को 'बड़े अमरसिंह' और दूसरे को 'छोटे अमरसिंह' कहते हैं। इसी तरह हूण वंश में दो तोरमाण हुए हों; जिनमें से पहला तो मिहिरकुल का पिता और दूसरा उदभांडपुर का उक्त वंश का लघु तोरमाण। राजतरंगिणी में भी दो तोरमाणों के नाम मिलते हैं जिनमें से एक तो कश्मीर का राजा (३। १०३। जो मिहिरकुल का पिता था) और दूसरा उदभांडपुर का शाहियवंशी (५। २३३), परंतु उक्त पुस्तक में दोनों का वृत्तांत असंबद्ध है।

(५) अल्बेरूनी ने कल्लर के पीछे क्रमशः समंद (सामंत), कमलु, भीम, जेपाल, अनंदपाल, तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) और भीमपाल के नाम दिये ... त्रिलोचनपाल

(लल्लिय) ने उसका राज्य छीन लिया। अल्बेरूनी शाहिवंशी राजाओं को तुर्क (तुर्किस्तान के मूल निवासी) बतलाता है और उनका उद्गम तिब्बत से मानता है। अल्बेरूनी का कनिक अवश्य कुशनवंशी राजा कनिष्क था और लगतूरमान हूणवंशी तोरमाण (दूसरा) होना चाहिये; अतएव हमारे अनुमान के अनुसार कुशन और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहिये। भूटान के लोग अब तक तिब्बतवालों को 'हूणिया' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि कुशन और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुंचे और वहां उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया हो। वहां से फिर उन्होंने भिन्न भिन्न समय में हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।

हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया, परंतु उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने वीरता से लड़कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुधगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० स० ४६६) से कुछ पीछे हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग, अर्थात् गुजरात, काठियावाड़ राजपूताना मालवा आदि छीन लिया और वहां पर अपना राज्य स्थिर किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए हैं जिनका संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है।

१—तोरमाण हूणों में प्रतापी राजा हुआ। उसने गुप्तसाम्राज्य का पश्चिमी भाग ही अपने अधीन किया हो इतना ही नहीं, किंतु गांधार, पंजाब, कश्मीर आदि पर भी उसका राज्य था। राजपूताना आदि देशों को विजय करने के थोड़े ही समय पीछे उसका देहांत हो गया और उसका पुत्र मिहिरकुल (मिहिरगुप्त) उसका उत्तराधिकारी हुआ।

की मृत्यु हि० स० ४१२ (ई० स० १०२१=वि० सं० १०७८) में और भीमपाल की पांच बरस पीछे (ई० स० १०२६=वि० सं० १०८३) होना लिखा है (एडवर्ड साचू; 'अल्बेरूनीज़ इंडिया;' जि. २, पृ. १३)। वह इन राजाओं को ब्राह्मण बतलाता है, परंतु जैसलमेर की ख्यात से कर्नल टॉड ने सलभन (शालिवाहन) के पुत्र बालंद का विवाह दिल्ली के राजा जयपाल तंवर की पुत्री के साथ होना लिखा है (टॉ. रा; जि. २, पृ. ११८१) यदि अल्बेरूनी का जयपाल और जैसलमेर की ख्यात का जयपाल एक ही हो तो यह अनुमान हो सकता है कि उदभांडपुर के राजा ब्राह्मण नहीं, किंतु तंवर राजपूत हों। महमूद ग़ज़नवी से लड़नेवाले जयपाल का राज्य इधर दिल्ली तक और उधर काबुल तक होने का पता फारसी तवारीख़ों से लगता है।

२—मिहिरकुल (मिहिरगुल) का वृत्तांत हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक[1], कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी'[2] तथा कुछ शिलालेखों[3] में मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उसकी राजधानी शाकलनगर (पंजाब में) थी। वह बड़ा वीर राजा था और सिंध आदि देश उसने विजय कर लिये थे। पहले तो उसकी रुचि बौद्ध धर्म पर थी, परंतु पीछे बौद्धों से अप्रसन्न होकर उनके उपदेशकों को सर्वत्र मारने तथा बौद्ध धर्म को नष्ट करने की आज्ञा उसने दी थी। गांधार देश में बौद्धों के १६०० स्तूप और मठ तुड़वाए और कई लाख मनुष्यों को मरवा डाला। उसमें दया का लेश भी न था। शिव का परम भक्त होने से वह शिव को छोड़कर और किसी के आगे सिर नहीं झुकाता था, परंतु राजा यशोधर्म ने वि० सं० ५८६ (ई० स० ५३२) के आसपास उसको अपने पैरों पर झुकाया अर्थात् जीत लिया। इधर तो उसे यशोधर्म ने हराया और उधर मगध के गुप्तवंशी राजा नरसिंहगुप्त ने पराजित किया[4], जिससे मिहिरकुल के अधिकार से राजपूताना, मालवा आदि देश निकल गये थे, परंतु कश्मीर, गांधार आदि की ओर उसका अधिकार बना रहा। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है जो उसके राज्य-वर्ष १५ वें का है[5]। उसके सिक्कों में ईरानियों के ससानियन् शैली के सिक्कों का अनुकरण पाया जाता है, उनपर एक तरफ़ उसका नाम और दूसरी ओर बहुधा 'जयतु वृषध्वज' लेख है जो उसका शिवभक्त होना प्रकट करता है[6]।

यशोधर्म से हार खाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के

---

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि० १, पृ० १६६–१७१।

(२) कल्हण; 'राजतरंगिणी' तरंग १, श्लो. २८६–३२४।

(३) मंदसोर से मिला हुआ राजा यशोधर्म का शिलालेख; (फ्ली; गु. इं; पृ० १४६–४७। देखो ऊपर पृ० ५४–५५ और पृ० ५४ का टिप्पण २।

(४) राजा यशोधर्म के मंदसोर के शिलालेख से पाया जाता है कि उसने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लगाकर महेंद्राचल तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के देश विजय किये थे (देखो ऊपर पृ० ५४), ऐसी दशा में नरसिंहगुप्त राजा यशोधर्म का सामंत होना चाहिये, और संभव है कि वह मिहिरकुल से यशोधर्म के पक्ष में रहकर लड़ा हो।

(५) फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या ३७।

(६) देखो ऊपर पृ० ५४, और स्मि; कैं. कॉ. इं. म्यू; जि० १, पृ० २३६।

लिये लड़ते रहे हों ऐसा पिछले राजाओं के साथ उनकी जो लड़ाइयां हुई उनसे प्रकट होता है। थाणेश्वर और कन्नौज के बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन[1] और राज्यवर्द्धन[2] हूणों से लड़े थे; ऐसे ही मालवे का परमार राजा हर्षदेव[3] (सीयक), हैहय (कलचुरि) वंशी राजा कर्ण[4], परमार राजा सिंधुराज[5] और राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा कक्कल[6] (कर्कराज) आदि का हूणों से युद्ध करना उनके शिलालेखादि से प्रगट होता है। अब तो हूणों का कोई राज्य नहीं रहा। राजपूताना, गुजरात आदि के कुनबी लोग, जिनकी गिनती अच्छे कृषिकारों में है, हूण जाति के अनुमान किये जाते हैं।

हूणों ने हिंदुस्तान में आने के पूर्व ईरान का खज़ाना लूटा और वे उसे यहां ले आये, इसीसे ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं के सिक्के राजपूताना आदि देशों के अनेक स्थानों में गड़े हुए मिल आते हैं। मिहिरकुल ने भी उससे मिलती हुई शैली के अपने सिक्के बनाए। हूणों का राज्य नष्ट होने के पीछे भी गुजरात, मालवा, राजपूताना आदि में विक्रम संवत् की १२ वीं शताब्दी के आसपास तक बहुधा उसी शैली के चांदी और तांबे के सिक्के बनते और चलते रहे, परंतु क्रमशः उनका आकार घटने के साथ उनकी कारीगरी में भी यहां तक भद्दापन आ गया कि उनपर राजा के चेहरे का पहचानना भी कठिन हो गया। उसकी आकृति इतनी पलट गई कि लोगों ने उसको गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को गाधिया या गदिया[7] नाम से प्रसिद्ध किया, परंतु उनका गधे से कोई संबंध नहीं है।

गुर्जर (गूजर) वंश

इस समय गुर्जर अर्थात् गूजर जाति के लोग विशेषकर खेती या पशुपालन से अपना निर्वाह करते हैं, परंतु पहले उनकी गणना राजवंशियों में थी।

---

(१) ए. इं; जि० १, पृ० ६६।

(२) वही; जि० १, पृ० ६६।

(३) वही; जि० १, पृ० २२५।

(४) वही; जि० २, पृ० ६।

(५) वही; जि० १, पृ० २२८।

(६) इं. एँ; जि० १२, पृ० २६८।

(७) गाधिया सिक्कों के लिये देखो स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; जि० १, प्लेट २५, संख्या ८, ११-१५।

अब तो केवल उनका एक राज्य समथर (बुंदेलखंड में) और कुछ ज़मींदारियां संयुक्त प्रदेश आदि में रह गई हैं। पहले पंजाब, राजपूताने तथा गुजरात में उनके राज्य थे। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दुस्तान में आया। वह अपनी यात्रा की पुस्तक में गुर्जर देश का वर्णन करता और उसकी राजधानी भीनमाल (भिन्नमाल, श्रीमाल, जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में) बतलाता है। हुएन्त्संग का बतलाया हुआ गुर्जर देश महाक्षत्रप रुद्रदामा के राज्य के अंतर्गत था तो भी उक्त राजा के गिरनार के शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) से कुछ ही पीछे के लेख में उसके अधीनस्थ देशों के जो नाम दिये हैं उनमें गुर्जर नाम नहीं, किंतु उसके स्थान में श्वभ्र और मरु नाम दिये हैं, जिससे अनुमान होता है कि उक्त लेख के खुदे जाने तक गुर्जर देश (गुजरात) नाम प्रसिद्धि में नहीं आया था। क्षत्रपों के राज्य के पीछे किसी समय गुर्जर (गूजर) जाति के अधीन जो देश रहा वह गुर्जर देश या 'गुर्जरत्रा' (गुजरात) कहलाया। हुएन्त्संग गुर्जर देश की परिधि ८३३ मील बतलाता है[1], इससे पाया जाता है कि वह देश बहुत बड़ा था, और उसकी लंबाई अनुमान ३०० मील या उससे भी अधिक होनी चाहिये। प्रतिहार (पड़िहार) राजा भोजदेव (प्रथम) के वि० सं० ९०० के दानपत्र में लिखा है कि 'उसने गुर्जरत्रा (गुजरात) भूमि (देश) के डेंडवानक विषय (ज़िले) का सिवा गांव दान किया[2]'। वह दानपत्र जोधपुर राज्य में डीडवाना ज़िले के सिवा गांव के एक टूटे हुए मंदिर से मिला था। उसमें लिखा हुआ डेंडवानक ज़िला जोधपुर राज्य के उत्तर-पूर्वी हिस्से का डीडवाना ही है, और सिवा गांव डीडवाने से ७ मील पर का सेवा गांव है जहां से वह ताम्रपत्र मिला है। कालिंजर से मिले हुए वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास के एक शिलालेख में[3] गुर्जरत्रा मंडल (देश) के मंगलानक गांव से आये हुए जेंदुक के बेटे देदुक की बनाई हुई मंडपिका के

(१) ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४२।

(२) *गुर्जरत्राभूमौ डेण्डवानकविषयसम्ब(म्ब)द्ध सिवाग्रामाग्रहारे*

(ए. इं; जि. ५, पृ० २११)

(३) *श्रीमद्गुर्ज्जरत्रामण्डलान्तःपाति मंगलानकविनिर्ग्गत०*

(वही; जि. ५, पृ० २१०; टिप्पण ३)

प्रसंग में उसकी स्त्री लक्ष्मी के द्वारा उमामहेश्वर के पट्ट की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। मंगलानक जोधपुर राज्य के उत्तरी विभाग का मंगलाना गांव है, जो मारोठ से १६ मील पश्चिम और डीडवाने से थोड़े ही अंतर पर है। हुएन्त्संग के कथन और इन दोनों लेखों से पाया जाता है कि वि० सं० की ७ वीं से ६ वीं शताब्दी तक जोधपुर राज्य का उत्तर से दक्षिण तक का सारा पूर्वी हिस्सा गुर्जर देश (गुर्जरत्रा, गुजरात) के अंतर्गत था। इसी तरह दक्षिण और लाट के राठोड़ों तथा प्रतिहारों के बीच की लड़ाइयों के वृत्तांत से जाना जाता है कि गुर्जर देश की दक्षिणी सीमा लाट देश[1] से जा मिलती थी। अतएव जोधपुर राज्य का सारा पूर्वी हिस्सा तथा उससे दक्षिण लाट देश तक का वर्तमान गुजरात देश भी उस समय गुर्जर देश के अंतर्गत था। अब तो केवल राजपूताने से दक्षिण का हिस्सा ही गुजरात कहलाता है। देशों के नाम बहुधा उनपर अधिकार करनेवाली जातियों के नाम से प्रसिद्ध होते रहे हैं, जैसे कि मालवों से मालवा, शेखावतों से शेखावाटी, राजपूतों से राजपूताना आदि, ऐसे ही गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार होने से गुर्जरत्रा (गुजरात) नाम प्रसिद्ध हुआ। गुर्जरदेश पर गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार कब हुआ और कब तक रहा यह ठीक निश्चित नहीं, तो भी इतना तो निश्चित है कि रुद्रदामा के समय अर्थात् वि० सं० २०७ (ई० स० १५०) तक गुर्जरों का राज्य भीनमाल में नहीं हुआ था। संभव है कि क्षत्रपों का राज्य नष्ट होने पर गुर्जरों का अधिकार वहां हुआ हो। वि० सं० ६८५ (ई० स० ६२८) के पूर्व उनका राज्य वहां से उठ चुका था, क्योंकि उक्त संवत् में वहां चाप (चावड़ा)-वंशी राजा व्याघ्रमुख का राज्य होना भीनमाल के ही रहनेवाले (भिल्लमालकाचार्य) प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' से पाया जाता है[2]। लाट देश के चालुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४६० (वि० सं० ७६६=ई० स० ७३६) के दानपत्र से जान पड़ता है कि चावोटक (चाप, चावड़ा) वंश गुर्जर वंश से भिन्न था[3]।

---

(१) लाटदेश की सीमा के लिये देखो ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४६, टिप्पण ३।

(२) देखो ऊपर पृ० ५६ और टिप्पण २।

(३) *तरलतरतारतरवारिविदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये* (ना. प्र. प; भाग १, पृ० २१० और पृ० २११ का टिप्पण २३।

भीनमाल का गुर्जर-राज्य चावड़ों के हस्तगत होने के पीछे वि० सं० की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में अलवर राज्य के पश्चिमी विभाग तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों पर गुर्जरों का एक और राज्य होने का भी पता चलता है। अलवर राज्य के राजोरगढ़ नामक प्राचीन क़िले से मिले हुए वि० सं० १०१६ (ई० स० ६६०) माघ सुदि १३ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय राज्यपुर (राजोरगढ़) पर प्रतिहार गोत्र का गुर्जर महाराजाधिराज सावट का पुत्र, महाराजाधिराज परमेश्वर मथनदेव राज्य करता था और वह परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर क्षितिपालदेव (महीपाल) का सामंत था[1]। यह क्षितिपाल कन्नौज का रघुवंशी प्रतिहार राजा था। उस शिलालेख में मथनदेव को महाराजाधिराज परमेश्वर लिखा है जिससे अनुमान होता है कि वह क्षितिपालदेव (महीपाल) के बड़े सामंतों में से हो। उसी लेख से यह भी जाना जाता है कि उस समय वहां गुर्जर (गूजर) जाति के किसान भी थे[2]।

वर्तमान गुजरात के भड़ौच नगर पर भी गुर्जरों का राज्य वि० सं० की सातवीं और आठवीं शताब्दी में रहने का पता उनके दानपत्रों से लगता है। संभव है कि उक्त संवतों के पहले और पीछे भी उनका राज्य वहां रहा हो, और आश्चर्य नहीं कि भीनमाल के गुर्जरों (गूजरों) का राज्य ही भड़ौच तक फैल गया हो और भीनमाल का राज्य उनके हाथ से निकल जाने पर भी भड़ौच के राज्य पर उनका या उनके कुटुंबियों का अधिकार बना रहा हो। भड़ौच के गुर्जर राजाओं के दानपत्रों से प्रकट होता है कि उस [illegible] भड़ौच ज़िला; सूरत ज़िले के ओरपाड, चौरासी और [illegible] उनके पासवाले बड़ौदा राज्य, रेवाकांठा और [illegible]

गुर्जर जाति की उत्पत्ति के विषय में [illegible] कल्पनाएं की हैं। जनरल कनिंगहाम ने [illegible] अनुमान किया है[3], वी० ए० [illegible]

(१) ए. इं; जि० २, [illegible]
(२) वही; जि० ३, [illegible]
(३) क; आ. [illegible]
(४) [illegible]

जेम्स कैंपबेल का कथन है कि ईसवी सन् की छठी शताब्दी में ख़ज़र नाम की एक जाति, जहां यूरोप और एशिया की सीमा मिलती है, वहां रहती थी; उसी जाति के लोग गुर्जर या गूजर हैं[1] और मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने[2] कैंपबेल का कथन स्वीकार किया है[3]; परन्तु ये सब कल्पनामात्र हैं क्योंकि उनमें से कोई भी यह सप्रमाण नहीं बतला सका कि अमुक समय में अमुक कारण से यह जाति बाहर से यहां आई। ख़ज़र से गुर्जर या गूजर जाति की उत्पत्ति मानना

(१) इं. ऐं; जि० ४०, पृ० ३०।

(२) श्रीयुत भंडारकर ने तो साथ में यह भी लिखा है कि "बंबई इहाते में गूजर (गुर्जर) नहीं हैं; ज्ञात होता है कि वह जाति हिन्दुओं में मिल गई। वहां गूजर (गुर्जर) वाणिये (बनिये, महाजन), गूजर (गुर्जर) कुंभार और गूजर (गुर्जर) सिलावट हैं। खानदेश में देशी कुनबी और गूजर (गुर्जर) कुनबी हैं। एक मराठा कुटुंब गुर्जर कहलाता है जो महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। करहाड़ा ब्राह्मणों में भी गुर्जर नाम मिलता है। राजपूताने में गूजरगौड़ (गुर्जरगौड़) ब्राह्मण हैं। ये सब गूजर (गुर्जर) जाति के हैं" (इं. ऐं; जि० ४०, पृ० २२)। भंडारकर महाशय को इन नामों की मामूली उत्पत्ति जानने में भी भारी भ्रम हुआ और उसीसे इन सबको गूजर ठहरा दिया है, परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जैसे श्रीमाल नगर (भीनमाल, जोधपुर राज्य में) के ब्राह्मण, महाजन, जड़िये आदि बाहर जाने पर अपने मूल निवासस्थान के नाम से अन्य ब्राह्मणों आदि से अपने को भिन्न बतलाने के लिये श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन आदि कहलाए; इसी तरह मारवाड़ में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र के रहनेवाले ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट आदि कहलाए; और गौड़ देश के ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ आदि बाहर जाने पर गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ आदि प्रसिद्ध हुए; वैसे ही प्राचीन गुर्जर देश के रहनेवाले ब्राह्मण, महाजन, कुंभार, सिलावट आदि गुर्जर ब्राह्मण, गुर्जर (गूजर) बनिये, गुर्जर (गूजर) कुंभार तथा गुर्जर (गूजर) सिलावट कहलाए हैं। अतएव गुर्जर ब्राह्मण आदि का अभिप्राय यह नहीं है कि गुर्जर (गूजर) जाति के ब्राह्मण आदि। उनके नाम के पूर्व लगनेवाला गुर्जर (गूजर) शब्द उनके आदि निवास का सूचक है, न कि जाति का। उक्त महाशय ने एक करहाड़ा ब्राह्मण कुटुंब के यहां के ई० स० ११६१ (वि० सं० १२४८) के दानपत्र से थोड़ासा अवतरण भी दिया है जिसमें दान लेनेवाले गोविंद ब्राह्मण को काश्यप, अवत्सार और नैध्रुव, इन तीन प्रवरवाले नैध्रुव गोत्र का, और गुर्जर उपनामवाला (गुर्जरसमुपाभिधान) कहा है। यदि गूजर जाति का एशिया की ख़ज़र जाति होना माना जाय तो क्या उनके यहां भी गोत्र और प्रवर का प्रचार था? उन्होंने गूजरगौड़ों की उत्पत्ति के विषय में भी लिखा है कि 'इस नाम का तात्पर्य गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण हैं', परंतु वास्तव में गुर्जरगौड़ का अर्थ यही है कि गुर्जर देश के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण, न कि गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण।

(३) इं. ऐं; जि० ४०, पृ० ३०।

वैसी ही कपोलकल्पना है जैसा कि कोई यह कहे कि सकसेने कायस्थ यूरोप की सैक्सन् जाति से निकले हैं। नवसारी से मिले हुए भड़ौच के गुर्जरवंशी राजा जयभट (तीसरे) के कलचुरि संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२) के दानपत्र में गुर्जरों का महाराज कर्ण (भारतप्रसिद्ध) के वंश में होना लिखा है।

बड़गूजर

कर्नल टॉड ने लिखा है कि "बड़गूजर सूर्यवंशी हैं और गुहिलोतों को छोड़कर केवल यही एक वंश ऐसा है जो अपने को रामचंद्र के बड़े बेटे लव[1] से निकलना बतलाता है। बड़गूजर लोगों के बड़े बड़े इलाक़े ढूंढाड़ (जयपुर राज्य) में थे, और माचेड़ी (अलवर के राजाओं का मूलस्थान) के राज्य में राजोर (राजोरगढ़) का पहाड़ी क़िला उनकी राजधानी था। राजगढ़ और अलवर भी उनके अधिकार में थे। जब बड़गूजरों को कछवाहों ने उनके निवासस्थानों से निकाल दिया तो उस वंश के एक दल ने गंगा किनारे जाकर शरण ली और वहां पर नया निवासस्थान अनूपशहर बसाया[2]"। कर्नल टॉड ने बड़गूजरों की राजधानी राजोरगढ़ बतलाई है। हम ऊपर वि० सं० १०१६ के शिलालेख से बतला चुके हैं कि प्रतिहार गोत्र के गुर्जर राजा मथनदेव की राजधानी राजोरगढ़ ही थी। बड़गूजरों का राज्य उस प्रदेश पर बहलोल लोदी के समय तक रहना तो उनके शिलालेखों से निश्चित है, जिसके पीछे कछवाहों ने उनकी जागीरें छीनी हों। लेखों में बड़गूजर नाम पहले पहल माचेड़ी की बावड़ीवाले वि० सं० १४३९ (ई० स० १३८२) के शिलालेख में देखने में आया। उस लेख से पाया जाता है कि उक्त संवत् में वैशाख सुदि ६ को सुरताण (सुलतान) पेरोजसाहि (फ़ीरोज़शाह तुग़लक) के राज्य-समय, जब कि माचाड़ी (माचेड़ी) पर बड़गूजर वंश के राजा आसलदेव के पुत्र महाराजाधिराज गोगदेव का राज्य था, वह बावड़ी खंडेलवाल महाजन कुटुंब ने बनवाई[3]। उसी गोगदेव के समय के वि० सं० १४२१ और १४२६ (ई० स० १३६४ और १३६९) के शिला-

(१) गुहिलोतवंशी राजा अपने को रामचंद्र के पुत्र लव के वंश में नहीं, किंतु कुश के वंश में मानते हैं। कर्नल टॉड ने यह भ्रम से लिखा है।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० १४०-४१।

(३) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८-१९ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या ८।

लेख भी देखने में आए हैं[1]। गोगदेव फ़ीरोज़शाह तुग़लक का सामंत था। वहीं दूसरी बावड़ी में एक शिलालेख वि० सं० १५१५, शाके १३८० (ई० स० १४५८) का सुरताण (सुल्तान) बहलोलसाहि (बहलोल लोदी) के समय का बिगड़ी हुई दशा में है। उस समय माचेड़ी में बड़गूजरवंशी महाराज रामसिंह के पुत्र महाराज रजपालदेव (राज्यपालदेव) का राज्य होना लिखा है[2]। उक्त लेख का महाराज रामसिंह गोगदेव का पुत्र या पौत्र होना चाहिये।

गुर्जरों (गूजरों) के साथ इस समय राजपूतों का शादी व्यवहार नहीं है, किंतु बड़गूजरों के साथ है। जयपुर के राजाओं की कितनी एक राणियां इस वंश की थीं। ग्वालियर के तंवर राजा मानसिंह की गूजरी राणी के नाम पर उसने गूजरी, बहुलगूजरी, मालगूजरी और मंगलगूजरी नाम की चार रागनियां बनाईं ऐसा जनरल कनिंगहाम का कथन है[3]।

राजा यशोधर्म

यशोधर्म, जिसको विष्णुवर्द्धन भी कहते थे, बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ, परंतु उसके वंश या पिता आदि का अब तक कुछ भी हाल जाना नहीं गया। उसके शिलालेख मंदसोर और वहां से दो मील पर के सौंदणी नामक स्थान में मिले हैं जिनसे अनुमान होता है कि उस प्रतापी राजा की राजधानी मंदसोर हो। सौंदणी में ही उसने अपने दो विजयस्तंभ खड़े करवाए, जो बड़े विशाल हैं, परंतु अब तो धराशायी हो रहे हैं। इन दोनों विजयस्तंभों पर एक ही लेख खुदवाया गया था, जो इस समय एक पर तो पूर्णतया सुरक्षित है, परंतु दूसरे पर का आधा अंश नष्ट हो गया है। उक्त पूरे लेख का आशय यह है कि "जो देश गुप्त राजाओं तथा हूणों के अधिकार में नहीं आये थे उनको भी उसने अपने अधीन किया; लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से महेंद्र पर्वत (हिन्दुस्तान के पूर्वी विभाग का पूर्वी घाट) और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तट तक के स्वामियों को अपना सामंत बनाया[4], और राजा मिहिरकुल ने भी, जिसने शंभु (शिव)

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८-१९ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ६-७।

(२) वही; पृ० ३, लेखसंख्या ११।

(३) देखो ऊपर पृ. ३१ और टिप्पण ५।

(४) ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्क्रान्तिदृष्टप्रतापै-
र्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।

के सिवा किसी के आगे सिर नहीं झुकाया था, उसके चरणों में अपना मस्तक नमाया अर्थात् उससे हारा[1]"। विजयस्तंभ पर के दोनों लेखों में संवत् नहीं है, परंतु मंदसोरवाला उसका शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ५८९ (ई० स० ५३२) का है[2]। उसमें पूर्व और उत्तर के बहुतसे राजाओं को वश करने का कथन तो है, परंतु मिहिरकुल को हराने का उल्लेख नहीं है, जिससे अनुमान होता है कि विजयस्तंभ वि० सं० ५८९ के पीछे खड़े किये गए होंगे।

बैस वंश

बैसवंशी राजपूत सूर्यवंशी माने जाते हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री का विवाह कन्नौज के मुखर-(मोखरी)वंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ होने को सूर्य और चंद्रवंशों का मिलाप बतलाया है[3]। इस वंश का इतिहास बाणभट्ट के 'हर्षचरित', राजा हर्ष के दानपत्र, चीनी यात्री हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक तथा दक्षिण के सोलंकियों के शिलालेखादि से मिलता है जिसका सारांशमात्र नीचे लिखा जाता है।

पुष्यभूति श्रीकंठ प्रदेश (थाणेश्वर) का[4] स्वामी और परम शिवभक्त

देशांस्तान्धन्वशैलद्रुमश(ग)हनसरिद्वीरबाहूपगूढा—
न्वीर्यावस्कन्नराज्ञः स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति ॥
आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा—
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः ।
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि—
श्चूडारत्नाङ्शुराजिर्व्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते ॥

मंदसोर का शिलालेख (फ्लीट; गु. इं; पृ० १४६)

(१) देखो ऊपर पृ० २४, टिप्पण २।

(२) फ्लीट; गु. इं; पृ० १५२-५४।

(३) तात त्वां प्राप्य चिरात्खलु राज(ज्य)श्रिया घटितौ तेजोमयौ सकलजगद्गीयमानबुधकर्णानंदकारिगुणगणौ सोमसूर्यवंशाविव पुष्प(ष्य)भूतिमुखरवंशौ (हर्षचरित, उच्छ्वास ४, पृ० १४६; निर्णयसागर-संस्करण)।

(४) अस्ति पुण्यकृतामधिवासो वासवावास इव वसुधामवतीर्णः...... श्रीकण्ठो नाम जनपदः (वही; पृ० ९२-९३)

था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की राणी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की राणी अप्सरादेवी से आदित्यवर्द्धन का जन्म हुआ, वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी राणी महासेनगुप्ता से प्रभाकरवर्द्धन ने जन्म लिया, जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्द्धन तक के नामों के साथ केवल 'महाराज[1]' पद मिलता है, अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं, किंतु दूसरों (गुप्तों) के सामंत हों। उनका राजपूताने के साथ कुछ भी संबंध नहीं रहा।

प्रभाकरवर्द्धन की पदवियां 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं[2]। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं को नमानेवाला, तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर और लाट देशों को विजय करनेवाला लिखा है[3] (गुर्जर देश ऊपर बतलाया हुआ प्राचीन गुर्जर देश होना चाहिये)। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्यहृदय' का पाठ किया करता था। उसकी राणी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन, तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह कन्नौज के मोखरीवंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। मालवे के राजा ने ग्रहवर्मा को मारा और उसकी राणी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियां डालकर उसे कन्नौज के क़ैदख़ाने में रक्खा[4]। उसी समय प्रभाकरवर्द्धन का देहांत हुआ और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्द्धन थाणेश्वर के राज्य-सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्द्धन अपने पिता के देहांत-समय उत्तर में हूणों से लड़ने को गया हुआ था; उनके साथ के युद्ध में वह घायल हुआ, परंतु विजय प्राप्त कर उसी दशा में थाणेश्वर पहुंचा। अपने पिता के असाधारण प्रेम का स्मरण कर उसने राज्यसिंहासन पर आरूढ होना पसंद न किया, किंतु भदंत (बौद्ध साधु) होने के विचार से अपने

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० २१०।

(२) वही; जि० ४, पृ० २१०।

(३) *हूणहरिणकेसरी सिंधुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपालको लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्द्धनो नाम राजाधिराजः।* ('हर्षचरित'; पृ० १२०)

(४) वही; उच्छ्वास ६, पृ० १८२-८३।

छोटे भाई हर्षवर्द्धन (हर्ष) को राज्यसिंहासन पर बिठाना चाहा। हर्ष ने भी भदंत होने की इच्छा प्रकट की और राज्य की उपाधि को स्वीकारना न चाहा। इतने में राज्यश्री के क़ैद होने की ख़बर मिली जिससे राज्यवर्द्धन ने भदंत होने का विचार छोड़ दिया और १०००० सवारों को साथ ले मालवे के राजा पर चढ़ाई कर दी। संग्राम में विजय पाकर उसने उसके बहुत से हाथी, घोड़े, रत्न, राणियों के आभूषण, छत्र, चंवर, सिंहासन आदि राज्यचिह्न छीन लिये, तथा उसके अंतःपुर की बहुतसी सुंदर स्त्रियों, और मालवे के सब राजाओं (सामंतों) को क़ैद कर लिया। लौटते समय गौड़ (बंगाल) के राजा नरेंद्रगुप्त (शशांक) ने अपने महलों में लेजाकर उस (राज्यवर्द्धन)को विश्वासघात से मार डाला[1]। यह घटना वि० सं० ६६३ (ई० स० ६०६) में हुई। हर्षवर्द्धन के दानपत्र में राज्यवर्द्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है[2]। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्द्धन हुआ।

हर्षवर्द्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते थे। राज्यसिंहासन पर बैठते ही गौड़ के राजा को, जिसने उसके बड़े भाई को विश्वासघात कर मारा था, नष्ट करने का संकल्प किया और अपने सेनापति सिंहनाद तथा स्कंदगुप्त की संमति से सब ही राजाओं के नाम इस अभिप्राय के पत्र भेजे कि 'या तो तुम मेरी अधीनता स्वीकार कर लो या मुझसे लड़ने को तैयार हो जाओ'। फिर दिग्विजय के लिये प्रस्थान कर पहला मुक़ाम राजधानी से थोड़ी दूर सरस्वती के तट पर किया। वहां प्रागूज्योतिष (बंगाल के राजशाही ज़िले का नगर) के राजा भास्करवर्मा (कुमार) के दूत हंसवेग ने उपस्थित होकर अपने स्वामी का भेजा हुआ छत्र भेट कर प्रार्थना की कि 'भास्करवर्मा आपसे

---

(१) 'हर्षचरित'; उच्छ्वास ६, पृ० १८६।

(२) राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्वे समं संयताः ॥
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वा प्रजानां प्रियं
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः ॥

हर्ष का दानपत्र (

मैत्री चाहता है'। उसने दूत का निवेदन स्वीकार कर उसके राजा को अपने पास उपस्थित होने के लिये कहलाया। वहां से कई मंज़िल आगे चलने पर मंत्री भंडि भी उससे आ मिला और उसने मालवराज के यहां से लाया हुआ लूट का माल नज़र कर निवेदन किया कि राज्यश्री कन्नौज के क़ैदखाने से भागकर विंध्याटवी में पहुंच गई है। यह समाचार पाते ही उस (हर्ष) ने भंडि को तो गौड़ के राजा को दंड देने के लिये भेजा और स्वयं विंध्याटवी की ओर चला और अपनी बहिन को लेकर यष्टिग्रह स्थान में पहुंचा[1]। अनुमान ३० वर्ष तक लगातार युद्ध कर उसने कश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर बड़ा राज्य स्थापित किया। उसने दक्षिण को भी अपने अधीन करना चाहा था, परंतु बादामी (वातापी, बंबई इहाते के बीजापुर ज़िले के बादामी विभाग का मुख्य स्थान) के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (दूसरे) से हार जाने[2] पर उसका वह मनोरथ सफल न हुआ। उसकी राजधानी थाणेश्वर और कन्नौज दोनों थीं। चीनी यात्री हुएन्त्संग, जो इस प्रतापी राजा के साथ रहा था, लिखता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने भाई के शत्रुओं को दंड देने तथा आसपास के सब देशों को अपने अधीन करने तक दाहिने हाथ से भोजन न करने का प्रण किया था। ५००० हाथी, २०००० सवार और ५०००० पैदल सेना सहित उसने निरंतर युद्ध किया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी अधीनता स्वीकार न करनेवाले सब राजाओं को जीतकर ६ वर्ष में हिंदुस्तान (नर्मदा से उत्तर के सारे देश)

---

(१) 'हर्षचरित'; उच्छ्वास ६-७।

(२) *अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-*
मकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधि पतितगज(जे)न्द्रानीकबी(बी)भत्सभूतो-
भयविगळितहर्षो येन चाकारि हर्षः॥ [२३]॥

पुलकेशी (दूसरे) के आहोळे के शिलालेख से (ए. इं; जि० ६, पृ० ६)

समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वरश्रीहर्षवर्द्धनपराजयोपलब्धपरमेश्वरनामधेयस्य ......

(पुलकेशी के ज्येष्ठ पुत्र चंद्रादित्य की राणी विजयभट्टारिका के दानपत्र से)

(इं. ऐं; जि. ७, पृ० १६३)

हुएन्त्संग ने भी हर्ष के इस पराजय का उल्लेख किया है (देखो ऊपर पृ० ७२-७३।

के पांचों प्रदेशों (पंजाब, सिंध, मध्यप्रदेश, बंगाल, गुजरात और राजपूताना आदि) को अपने अधीन किया। इस प्रकार राज्य बढ़ जाने पर अपनी सेना में भी वृद्धि कर लड़ाई के हाथियों की संख्या ६०००० और सवारों की १००००० तक पहुंचा दी। तीस वर्ष के बाद उसके शस्त्रों ने विश्राम पाया, फिर उसने शांतिपूर्वक राज्य किया। उस समय वह धर्म-प्रचार के कामों में निरंतर लगा रहता था। अपने राज्यभर में जीवहिंसा तथा मांसभक्षण की मनाई कर दी थी, इसके प्रतिकूल चलनेवाले को प्राणदंड होता था। तमाम बड़े मार्गों पर यात्रियों तथा ग़रीबों के लिये पुण्यशालाएं बनवाई थीं जहां पर खाने पीने के अतिरिक्त रोगियों को औषधि भी मिला करती थी। प्रति पांचवें वर्ष वह 'मोक्षमहापरिषद्' नामक सभा कर अपना ख़ज़ाना दान से ख़ाली कर देता, धर्मगुरुओं में परस्पर विवाद करवाकर उनके प्रमाणों की स्वयं परीक्षा करता, सदाचारियों का सम्मान करता, दुष्टों को दंड देता, बुद्धिमानों का उदय करता, सदाचारी धर्मवेत्ताओं से धर्म श्रवण करता और दुराचारियों को दूर ताड़ता था। वि० सं० ७०१ (ई० स० ६४४) के आसपास उसने प्रयाग में धर्ममहोत्सव किया जिसमें बड़े बड़े २० राजा उसके साथ थे[1]। रणरसिक होने के अतिरिक्त वह राजा विद्वान् भी था। उसके रचे हुए 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' नाटक उसकी विद्वत्ता के उज्वल रत्न हैं[2]। जैसा वह विद्वान् था वैसा ही चित्रविद्या

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि. १, पृ. २१३-१६।

(२) 'काव्यप्रकाश' की किसी हस्तलिखित प्रति में 'यथा श्रीहर्षादेर्धावकादीनां धनं' (श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को धन मिला) पाठ देखकर कुछ विद्वानों की यह कल्पना है कि 'रत्नावली' आदि नाटक श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने नहीं लिखे, किंतु धावक पंडित ने लिखकर धन के लालच से श्रीहर्ष को उनका रचयिता बतलाया और उससे धन लिया। प्रथम तो उक्त कथन का अर्थ यही है कि 'काव्यरचना से प्रसन्न होने पर राजा लोग विद्वानों को धन देते हैं जैसे कि श्रीहर्ष ने धावक को दिया था'। दूसरी बात यह है कि 'धावक' पाठ ही अशुद्ध है। डाक्टर बूलर को कश्मीर की प्राचीन प्रतियों में उपर्युक्त पाठ के स्थान में 'यथा श्रीहर्षादेर्बाणादीनां धनं' पाठ मिला, जिसको उसने शुद्ध पाठ माना इतना ही नहीं, किंतु यह भी लिखा कि 'धावक' का नाम कश्मीर में अज्ञात है, इसलिये उसे भारत के कवियों की नामावली में से निकाल देना चाहिये (डा० बूलर की कश्मीर, राजपूताना और मध्यभारत की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट; पृ. ६९)। काव्यप्रकाश (उल्लास १) के उक्त कथन का आशय यही है कि बाण कवि ने हर्ष का चरित लिखा जिसपर राजा ने उसको बहुतसा द्रव्य दिया था जैसा कि बाण ने स्वयं लिखा है।

में भी बड़ा ही निपुण था, क्योंकि बंसखेड़ा से मिले हुए उसके दानपत्र में उसने अपने हस्ताक्षर चित्रलिपि में किये हैं, जो उसकी चित्रनिपुणता की साक्षी दे रहे हैं[1]। विद्वानों का बड़ा सम्मान करनेवाला होने से उसके समय में कई बड़े बड़े विद्वान् हुए। सुप्रसिद्ध बाणभट्ट उसका आश्रित था जिसने 'हर्षचरित' नामक गद्य काव्य में उसका चरित लिखकर उसका नाम अमर कर दिया, और कादंबरी नामक अपूर्व गद्य कथा का पूर्वार्द्ध रचा। इस ग्रंथ का उत्तरार्द्ध उसके पुत्र पुलिंद(पुलिन)भट्ट ने अपने पिता का देहांत होने पीछे लिखकर उक्त पुस्तक को पूर्ण किया था। बाणभट्ट को हर्ष ने बड़ी समृद्धि दी थी ऐसा स्वयं उसके[2] (बाण के) तथा पिछले विद्वानों के कथन[3] से पाया जाता है। बाणभट्ट और पुलिंदभट्ट के अतिरिक्त मयूर (सूर्यशतक का कर्ता) और दिवाकर (मातंग दिवाकर) भी उसी राजा के दरबार के पंडित थे[4], ऐसा राजशेखर कवि की 'सूक्तिमुक्तावली' नामक पुस्तक में लिखा है। सुबंधु ('वासवदत्ता' का कर्ता) का उसीके समय होना माना जाता है। जैन विद्वान् मानतुंगाचार्य ('भक्तामरस्तोत्र' का कर्त्ता) भी उसी राजा के समय में हुआ ऐसा जैनों का कथन है।

बड़ा ही विद्वान् था यह बाण आदि के लेखों से सिद्ध है।

(१) ए. इं; जि. ४, पृ. २१० के पास के फ़ोटो में राजा हर्ष के हस्ताक्षर देखिये।

(२) *अविशच्च पुनरपि नरपतिभवनम्। स्वल्पैरेव चाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमानीयत नरेन्द्रेणेति* ('हर्षचरित'; उच्छ्वास २ का अंत, पृ. ८२।

(३) 'सारसमुच्चय' नामकी पुस्तक में 'काव्यप्रकाश' के उपर्युक्त कथन के उदाहरण में नीचे लिखा हुआ श्लोक दिया है—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्॥
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्॥

(पीटर्सन की पहली रिपोर्ट; पृ. २१)

(४) *अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।*
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

'सुभाषितावलि' की अंग्रेज़ी भूमिका; पृ. ८६।

हर्षवर्द्धन की पुत्री का विवाह वलभीपुर (वळा, काठियावाड़ में) के राजा ध्रुवभट (ध्रुवसेन दूसरे) के साथ होना चीनी यात्री हुएन्त्संग लिखता है[1]। राजा हर्षवर्द्धन ने चीन के बादशाह से मैत्री कर अपने एक ब्राह्मण राजदूत को उसके पास भेजा जहां से वह वि० सं० ७०० (ई० स० ६४३) में लौटा। उसीके साथ चीन के बादशाह ने भी अपना दूतदल हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा था। वि० सं० ७०४ (ई० स० ६४७) में चीन के बादशाह ने दूसरी बार अपने दूतदल को, जिसका मुखिया वंगहुएन्त्से था, हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा, परंतु उसके मगध में पहुंचने से पूर्व ही वि० सं० ७०५ (ई० स० ६४८) के आसपास उसका देहांत हो गया और उसके सेनापति अर्जुन ने राज्यसिंहासन छीनकर चीनी दूतदल को लूट लिया, और कई चीनी सिपाही मारे गये। इसपर उक्त दूतदल का मुखिया (वंगहुएन्त्से) अपने साथियों सहित नेपाल में भाग गया, किंतु थोड़े ही दिनों बाद वह नेपाल तथा तिब्बत की सेना को साथ लेकर पीछा आया तो अर्जुन भागा, परंतु पराजित होकर क़ैद हुआ और वंगहुएन्त्से उसको चीन ले गया[2]। इस प्रकार हर्षवर्द्धन के स्थापित किये हुए महाराज्य की समाप्ति उसीके देहांत के साथ हो गई और उसके अधीन किये हुए सब राजा फिर स्वतंत्र बन बैठे।

वि० सं० ६६४ में हर्षवर्धन का राज्याभिषेक हुआ था उस समय से उसने अपने नाम का संवत्[3] चलाया, जो हर्ष या श्रीहर्ष संवत् नाम से प्रसिद्ध हुआ, और अनुमान ३०० वर्ष तक चलकर अस्त हो गया। राजपूताने में हर्ष संवत्वाले शिलालेख मिले हैं[4]। हर्षवर्द्धन पहले शिव का भक्त था, परंतु बौद्ध धर्म

(१) चीनी यात्री हुएन्त्संग की भारतयात्रा की पुस्तक 'सीयुकि' के अंग्रेज़ी अनुवाद में बील ने शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) के पुत्र की राजकन्या का विवाह वलभी के राजा ध्रुवभट के साथ होना लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि. २, पृ. २६७) और ऐसा ही अनुवाद जुलियन ने किया है, परंतु टॉमस वॉटर्स उक्त पुस्तक के अनुवाद एवं उसकी विस्तृत टिप्पणी में शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) ही की पुत्री का विवाह ध्रुवभट के साथ होना बतलाता है (वॉटर्स; ऑन युअन् च्वांग'; जि. २, पृ. २४७) जो अधिक विश्वास के योग्य है।

(२) चवन्नेज़; 'मेमॉयर;' पृ. १६, टिप्पण २।

(३) हर्ष संवत् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ. १७७।

(४) भरतपुर राज्य के कोट नामक गांव से मिले हुए एक कुटिलाक्षरवाले शिलालेख में, जो इस समय भरतपुर की राजकीय लाइब्रेरी (

की तरफ श्रद्धा अधिक होने के कारण सम्भव है कि पीछे से वह बौद्ध हो गया हो। श्रीहर्ष के पीछे उसके वंश का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। अवध में बैसवाड़े का इलाक़ा बैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है और उनमें तिलकचंदी बैस अपने को मुख्य मानते हैं।

चावड़ा वंश

संस्कृत लेखों में उक्त वंश का नाम चाप, चापोत्कट या चावोटक लिखा मिलता है और भाषा में उसको चावड़ा कहते हैं। अब तक चावड़ों के राज्य तीन जगह होने का पता लगा है। सब से पुराना राज्य राजपूताने में भीनमाल पर था; दूसरा काठियावाड़ में वढ़वाण पर रहा जैसा कि वहां के राजा धरणीवराह के श० सं० ८३६ (वि० सं० ९७१=ई० स० ९१४) के दानपत्र से पाया जाता है[1] और तीसरा राज्य चावड़े वनराज ने वि० सं० ८२१ (ई० स० ७६४) में अणहिलवाड़ा (पाटन) बसाकर वहां स्थापित किया। इनमें से राजपूताने का संबंध केवल भीनमाल के चावड़ों के राज्य से ही है।

चावड़ा वंश की उत्पत्ति के विषय में हड्डाला (काठियावाड़ में) से मिले हुए वढ़वाण के चाप (चावड़ा) वंशी राजा धरणीवराह के वि० सं० ९७१

---

४८ दिया हुआ है। लिपि के आधार पर यह संवत् भी हर्ष संवत् ही हो सकता है (अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् की ई. स. १९१६-१७ की रिपोर्ट; पृ. २, लेखसंख्या १)।

अलवर राज्य के तसई गांव में एक शिवालय के बाहर की दीवार में कुटिल लिपि में खुदी हुई एक प्रशस्ति का नीचे का अंश लगा हुआ है जिसमें संवत् १८२ दिया है। लिपि के आधार पर वह हर्ष संवत् ही माना जा सकता है (अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् की ई. स. १९१९-२० की रिपोर्ट; पृ. २, लेखसंख्या १)।

उदयपुर के विक्टोरियाहॉल के म्यूज़ियम् में एक शिलालेख रक्खा हुआ है, जो राजा धवलप्पदेव के समय का संवत् २०७ का है और ३० वर्ष पूर्व मुझको डभोक गांव में कर्नल जेम्स टॉड के बंगले के पीछे खेत में पड़ा हुआ मिला था। उसकी लिपि के आधार पर उसका संवत् हर्ष संवत् ही माना जा सकता है। मैंने उसकी एक छाप प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बूलर के पास सम्मति के लिये भेजी तो उक्त विद्वान् ने भी उसके संवत् को हर्ष संवत् ही स्वीकारा। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने उक्त लेख के संवत् को ८०७ पढ़कर उसको विक्रम संवत् माना है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, वेस्टर्न सर्कल; ई. स. १९०५-६ पृ. ६१), परंतु यह सही नहीं क्योंकि उक्त लेख में ८ के अंक का कहीं नामनिशान भी नहीं है।

(१) इं. एं; जि० १२, पृ० १९३-४।

(ई० स० ६१४) के दानपत्र में लिखा है कि "पृथ्वी ने शंकर से प्रणाम कर निवेदन किया कि हे प्रभो! आप जब ध्यान में मग्न होते हैं उस समय असुर मुझको दुःख देते हैं, यह मुझसे सहन नहीं हो सकता। इसपर शंकर ने अपने चाप (धनुष) से पृथ्वी की रक्षा करने के योग्य एक पुरुष उत्पन्न किया जो 'चाप' कहलाया और उसका वंश उसी नाम से प्रसिद्ध हुआ"[1]। यह कथन वैसा ही कल्पित और चाप नाम का संबंध मिलाने के लिये गढ़ा गया है जैसा कि किसीने चौलुक्य नाम की उत्पत्ति बतलाने के वास्ते ब्रह्मा के चुलुक (चुल्लू) से चौलुक्यों के मूल पुरुष चालुक्य के उत्पन्न होने की कल्पना की है। चावड़ों के पुराने दोहों आदि से उनका परमारों के अंतर्गत होना पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने उनकी उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएं की हैं। कर्नल टॉड ने उनका सीथियन अर्थात् शक होना अनुमान किया है। कोई कोई विद्वान् उनकी गणना गुर्जरों (गूजरों) में करते हैं, परंतु लाट देश के चालुक्य (सोलंकी) वंशी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में ताज़िकों (अरबों) की चढ़ाई के प्रसंग में चावोटक (चापोत्कट, चावड़ा) और गुर्जर दो भिन्न भिन्न वंश बतलाये हैं[2], और भीनमाल के चावड़ों ने गुर्जरों (गूजरों) से ही वहां का राज्य लिया था, इसलिये उक्त विद्वानों का कथन विश्वास के योग्य नहीं है। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० ६९७ (ई० स० ६४१) के आसपास भीनमाल आया था। वह वहां के राजा को क्षत्रिय बतलाता है जो अधिक विश्वास के योग्य है। उस समय भीनमाल पर चावड़ों का ही राज्य था। हमारा अनुमान है कि चाप (चांपा, चंपक) नामक किसी मूल पुरुष के नाम से उसके वंशज चावड़े कहलाये हों। संस्कृत के विद्वान् लौकिक नामों को संस्कृत शैली के बना देते हैं इसीसे चावड़ा नाम के ऊपर लिखे हुए भिन्न भिन्न रूप संस्कृत में मिलते हैं।

भीनमाल के चावड़ों का शृंखलाबद्ध इतिहास अब तक नहीं मिला। वसंतगढ़ (सिरोही राज्य में) से एक शिलालेख राजा वर्मलात के समय का वि० सं० ६८२ (ई० स० ६२५) का मिला है, उससे पाया जाता है कि उक्त संवत्

(१) इं. ऐं; जि. १२, पृ० १९३।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २१०, और पृ० २१

में उक्त राजा का सामंत राज्जिल, जो वज्रभट (सत्याश्रय) का पुत्र था, अर्बुद देश (आबू और उसके आसपास के प्रदेश) का स्वामी था[1]। भीनमाल के रहनेवाले प्रसिद्ध माघ कवि ने, अपने रचे हुए 'शिशुपालवध' (माघ काव्य) में अपने दादा सुप्रभदेव को वर्मलात राजा का सर्वाधिकारी (मुख्य मंत्री) बतलाया है[2], अतएव वर्मलात भीनमाल का राजा होना चाहिये। वसंतगढ़ के शिलालेख तथा 'शिशुपालवध' में राजा वर्मलात के वंश का परिचय नहीं दिया, परंतु भीनमाल के रहनेवाले ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ने शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में, अर्थात् वर्मलात के समय के शिलालेख से केवल तीन वर्ष पीछे, 'ब्राह्मस्फुटसिद्धांत' नामक ग्रंथ रचा जिसमें वह लिखता है कि उस समय वहां का राजा चाप (चावड़ा) वंशी व्याघ्रमुख था[3], अतएव या तो व्याघ्रमुख वर्मलात का उत्तराधिकारी हो, या वर्मलात और व्याघ्रमुख दोनों एक ही राजा के नाम हों, अथवा व्याघ्रमुख उसका बिरुद हो। भीनमाल के चावड़ों का अब तक तो इतना ही पता चला है, तो भी उनका राज्य वहां पर वि० सं० ७९६ (ई० स० ७३९) तक रहना तो निश्चित है, क्योंकि लाट देश के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में अरबों की चढ़ाई का वर्णन है और वहां उनका चावोटकों (चावड़ों) के राज्य को नष्ट करना भी लिखा है[4]। उस समय चावड़ों का राज्य भीनमाल पर ही था, वढ़वाण और पाटण (अणहिलवाड़े) में तो चावड़ों के राज्यों की स्थापना भी नहीं हुई थी। 'फतूहुल बलदान' नामक फारसी तवारीख़ से पाया जाता है कि वह चढ़ाई ख़लीफा हशाम के समय सिंध के हाकिम जुनैद ने की थी और उसने मरुमाड़ (मारवाड़) के अतिरिक्त अल् बेलमाल (भीनमाल) पर भी हमला किया था[5]। चावड़ों से भीनमाल का राज्य रघुवंशी प्रतिहारों (पड़िहारों) ने छीन लिया।

(१) ए. इं; जि० ९, पृ० १९१-९२।

(२) 'शिशुपालवध काव्य'; सर्ग. २० के अंत में कविवंशवर्णन, श्लो० १।

(३) देखो ऊपर पृ० ५६ और उसीका टिप्पण २।

(४) तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये।
(ना. प्र. प; भाग १, पृ० २११, टिप्पण २१)।

(५) इलियट; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया;' जि० १, पृ० ४४१-४२।

प्रतिहार वंश

जैसे गुहिल, चौलुक्य (सोलंकी), चाहमान (चौहान) आदि राजवंश उनके मूल पुरुषों के नाम से प्रचलित हुए हैं वैसे प्रतिहार नाम वंशकर्त्ता के नाम से चला हुआ नहीं, किंतु राज्याधिकार के पद से बना हुआ है। राज्य के भिन्न भिन्न अधिकारियों में एक प्रतिहार भी था जिसका काम राजा के बैठने के स्थान या रहने के महल के द्वार (ड्योढ़ी) पर रहकर उसकी रक्षा करना था। इस पद के लिये किसी ख़ास जाति या वर्ण का विचार नहीं रहता था, किंतु राजा के विश्वासपात्र पुरुष ही इस पद पर नियुक्त होते थे। प्राचीन शिलालेखादि में प्रतिहार या महाप्रतिहार नाम मिलता है और भाषा में उसे पड़िहार कहते हैं। प्रतिहार नाम वैसा ही है जैसा कि पंचकुल (पंचोली)। पंचकुल राजकर वसूल करनेवाले राजसेवकों की एक संस्था थी, जिसका प्रत्येक व्यक्ति पंचकुल कहलाता था। प्राचीन दानपत्रों, शिलालेखों तथा प्रबंध-चिंतामणि आदि पुस्तकों में पंचकुल का उल्लेख मिलता है। राजपूताने में ब्राह्मण पंचोली, कायस्थ पंचोली, महाजन पंचोली और गूजर पंचोली हैं, जिनमें अधिकतर कायस्थ पंचोली हैं, जिसका कारण यह है कि ये लोग विशेषकर राजाओं के यहां अहलकारी का पेशा ही करते थे। पंचकुल का पंचउल (पंचोल) और उससे पंचोली शब्द बना है। जैसे पंचोली नाम किसी जाति का सूचक नहीं, किंतु पद का सूचक है, वैसे ही प्रतिहार शब्द भी जाति का नहीं किंतु पद का सूचक है। इसी कारण शिलालेखादि में ब्राह्मण प्रतिहार, क्षत्रिय (रघुवंशी) प्रतिहार, और गुर्जर (गूजर) प्रतिहारों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक शोधकों ने प्रतिहार मात्र को गूजर मान लिया है जो उनका भ्रम ही है।

मंडोर (जोधपुर से ४ मील) के प्रतिहारों के कितने एक शिलालेख मिले हैं जिनमें से तीन में उनके वंश की उत्पत्ति तथा वंशावली दी है। उनमें से एक जोधपुर शहर के कोट (शहरपनाह) में लगा हुआ मिला, जो मूल में मंडोर के किसी विष्णुमंदिर में लगा था। यह शिलालेख वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) चैत्र सुदि ५ का है[1]। दूसरे दो शिलालेख

मंडोर के प्रतिहार

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १८९४, पृ० ४–९। इसके संवत् में सैकड़े और दहाई के अंक प्राचीन अक्षरप्रणाली से दिये हैं जिससे पढ़ने में भ्रम होकर ८९४ के स्थान में केवल ४ छपा है। वास्तव में इसका संवत् ८९४ ही है।

घटियाले (जोधपुर से २० मील उत्तर में) से मिले हैं जिनमें से एक प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषा का श्लोकबद्ध[1] और दूसरा उसीका आशयरूप संस्कृत में है[2]। ये दोनों शिलालेख वि० सं० ९१८ (ई० स० ८६१) चैत्र सुदि २ के हैं। इन तीनों लेखों से पाया जाता है कि 'हरिश्चंद्र' नामक विप्र (ब्राह्मण), जिसको रोहिल्लद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रों का अर्थ जानने में पारंगत था। उसके दो स्त्रियां थीं, एक द्विज(ब्राह्मण)वंश की और दूसरी क्षत्रिय कुल की बड़ी गुणवती थी। ब्राह्मणी से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये और क्षत्रिय वर्ण की राज्ञी (राणी) भद्रा से जो पुत्र जन्मे वे मद्य पीनेवाले हुए[3]। इस प्रकार मंडोर के प्रतिहारों के उन तीनों शिलालेखों से हरिश्चंद्र का ब्राह्मण एवं किसी राजा का प्रतिहार होना पाया जाता है। उसकी दूसरी स्त्री भद्रा को राज्ञी लिखा है, जिससे संभव है कि हरिश्चंद्र के पास जागीर भी हो। उसकी ब्राह्मण वंश की स्त्री के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये। जोधपुर राज्य में अब तक प्रतिहार ब्राह्मण हैं[4] जो उसी हरिश्चंद्र प्रतिहार के वंशज होने चाहियें। उसकी क्षत्रिय वर्णवाली स्त्री भद्रा के पुत्रों की गणना उस समय की प्रथा के अनुसार मद्य पीनेवालों अर्थात् क्षत्रियों में हुई[5]। मंडोर के प्रतिहारों की नामावली उनके उपर्युक्त शिलालेखों में नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

---

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई. स. १८९५, पृ० ५१६-१८।

(२) ए. इं; जि. ९, पृ० २७९-८०।

(३) देखो ऊपर पृ० १२ का टिप्पण २।

(४) देखो ई० स० १९११ की जोधपुर राज्य की मनुष्यगणना की हिंदी रिपोर्ट, हिस्सा तीसरा, जिल्द पहली, पृष्ठ १६०।

(५) प्राचीन काल में प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने तथा अपने से नीचे के वर्णों में विवाह कर सकता और ब्राह्मण पति का अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण ही माना जाता था। ऋषि पराशर के पुत्र वेदव्यास की, जो धीवरी सत्यवती (योजनगंधा) से उत्पन्न हुए थे, गणना ब्राह्मणों में हुई। ऋषि जमदग्नि ने इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रिय रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया जिससे परशुराम का जन्म हुआ और उनकी भी गणना ब्राह्मणों में हुई। मनु के समय कामवश ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता था। क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र ब्राह्मण के समान माना जाता, परन्तु वैश्यजाति की स्त्री से उत्पन्न होनेवाला अंबष्ठ, और शूद्रा से उत्पन्न होनेवाला निषाद कहलाता था।

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।

(१) हरिश्चंद्र (रोहिल्लाद्धि) प्रारंभ में किसी राजा का प्रतिहार था। उसकी राणी भद्रा से, जो क्षत्रिय वंश की थी, चार पुत्र भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द हुए; उन्होंने अपने बाहुबल से मांडव्यपुर (मंडोर) का दुर्ग (क़िला) लेकर वहां ऊंचा प्राकार (कोट) बनवाया।

(२) रज्जिल (सं० १ का ज्येष्ठ पुत्र)।

(३) नरभट (सं० २ का पुत्र)—उसकी वीरता के कारण उसको 'पेल्लापेल्लि' कहते थे।

(४) नागभट (सं० ३ का पुत्र)—उसको नाहड़ भी कहते थे। उसने मेडंतकपुर (मेड़ता, जोधपुर राज्य में) में अपनी राजधानी स्थिर की। उसकी राणी जज्जिकादेवी से दो पुत्र तात और भोज हुए।

सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०।

पीछे से याज्ञवल्क्य ने द्विजों के लिये शूद्रवर्ण की कन्या से विवाह करने का निषेध किया—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः ।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय।

फिर तो क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण के पुत्र की गणना क्षत्रिय वर्ण में होने लगी जैसा कि शंख और औशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है।

यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवतीति शंखस्मरणम् ।

'याज्ञवल्क्यस्मृति'; आचाराध्याय, श्लोक ६१ पर मिताक्षरा टीका।

नृपायां विधिना विप्राज्जातो नृप इति स्मृतः ।

पूना की आनंदाश्रम ग्रंथावली में प्रकाशित 'स्मृतीनां समुच्चय' में औशनस स्मृ० पृ० ४७, श्लोक २८।

(५) तात (सं० ४ का पुत्र)—उसने जीवन को बिजली के समान चंचल जानकर अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया और आप मांडव्य के पवित्र आश्रम में जाकर धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ।

(६) भोज (सं० ५ का छोटा भाई)

(७) यशोवर्द्धन (सं० ६ का पुत्र)

(८) चंदुक (सं० ७ का पुत्र)

(९) शीलुक (सं० ८ का पुत्र)—उसने त्रवणी और वल्ल[1] देशों में अपनी सीमा स्थिर की अर्थात् उनको अपने राज्य में मिलाया, और वल्लमंडल (वल्लदेश) के स्वामी भट्टिक (भाटी) देवराज को पृथ्वी पर पछाड़कर उसका छत्र छीन लिया[2]।

(१०) झोट (सं० ९ का पुत्र) उसने राज्य-सुख भोगने के पीछे गंगा में मुक्ति पाई।

(११) भिल्लादित्य (सं० १० का पुत्र) उसने युवावस्था में राज्य किया, फिर अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर वह गंगाद्वार (हरिद्वार) को चला गया जहां १८ वर्ष रहा और अंत में उसने अनशन व्रत से शरीर छोड़ा।

(१२) कक्क (सं० ११ का पुत्र)—उसने मुद्गगिरि (मुंगेर, बिहार में) में गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाया। वह व्याकरण, ज्योतिष, तर्क (न्याय) और सर्व भाषाओं के कवित्व में निपुण था। उसकी भट्टि (भाटी) वंश की महाराणी पद्मिनी से बाउक, और दूसरी राणी दुर्लभदेवी से कक्कुक का जन्म हुआ। उसका उत्तराधिकारी बाउक हुआ। कक्क रघुवंशी प्रतिहार राजा वत्सराज का सामंत होना चाहिये, क्योंकि गौड़ों के साथ की लड़ाई में उसके यश पाने के उल्लेख से यही पाया जाता है कि जब वत्सराज ने गौड़ देश के राजा को परास्त कर उसकी राज्यलक्ष्मी और दो श्वेत छत्र छीने, उस समय कक्क उसका सामंत

(१) इन देशों के लिये देखो ऊपर पृ० २, टिप्पण १।

(२) ततः श्रीशिलुको जातः पुत्रो दुर्व्वारविक्कमः।
येन सीमा कृता नित्यास्त(त्र)वणीवल्लदेशयोः ॥
भट्टिकं देवराजं यो वल्लमण्डलपालकं।
निपात्य तत्क्षणं भूमौ प्राप्तवान् छ(वांश्छ)त्रचिह्नकं ॥
(ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ६)

होने से उसके साथ लड़ने को गया होगा।

(१३) बाउक (सं० १२ का पुत्र)—जब शत्रुओं का अतुल सैन्य नंदावल्ल को मारकर भूअकूप में आ गया और अपने पक्षवाले द्विजनृपकुल के प्रतिहार भाग निकले, तथा अपना मंत्री एवं अपना छोटा भाई भी छोड़ भागा, उस समय उस राण (राणा, बाउक) ने घोड़े से उतरकर अपनी तलवार उठाई। फिर जब नवों मंडलों के सभी समुदाय भाग निकले और अपने शत्रु राजा मयूर को एवं उसके मनुष्य (सैनिक) रूपी मृगों को मार गिराया तब उसने अपनी तलवार म्यान में की[1]। वि० सं० ८९४ की ऊपर लिखी हुई जोधपुर की प्रशस्ति उसीने खुदवाई थी।

(१४) कक्कुक (सं० १३ का भाई)—घटियाले से मिले हुए वि० सं० ९१८ के दोनों शिलालेख उसीके हैं, जिनसे पाया जाता है कि उसने अपने सच्चरित्र से मरु, माड, वल्ल, तमणी (त्रवणी), अज्ज (आर्य) एवं गुर्ज्जरत्रा के लोगों का अनुराग प्राप्त किया; वडणाणय मंडल में पहाड़ पर की पल्लियों (पालों, भीलों के गांवों) को जलाया; रोहिन्सकूप (घटियाले) के निकट गांव में हट्ट (हाट, बाज़ार) बनवाकर महाजनों को बसाया, और मड्डोअर (मंडोर) तथा रोहिन्सकूप गांवों में जयस्तंभ स्थापित किये[2]। कक्कुक न्यायी, प्रजापालक एवं विद्वान् था,

(१) *नन्दावल्लं प्रहत्वा रिपुबलमतुलं भूअकूपप्रयातं*
दृष्ट्वा भग्नां(न्) स्वपक्षां(न्) द्विजनृपकुलजां(न्) सत्प्रतीहारभूपां(न्)।
धिग्भूतैकेन तस्मिन्प्रकटितयशसा श्रीमता बाउकेन
स्फूर्जन्हत्वा मयूरं तदनु नरमृगा घातिता हेतिनेव ॥
कस्यान्यस्य प्रभग्नःससचिवमनुजं त्यज्य राण(णः) सुतंत्रः
केनैकेनातिभीते दशदिशितु वले(बले ?) स्तम्भ्य चात्मानमेकं।
धैर्यान्मुक्त्वाश्वपृष्ठं क्षितिगतचरणोनासिहस्तेन शत्रुं
छित्वा(त्त्वा) भित्वा(त्त्वा) श्मशानं कृतमतिभयदं बाउकान्येन तस्मिन् ॥
नवमंडलनवनिचये भग्ने हत्वा मयूरमतिगहने।
तदनु [ह]तासितरंगा श्रीमद्बाउकनृसिंघे(हे)न ॥

ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ७-८।

(२) ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९५, पृ० ५१७-१८।

और संस्कृत में काव्यरचना भी करता था। घटियाले के वि० सं० ६१८ के संस्कृत शिलालेख के अंत में एक श्लोक उसका बनाया हुआ खुदा है और साथ में यह भी लिखा है कि यह श्लोक स्वयं कक्कुक का बनाया हुआ है[1]।

मंडोर के प्रतिहारों की कक्कुक तक की शृंखलाबद्ध वंशावली उपर्युक्त तीन शिलालेखों से मिलती है। संवत् केवल बाउक और कक्कुक के ही मालूम हुए हैं जो ऊपर दिये गये हैं। इस वंश का मूल पुरुष हरिश्चंद्र कब हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, किंतु बाउक के निश्चित संवत् ८६४ से प्रत्येक का राज्य-समय औसत हिसाब से २० वर्ष मानकर पीछे हटते जावें तो हरिश्चंद्र का वि० सं० ६५४ (ई० स० ५६७) के आसपास विद्यमान होना स्थिर होता है। विक्रम सं० ६१८ के पीछे भी मंडोर के राज्य पर प्रतिहारों का अधिकार रहा, परन्तु उस समय की शृंखलाबद्ध नामावलीवाला कोई शिलालेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। एक लेख जोधपुर राज्य के चेराई गांव से प्रतिहार दुर्लभराज के पुत्र जसकरण का (? यह नाम छाप में कुछ संदिग्ध है) वि० सं० ६६३ (ई० स० ६३६) ज्येष्ठ सुदि १० का मिला है। दुर्लभराज और जसकरण शायद बाउक और कक्कुक के वंशधर हों। वि० सं० १२०० के आसपास नाडौल के चौहान रायपाल ने, जिसके शिलालेख वि० सं० ११८६ से १२०२ तक के मिले हैं, मंडोर पडिहारों से छीन लिया; उसके पुत्र सहजपाल का एक शिलालेख (१६ टुकड़ों में) मंडोर से मिला है जिससे पाया जाता है कि वि० सं० १२०२ के आसपास सहजपाल वहां का राजा था[2]।

वंशभास्कर में प्रतिहार से लगाकर कृपाल तक की प्रतिहारों की नामावली में १६५ नाम दिये हैं, परंतु बहुधा पुराने सब नाम कल्पित हैं और भाटों की ख्यातों से लिये हैं। उनमें से १४५वें राजा अनुपमपाल का समय संवत् ३५० दिया है, और १७१ वें अर्थात् अनुपमपाल से २६वें राजा नाहरराज की पुत्री पिंगला

(१) यौवनं विविधैर्भोगैर्मध्यमं च वयः श्रिया।
वृद्धभावश्च धर्मेण यस्य याति स पुण्यवान् ॥
अयं श्लोकः श्रीकक्कुकेन स्वयं कृतः ॥
(ए. इं; जि० ६, पृ० २८०)।

(२) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया; एन्युअल रिपोर्ट, ई० स० १६०६-१०; पृ० १०२-३।

आदि से यह नहीं पाया जाता कि वलभी के राजा किस वंश के थे। हुएन्त्संग उनका क्षत्रिय होना लिखता तथा उनका विवाह-संबंध मालवे और कन्नौज के राजाओं के साथ बतलाता है तथापि संभव है कि वे गुर्जर वंश के हों। हुएन्त्संग उस समय आया था जब कि वलभीवालों का प्रताप बहुत बढ़ चुका था; आश्चर्य नहीं कि काल बीतने पर वे अपने मूल वंश को भूलकर पीछे से क्षत्रिय बन गए हों और विवाह-संबंध तो राजपूत सदा अपने से बड़े घड़े कुल में करने से नहीं चूकते हैं। गुजरात में गूजरों की कई जातियां हैं जैसे गूजर बनिये, गूजर सुतार (सूत्रधार), गूजर सोनी, गूजर कुम्भार, गूजर सिलावट आदि। गूजर जाति के लोगों के पृथक् पृथक् धन्धे स्वीकार कर लेने ही से उनमें ये ज्ञातिभेद हुए। गूजरों की बड़ी संख्या में कुनबी लोग हैं[1]"।

मिस्टर ए० एम० टी० जैक्सन ने बॉम्बे गैज़ेटियर में भीनमाल पर जो निबन्ध लिखा उसमें गुर्जर जाति के ऐतिहासिक वृत्त देते हुए लिखा है कि "वे लोग पांचवीं शताब्दी (ईसवी) में भारतवर्ष में आये, क्योंकि पहले पहल सातवीं शताब्दी में लिखे हुए श्रीहर्षचरित में उनका उल्लेख मिलता है। भीनमाल में उनके बसने का समय अनिश्चित है, परंतु हुएन्त्संग ने वहां के राजा को लिखा है। उन्होंने वलभी के राजा को उनकी सत्ता स्वीकारने के लिये बाध्य किया। कवि पंप ने ई० स० ९४१ (वि० सं० ९९८) में 'पंपभारत' नामक काव्य लिखा जिसमें वह लिखता है कि 'अरिकेसरी सोलंकी के पिता ने गुर्जरराज[2] महीपाल को पराजित किया'। यह महीपाल धरणिवराह (चावड़े) के ई० स० ९१४ के दानपत्र का महीपाल हो सकता है, क्योंकि चावड़ों में तो कोई महीपाल हुआ ही नहीं। अतः वह गुर्जर देश (भीनमाल) का राजा होना चाहिये[3]"।

श्रीयुत देवदत्त भंडारकर ने गुर्जर (जाति) पर एक निबन्ध छपवाया जिसमें वे मिस्टर जैक्सन के लेख की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि "राजोर (अलवर राज्य में) के प्रतिहार मथनदेव का ई० स० ९६० का लेख स्पष्ट कहे देता

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० २–५।

(२) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० २०७ और उसी पृष्ठ का टिप्पण †।

(३) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० ४६५–६६।

है कि वह (मथनदेव) प्रतिहार वंश का गूजर था, अतएव कन्नौज के प्रतिहार राजा भी गूजर वंश के थे[1]" ।

कुशनवंशी राजा कनिष्क के समय में गुर्जरों का भारतवर्ष में आना प्रमाण-शून्य बात है जिसको स्वयं डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी स्वीकार करते हैं; और गुप्तवंशियों के समय में गूजरों को राजपूताना, गुजरात और मालवे में जागीर मिलने के विषय में भी वे कोई प्रमाण न दे सके। न तो गुप्त राजाओं के लेखों में और न भड़ौच के गूजरों के दानपत्रों में इसका कहीं उल्लेख है। यह केवल उक्त पंडितजी का अनुमानमात्र है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने गुर्जर जाति का नहीं किंतु गुर्जर देश का वर्णन कर अपने समय के भीनमाल के राजा को क्षत्रिय जाति का बतलाया है और उस देश की परिधि तक भी दी है। ऐसे ही वलभी के राजाओं को हुएन्त्संग ने क्षत्रिय बतलाया और आजकल के विद्वान् उनको मैत्रक (सूर्य-वंशी) मानते हैं। उनको केवल अपनी कल्पना के आधार पर गुर्जरवंशी कहने और पीछे से वे क्षत्रिय बन गये हों ऐसा निर्मूल अनुमान करने एवं उनके विवाह-संबंध के विषय में ऐसे ख़याली घोड़े दौड़ाने को इतिहास कब स्वीकार कर सकता है।

इसी प्रकार मिस्टर जैक्सन ने हर्षचरित के वर्णन से भीनमाल के राजा को गुर्जरवंशी कहा, यह भी उनका भ्रममात्र ही है, क्योंकि हर्षचरित के रच-यिता का अभिप्राय वहां गुर्जरदेश (या वहां के राजा) से है न कि गुर्जर जाति के राजा से। वड़ौदे के जिस दानपत्र की साक्षी मिस्टर जैक्सन ने दी है उसमें राजा का नाम तो नहीं दिया, किंतु स्पष्ट शब्दों में उसको "गुर्जरेश्वर[2]" कहा

---

(१) बंब. ए. सो. ज; ई. स. १६०५ (एक्स्ट्रा नंबर), पृ० ४१३-३३।

(२) *गौडेन्द्रवंगपतिनिर्ज्जयदुर्व्विदग्धसद्गूर्ज्जरेश्वरदिगर्ग्गलतां च यस्य ।*

नीत्वा भुजं विहतमालवरक्षणार्थं स्वामी तथान्यमपि राज्यंछ(फ)लानि भुंक्ते॥

बड़ौदे का दानपत्र; इं. एँ; जि. १२, पृ० १६०; और ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४५ का टिप्पण १।

उक्त ताम्रपत्र के 'गुर्जरेश्वर' पद का अर्थ 'गुर्जर (गुजरात) देश का राजा' स्पष्ट है, जिसको खींच तान कर गुर्जर जाति वा वंश का राजा मानना सर्वथा असंगत है। संस्कृत साहित्य में ऐसे हज़ारों उदाहरण मिलते हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः।

है। फिर न मालूम उक्त महाशय ने इसपर से गुर्जर जाति का अनुमान कैसे कर लिया। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा गोविन्दराज तीसरे के शक संवत् ७३० (वि० सं० ८६५=ई० स० ८०८) के वणी और राधनपुर से मिले हुए दानपत्रों में उसी (गुर्जरेश्वर) का नाम वत्सराज दिया है जिसका रघुवंशी होना हम सप्रमाण आगे बतलाते हैं। 'पम्पभारत' काव्य में भी राजा महीपाल को गुर्जर जाति का नहीं किंतु गुर्जर देश का स्वामी कहा है।

श्रीयुत देवदत्त भंडारकर ने भी मिस्टर जैक्सन के कथन की पुष्टि करते हुए कन्नौज के प्रतिहार राजाओं को गुर्जरवंशी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परंतु कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति में, जो राजोरगढ़ के गुर्जर प्रतिहार राजा मथनदेव के लेख से अनुमान १०० वर्ष से भी अधिक पूर्व की है, कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है, ऐसे ही हर्षनाथ के चौहानों के लेख में भी उनको रघुवंशी लिखा है जिसको भंडारकर महाशय ने भी पीछे से स्वीकार किया है[1]। विक्रम संवत् ६५० के लगभग होनेवाले कवि

दुर्वारं वारपं हत्वा हास्तिकं यः समग्रहीत् ॥ ३ ॥
महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार यः ॥ ४ ॥
जगाम मालवेशस्य करवालः करादपि ॥ १० ॥
बद्धः सिन्धुपतिर्येन वैदेहीदयितेन वा ॥ २६ ॥
चक्रे शाकंभरीशोपि शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २९ ॥
मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयं ॥ ३० ॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

ये सब उदाहरण केवल एक ही पुस्तक के एक ही सर्ग के अंशमात्र से उद्धृत किये गये हैं। देशवाची शब्द का प्रयोग उक्त देश के राजा के लिये भी होता है—

अपारपौरुषोद्गारं खङ्गारं गुरुमत्सरः ।
सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ करिणं केसरीव यः ॥ २५ ॥

'कीर्तिकौमुदी'; सर्ग १।

इस श्लोक में 'सौराष्ट्रं' पद सौराष्ट्र देश के राजा (खंगार) का सूचक है, न कि देश का। ऐसे ही इसी टिप्पण के प्रारंभ के श्लोक के तीसरे चरण का 'मालव' शब्द मालवे के राजा का सूचक है, न कि मालव जाति या मालव देश का।

(१) इं. ऐं; जि. ४२, पृ० २८-२६।

राजशेखर ने कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है[1]। प्रतिहार शब्द मूल में जातिसूचक नहीं किंतु पंचोली, महता आदि के समान पदसूचक था जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और गूजर इन तीनों जातियों के प्रतिहार होने के उल्लेख मिलते हैं। यदि केवल मथनदेव के लेख में गुर्जर प्रतिहार शब्द आने से प्रतिहारमात्र गुर्जर जाति के मान लिये जावें, तो उक्त लेख से अनुमान १२५ वर्ष पहले के लेखों में कहे हुए ब्राह्मण प्रतिहार शब्द से सब प्रतिहार ब्राह्मण जाति के और रघुवंशी प्रतिहार शब्द से सभी प्रतिहारों को क्षत्रिय ही मानना चाहिये। अतएव यह कहना सर्वथा ठीक नहीं है कि प्रतिहार-मात्र गुर्जरवंशी हैं।

रघुवंशी प्रतिहारों ने प्रथम चावड़ों से भीनमाल का राज्य छीना, फिर कन्नौज के महाराज्य को अपने हस्तगत कर वहीं अपनी राजधानी स्थिर की जिससे उनको कन्नौज के प्रतिहार भी कहते हैं। अब तक के शोध के अनुसार उनकी नामावली तथा संक्षिप्त वृत्तांत नीचे लिखा जाता है—

(१) नागभट से ही उनकी नामावली मिलती है। उसको नागावलोक भी कहते थे। हांसोट (भड़ौच ज़िले के अंक्लेश्वर तालुके में) से एक दानपत्र चौहान राजा भर्तृवड्ढ (भर्तृवृद्ध) दूसरे का मिला है जो वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) का है[2]। उक्त ताम्रपत्र से पाया जाता है कि भर्तृवृद्ध (दूसरा) राजा नागावलोक का सामंत था। उक्त दानपत्र का नागावलोक यही प्रतिहार नाग-भट (नागावलोक) होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक हो तो उसका राज्य उत्तर में मारवाड़ से लगाकर दक्षिण में भड़ौच तक मानना पड़ता है। उसके राज्य पर म्लेच्छ (मुसलमान) वलचों (बिलोचों) ने[3] आक्रमण किया, परंतु उसमें वे परास्त हुए। मुसलमानों की मारवाड़ पर की यह चढ़ाई सिंध की ओर से हुई होगी।

---

(१) देखो ऊपर पृ० ६५, टिप्पण ३। (२) ए. इं; जि. १२, पृ. २०२-३।

(३) तद्वन्शे(वंशे) प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम्।
येनासौ सुकृतप्रमाथिवलचम्लेच्छाधिपाक्षौहिणीः
क्षुन्दानस्फुरदुग्रहेतिरुचिरैर्द्दोर्भिश्चतुर्भिर्ब्बभौ ॥ ४ ॥

प्रतिहार राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; 'आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया'; ई० स० १९०३-४ की रिपोर्ट, पृ० २८०।

(२) ककुस्थ (संख्या १ का भतीजा)—उसको कक्कुक भी कहते थे।

(३) देवराज (सं० २ का छोटा भाई)—उसको देवशक्ति भी कहते थे और वह परम वैष्णव था। उसकी राणी भूयिकादेवी से वत्सराज का जन्म हुआ।

(४) वत्सराज (सं० ३ का पुत्र)—उसने गौड़ और बंगाल के राजाओं को विजय किया। गौड़ के राजा के साथ की लड़ाई में उसका सामंत मंडोर का प्रतिहार कक्क[1] भी उसके साथ था। जिस समय उसने मालवे के राजा पर चढ़ाई की उस समय दक्षिण का राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा ध्रुवराज अपने सामंत लाट देश के राठोड़ राजा कर्कराज सहित, जो इन प्रतिहारों का पड़ोसी था, मालवे के राजा को बचाने के लिये गया जिससे वत्सराज को हारकर मरु (मारवाड़) देश में लौटना पड़ा और गौड़ देश के राजा के जो दो श्वेत छत्र उस (वत्सराज) ने छीने थे वे राठोड़ों ने उससे ले लिये[2]। उस क्षत्रियपुंगव ने बलपूर्वक भंडि[3] के वंश का राज्य छीनकर इक्ष्वाकु वंश को उन्नत किया। शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०=ई० स० ७८३) में दिगंबर जैन आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' लिखा जिसमें उक्त संवत् में उत्तर (कन्नौज) में इंद्रायुध और पश्चिम (मारवाड़) में वत्सराज का राज्य करना लिखा है[4]।

(१) देखो ऊपर पृ० १५० में कक्क का वृत्तांत।

(२) ना. प्र. प; भाग २, पृ० २४५–४६; और पृ० २४५ का टिप्पण १।

(३) *ख्याताद्भण्डिकुलान्मदोत्कटकरिप्राकारदुर्ल्लंघतो*

यः साम्राज्यमधिज्यकार्म्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत्।

एकः क्षत्रियपुङ्गवेषु च यशोगुर्व्वीन्धुरं प्रोद्वह-

न्निक्ष्वाकोः कुलमुन्नतं सुचरितैश्चक्रे स्वनामाङ्कितम् ॥ ७ ॥

राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति। आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया; सन् १६०३–४ की रिपोर्ट, पृ० २८०।

भंडि का वंश कहां राज्य करता था इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका। एक भंडि तो प्रसिद्ध बैसवंशी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) के मामा का पुत्र और उक्त राजा (हर्ष) का मंत्री भी था। यहां उससे अभिप्राय हो ऐसा पाया नहीं जाता। शायद भंडि के वंश से यहां अभिप्राय भीनमाल के चावड़ों के वंश से हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह मानना अनुचित न होगा कि भंडि भीनमाल के चावड़ों का मूल पुरुष था।

(४) *शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां*

वह परम माहेश्वर (शैव) था, उसकी राणी सुंदरीदेवी से नागभट का जन्म हुआ।

(५) नागभट दूसरा (सं० ४ का पुत्र)—उसको नागावलोक भी कहते थे। उसने चक्रायुध[1] को परास्त कर कन्नौज का साम्राज्य उससे छीनी। उसीके समय से गुर्जर देश के इन प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज स्थिर होनी चाहिये। आंध्र, सैंधव, विदर्भ (बरार), कलिंग और वंग के राजाओं को जीता, तथा आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य आदि देशों के पहाड़ी क़िले उसने ले लिये, ऐसा उपर्युक्त ग्वालियर की प्रशस्ति में लिखा मिलता है[2]। राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम बहुत प्रसिद्ध है और जिसके विषय में पुष्कर के घाट बनवाने की ख्याति चली आती है वह यही नागभट (नाहड़) होना चाहिये, न कि उक्त नाम का मंडोर का प्रतिहार। उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० ८७२ (ई० स ८१५) का बुचकला (जोधपुर राज्य के बीलाड़ा परगने में) से मिला है[3]। नागभट भगवती (देवी) का परम भक्त था। उसकी राणी ईसटादेवी से रामभद्र उत्पन्न हुआ। नागभट का स्वर्गवास वि० सं० ८६० भाद्रपद सुदि ५ को होना जैन चंद्रप्रभसूरि ने अपने 'प्रभावक चरित' में लिखा है[4]। कई जैन लेखकों ने

पातीन्द्रायुधिनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि(धि)राजेऽपरां

बंब० गै; जि० १, भाग २, पृ० १६७, टि० २।

(१) चक्रायुध कन्नौज के उपर्युक्त राजा इंद्रायुध का उत्तराधिकारी था। ये दोनों किस वंश के थे यह ज्ञात नहीं हुआ, परंतु संभव है कि ये राठोड़ हों।

(२) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया; ई० स० १६०३-४ की रिपोर्ट, पृ० २८१; श्लोक ८-११।

(३) ए. इं; जि० ६, पृ० १६६-२००।

(४) विक्रमतो वर्षाणां शताष्टके सनवतौ च भाद्रपदे।
शुक्ले सितपंचम्यां चन्द्रे चित्राख्यऋक्षस्थे॥ ७२०॥
माभूत्संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा
धिग्मासं तं नभस्यं क्षयमपि स खलः शुक्लपक्षोपि यातु।
संक्रांतिर्या च सिंहे विशतु हुतभुजं पंचमी यातु शुक्रे
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोकः॥ ७२५॥

'प्रभावक चरित' में बप्पभट्टिप्रबंध; पृ० १७७।

कन्नौज के राजा नागभट के स्थान में 'आम' नाम लिखा है, परंतु चंद्रप्रभसूरि ने आम और नागावलोक दोनों एक ही राजा के नाम होना बतलाया है।

(६) रामभद्र (सं० ५ का पुत्र)—उसको राम तथा रामदेव भी कहते थे। उसने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। वह सूर्य का भक्त था; उसकी राणी अप्पादेवी से भोज का जन्म हुआ।

(७) भोजदेव (सं० ६ का पुत्र)—उसको मिहिर और आदिवराह भी कहते थे। वह अपने पड़ोसी लाट देश के राठोड़ राजा ध्रुवराज (दूसरे) से लड़ा जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय के ५ शिलालेखादि वि० सं० ९०० से लगाकर ९३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के[1] मिले हैं और चांदी व तांबे के सिक्के भी मिले जिनके एक तरफ़ 'श्रीमदादिवराह' लेख और दूसरी ओर 'वराह' (नरवराह) की मूर्त्ति बनी है[2]। वह भगवती (देवी) का भक्त था। उसकी राणी चंद्रभट्टारिकादेवी से महेंद्रपाल उत्पन्न हुआ था। भोजदेव के युवराज नागभट का नाम मिलता है, परंतु महेंद्रपाल और विनायकपाल के दानपत्रों में उसका नाम राजाओं की नामावली में न मिलने से अनुमान होता है कि उसका देहान्त भोजदेव की विद्यमानता में ही हो गया हो जिससे भोजदेव का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र महेन्द्रपाल हुआ हो।

(८) महेन्द्रपाल (सं० ७ का पुत्र)—उसको महेंद्रायुध, महिंदपाल, निर्भयराज और निर्भयनरेंद्र भी कहते थे। उसके समय के दो शिलालेख और तीन ताम्रपत्र मिले हैं जो वि० सं० ९५० से ९६४ (ई० स० ८९३ से ९०७) तक[3] के हैं। उन तीन ताम्रपत्रों में से दो काठियावाड़ में मिले जिनसे पाया जाता है कि काठियावाड़ के दक्षिणी हिस्से पर भी उसका राज्य था, जहां उसके सोलंकी

(१) वि० सं० ९०० का दौलतपुरे का दानपत्र (ए. इं; जि० ५, पृ० २११) और पेहेवा (पेहोआ, कर्नाल ज़िले में) से मिला हुआ हर्ष संवत् २७६ (वि० सं० ९३९) का शिलालेख (ए. इं; जि० १, पृ० १८६–८८)

(२) स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; पृ० २४१–४२; प्लेट २५, संख्या १८।

(३) वलभी संवत् ५७४ (वि० सं० ९५०) का ऊना (काठियावाड़ के जूनागढ़ राज्य में) गांव से मिला हुआ दानपत्र (ए. इं; जि० ९, पृ० ४–६) और वि० सं० ९६४ का सीयडोनी का शिलालेख (ए. इं; जि० १, पृ० १७३)

सामंत राज्य करते[1] थे। उसकी तरफ़ से वहां का शासक धीइक था जैसा कि उन ताम्रपत्रों से पाया जाता है। काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण, बालभारत आदि ग्रन्थों का कर्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर उसका गुरु था। महेन्द्रपाल भी अपने पिता की नाईं भगवती (देवी) का भक्त था। उसके तीन पुत्रों-महीपाल (क्षितिपाल), भोज और विनायकपाल के नामों-का पता लगा है। भोज की माता का नाम देहनागादेवी और विनायकपाल की माता का नाम महीदेवीदेवी मिला है।

(९) महीपाल (सं० ८ का पुत्र)—उसको क्षितिपाल भी कहते थे। उसके समय काव्यमीमांसा आदि का कर्त्ता राजशेखर कवि कन्नौज में विद्यमान था जो उसको आर्यावर्त का महाराजाधिराज तथा मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुंतल और रमठ देशवालों को पराजित करनेवाला लिखता है। महीपाल दक्षिण के राठोड़ इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) से भी लड़ा था जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय का एक दानपत्र हड्डाला गांव (काठियावाड़ में) से श० सं० ८३६ (वि० सं० ९७१=ई० स० ९१४) का मिला[2] जिससे पाया जाता है कि उस समय वढ़वाण में उसके सामंत चाप-(चावड़ा) वंशी धरणीवराह का अधिकार था, और एक शिलालेख वि० सं० ९७४ (ई० स० ९१७) का[3] मिला है।

(१०) भोज-दूसरा (सं० ९ का भाई)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया। अब तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ कि भोज (दूसरा) बड़ा था या महीपाल।

(११) विनायकपाल (सं० १० का छोटा भाई)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० ९८८[4] (ई० स० ९३१) का मिला है। उसकी राणी प्रसाधनादेवी से महेंद्रपाल (दूसरे) का जन्म हुआ। उसके अंतिम समय से कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल होता गया और सामंत लोग स्वतंत्र बनने लग गए।

---

(१) ना. प्र. प; भा० १, पृ० २१२–१५।

(२) इं. ऐं; जि० १२, पृ० १९३–९४।

(३) वही; जि० १६, पृ० १७४–७५।

(४) इं. ऐं; जि० १५, पृ० १४०–४१। छपी हुई प्रति में सं० १८८ पढ़ा जाकर उसको हर्ष संवत् माना है जो अशुद्ध है; शुद्ध संवत् ९८८ है।

(१२) महेन्द्रपाल दूसरा (सं० ११ का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख प्रतापगढ़ से मिला है जो वि० सं० १००३ (ई० स० ९४६) का है। उससे पाया जाता है कि घोंटावर्षिका (घोटार्सी, प्रतापगढ़ से अनुमान ६ मील पर) का चौहान इंद्रराज उसका सामंत था, उस समय मंडपिका (मांडू) में बलाधिकृत (सेनापति) कोक्कट का नियुक्त किया हुआ श्रीशर्मा रहता था और मालवे का तंत्रपाल (शासक, हाकिम) महासामंत, महादंडनायक माधव (दामोदर का पुत्र) था, जो उज्जैन में रहता था। चौहान इंद्रराज के बनवाए हुए घोंटावर्षिका (घोटार्सी) के 'इन्द्रराजादित्यदेव' नामक सूर्यमंदिर को 'खर्परपद्रक' गांव महेंद्रपाल (दूसरे) ने भेट किया, जिसकी सनद (दानपत्र) पर उक्त माधव ने हस्ताक्षर किये थे[1]।

(१३) देवपाल (संख्या ९वाले महीपाल का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १००५ (ई० स० ९४८) का[2] मिला है जिसमें उसके विरुद परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर दिये हैं। उसको क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पादानुध्यात (उत्तराधिकारी) कहा है। यदि देवपाल ऊपर लिखे हुए क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पुत्र हो तो हमें यही मानना पड़ेगा कि उसकी बाल्यावस्था के कारण उसका चचा विनायकपाल उसका राज्य दबा बैठा हो, और महेन्द्रपाल (दूसरे) के पीछे वह राज्य का स्वामी हुआ हो।

(१४) विजयपाल (सं० १३ का भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) का अलवर राज्य में राजोरगढ़ से मिला है, उस समय उसका सामंत गुर्जर (गूजर) गोत्र का प्रतिहार वहां का स्वामी था (देखो ऊपर गुर्जर वंश का इतिहास, पृ० १३३)।

(१५) राज्यपाल (सं० १४ का पुत्र)—उसके समय कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल तो हो ही रहा था इतने में महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। अल् उत्बीने अपनी 'तारीख़ यमीनी' में लिखा है कि "मथुरा लेने के बाद सुलतान कन्नौज की तरफ़ चला, वहां के राय जैपाल (राज्यपाल) ने, जिसके पास थोड़ी ही सेना थी, भागकर अपने सामंतों के यहां शरण लेने की तैयारी की। सुलतान ता० ८ शाबान हि० सन् ४०९ (वि० सं० १०७५ मार्गशीर्ष सुदि १०) को

(१) ए. इं; जि० १४, पृ० १८२-८४।

(२) सीयडोनी का शिलालेख; ए. इं; जि० १, पृ० १७७।

कन्नौज पहुंचा। राय जैपाल (राज्यपाल) सुलतान के आने की खबर पाते ही गंगापार भाग निकला। सुलतान ने वहां के सातों किले तोड़े और जो लोग वहां से नहीं भागे वे क़तल किये गये[1]"। फ़िरिश्ता लिखता है कि हि० स० ४०६ (वि० सं० १०७५=ई० स० १०१८) में सुलतान महमूद १०००० चुनंदा सवार और २०००० पैदल सेना सहित कन्नौज पर चढ़ा। वहां का राजा कुंवरराय (नाम अशुद्ध है राज्यपाल चाहिये) बड़े राज्य और समृद्धि का स्वामी था, परंतु अचानक उसपर हमला हो जाने के कारण सामना करने या अपनी सेना एकत्र करने का उसको अवसर न मिला। उसने शत्रु की बड़ी सेना से डरकर संधि करना चाहा और सुलतान की अधीनता स्वीकार की। सुलतान तीन दिन वहां रहकर मेरठ की तरफ़ चला गया। हि० स० ४१२ (वि० सं० १०७८=ई० स० १०२१) में सुलतान के पास हिंदुस्तान से यह खबर पहुंची कि मुसलमानों से सुलह करने तथा उनकी अधीनता स्वीकार करने के कारण कन्नौज के राजा कुंवर-राय पर सुलतान के चले जाने बाद पड़ोसी राजाओं ने हमला किया है। सुल-तान तुरंत ही उसकी सहायता को चला, परंतु उसके पहुंचने के पहले ही कालिंजर के राजा नंदराय (गंड, चंदेल) ने कन्नौज को घेरकर कुंवरराय (राज्यपाल) को मार डाला[2]। फ़िरिश्ता कन्नौज के राजा का नाम कुंवरराय लिखता है, परंतु उससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व का लेखक अल् उत्बी उसको राय-जैपाल या राजपाल लिखता है जो राज्यपाल का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। ऐसे ही फ़िरिश्ता राज्यपाल को मारनेवाले कालिंजर के राजा का नाम नंदराय लिखता है; वह भी गंड होना चाहिये, क्योंकि महोबा से मिले हुए चंदेलों के एक शिलालेख में राजा गंड के पुत्र विद्याधर के हाथ से कन्नौज के राजा का मारा जाना लिखा है। राज्यपाल को मारने में विद्याधर के साथ दुबकुंड का कच्छप-घात (कछवाहा) सामंत अर्जुन भी था। दुबकुंड से मिले हुए कच्छपघात-(कछवाहा) वंशी सामंत विक्रमसिंह के समय के वि० सं० ११४५ (ई० स० १०८८) के शिलालेख[3] में उसके प्रपितामह (परदादा) अर्जुन के वर्णन में लिखा है कि उसने विद्याधरदेव की सेवा में रहकर बड़े युद्ध में राज्यपाल को

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० २, पृ० ४५।
(२) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ५७ और ६२।
(३) ए. इं; जि० २, पृ० २३७।

मारा[1]। राज्यपाल वि० सं० १०७७ या १०७८ में मारा गया होगा।

(१६) त्रिलोचनपाल (सं० १५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० १०८४ (ई० स १०२७) का मिला है[2]।

(१७) यशःपाल (?) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १०६३ (ई० स० १०३६) का मिला है। उसके (?) पीछे वि० सं० ११३५ (ई० स० १०७८) के आस-पास गाहड़वाल (गहरवार) महीचंद्र का पुत्र चंद्रदेव कन्नौज का राज्य प्रतिहारों से छीनकर वहां का स्वामी बन गया। प्रतिहारों का कन्नौज का बड़ा राज्य गाहड़वालों (गहरवारों) के हाथ में चले जाने पर भी उनके वंशजों को समय समय पर जो इलाक़े जागीर में मिलते रहे थे, वे उनके अधिकार में कुछ समय तक बने रहे। कुरेठा (ग्वालियर राज्य में) से एक दानपत्र मलयवर्म प्रतिहार का वि० सं० १२७७ का मिला है जिसमें उस (मलयवर्म) को नटुल का प्रपौत्र, प्रतापसिंह का पौत्र और विग्रह का पुत्र बतलाया है। मलयवर्म की माता का नाम लाल्हणदेवी दिया है, जो केल्हणदेव की पुत्री थी। यह केल्हणदेव शायद नाडोल का चौहान केल्हण हो। उस दानपत्र में मलयवर्म के पिता का म्लेच्छों से लड़ना लिखा है जो कुतबुद्दीन ऐबक से संबंध रखता हो। मलयवर्म के सिक्के भी मिले हैं जो वि० सं० १२८० से १२६० तक के हैं; वहीं से एक दूसरा दानपत्र वि० सं० १३०४ चैत्र शु० १ का भी प्राप्त हुआ जो मलयवर्म के भाई नृवर्मा (नरवर्मा) का है। नृवर्मा के पीछे यज्वपाल के वंशज (जजपेल्लवंशी) परमाडिराज के पुत्र चाहड़ (चाहड़देव) ने प्रतिहारों से नल-गिरि (नरवर) आदि छीन लिये। अब तो कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के वंश में केवल बुंदेलखंड में नागौद का राज्य एवं आलिपुरा का ठिकाना तथा कुछ और छोटे छोटे ठिकाने रह गये हैं। नागौद के राजाओं की जो वंशावली भाटों की पुस्तकों में मिलती है उसमें सब पुराने नाम कृत्रिम धरे हुए हैं।

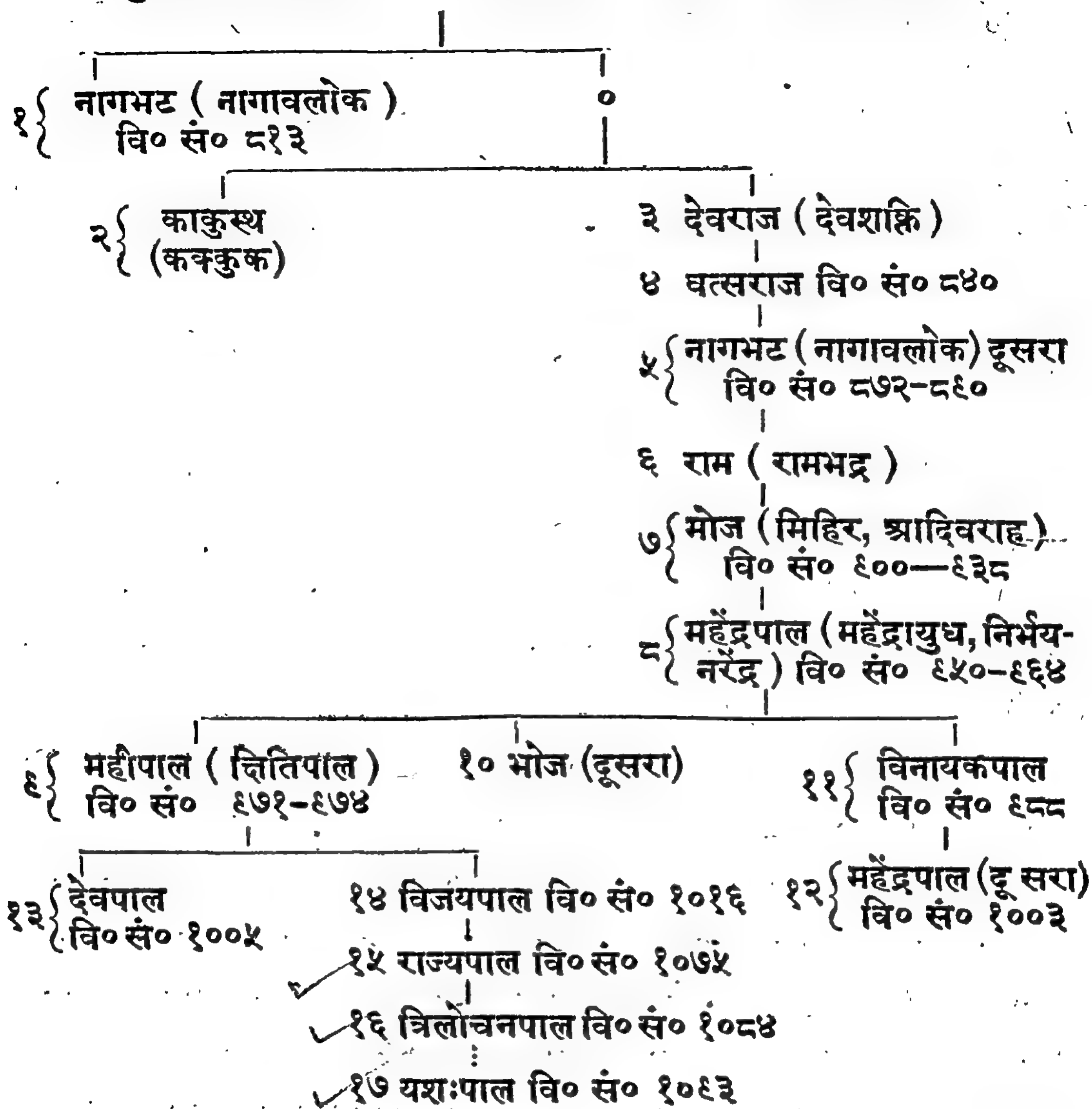
गुर्जर (गूजर) जाति के प्रतिहार

जैसे मारवाड़ में ब्राह्मण प्रतिहार अब तक हैं वैसे ही अलवर राज्य के राजोरगढ़ तथा उसके आसपास के इलाक़ों पर गुर्जर जाति के प्रतिहारों का राज्य था, उनका हाल हम ऊपर गूजरों के इतिहास में (पृ० १३३) लिख चुके हैं।

(१) इं. ऍं; जि० २, पृ० २३७।

(२) इं. ऍं; जि० १८, पृ० ३४।

रघुवंशी प्रतिहारों का वंशवृक्ष (ज्ञात संवत् सहित)



कर्नल टॉड ने लिखा है कि पड़िहारों ने राजस्थान के इतिहास में कभी कोई नामवरी का काम नहीं किया, वे सदैव पराधीन ही रहे और दिल्ली के तंवरों या अजमेर के चौहानों के जागीरदार होकर कार्य करते रहे। उनके इतिहास में सब से उज्वल वृत्तांत नाहड़राव का अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये पृथ्वीराज से निष्फल युद्ध करने का है[1]। कर्नल टॉड ने यह वृत्तांत [illegible] १०० वर्ष पूर्व लिखा था, उस समय प्राचीन शोध का प्रारंभ ही [illegible]

(१) हिं. टॉ, रा; भाग १, पृ० [illegible]।

प्रतिहारों के प्राचीन इतिहास पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ा था। वास्तव में गुप्तों के पीछे राजपूताने में श्रीहर्ष के अतिरिक्त प्रतिहारों के समान प्रतापी कोई दूसरा राजवंश नहीं हुआ। जिन तंवर और चौहान वंशों के अधीन प्रतिहारों का होना टॉड ने लिखा है वे वंश प्रारंभ में प्रतिहारों के ही मातहत थे। प्रतिहारों का साम्राज्य वि० सं० ११३५ के आसपास नष्ट होने के पीछे उन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार की थी। जितना शोध इस समय हुआ है उतना यदि टॉड के समय में होता तो टॉड के 'राजस्थान' में प्रतिहारों का इतिहास और ही रूप से लिखा जाता। नाहड़राव न तो पृथ्वीराज के समय में हुआ और न उससे लड़ा था। यह कथा नाहड़राव (नागभट, नाहड़) का नाम राजपूताने में प्रसिद्ध होने के कारण पृथ्वीराजरासे में इतिहास के अन्धकार की दशा में धर दी गई है जो सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं है।

मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में, जो वि० सं० १७०५ और १७२५ के बीच लिखी गई थी, भाट नीलिया के पुत्र खंगार के लिखाने के अनुसार पड़िहारों की निम्नलिखित २६ शाखें दर्ज की हैं[1]—

१—पड़िहार। २-ईंदा, जिसकी उपशाखा में मलसिया, काल्पा, चड़सिया और बूलणा हैं। ३-लूलोरा, ये मिया के वंशज हैं। ४-रामावट। ५-बोथा, जो मारवाड़ में पाटोदी के पास हैं। ६-बारी, ये मेवाड़ में राजपूत और मारवाड़ में तुर्क हैं। ७-धांधिया, ये जोधपुर इलाके में राजपूत हैं। ८-खरवड़, ये मेवाड़ (उदयपुर राज्य) में बहुत हैं। ९-सींधका, ये मेवाड़ और बीकानेर राज्यों में हैं। १०-चोहिल, मेवाड़ में बहुत हैं। ११-फलू, ये सिरोही तथा जालोरी (जालोर के इलाके) में बहुत हैं। १२-चैनिया, फलोदी की तरफ़ हैं। १३-बोजरा। १४-झांगरा, ये मारवाड़ में भाट हैं और धनेरिया, भूंभलिया और खीचीवाड़े में राजपूत हैं। १५-वापणा, ये महाजन हैं। १६-चोपड़ा महाजन हैं। १७-पेसवाल, ये खोखरियेवाले रैबारी (ऊंट आदि पशु पालनेवाले) हैं। १८-गोढला। १९-टांकसिया, ये मेवाड़ में हैं। २०-चांदारा (चांदा के वंश के) नींबाज में कुंभार हैं। २१-माहप, ये राजपूत हैं और मारवाड़ में बहुत हैं। २२-डूराणा, ये राजपूत हैं। २३-सवर, मारवाड़ में राजपूत हैं। २४-पूमोर। २५-सामोर। २६-जेठवा, ये पड़िहारों में मिलते हैं।

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २१। २।

'वंशभास्कर' में दी हुई पड़िहारों की वंशावली में प्रसिद्ध नाहड़राव[1] (नागभट) का प्रतिहार से १७१वीं पीढ़ी में होना बतलाया है। नाहड़राव से छठी पीढ़ी में अमायक हुआ जिसके १२ पुत्रों से १२ शाखाओं का चलना माना है। उनमें से सोधक नाम के एक पुत्र का बेटा इंदा हुआ जिससे प्रसिद्ध इंदा नाम की शाखा चली। इस शाखा के पड़िहारों की ज़मींदारी ईंदावाटी जोधपुर से १५ कोस पश्चिम में है। मंडोर का गढ़ इंदा शाखा के पड़िहारों ने पड़िहार राणा हंमीर से, जो दुराचारी था, तंग आकर राव वीरम के पुत्र राठोड़ चूंडा को वि० सं० १४५१ में दहेज में दिया। फिर राणा हंमीर बीरूटंकनपुर में जा रहा। हंमीर के एक भाई दीपसिंह के वंशज सोंधिये पड़िहार हैं जो अब मालवे की तरफ़ सोंधीवाड़े में रहते हैं। हंमीर के एक दूसरे भाई गूजरमल ने एक मीणा जाति की स्त्री से विवाह कर लिया जिसके वंशज पड़िहार मीणे खैराड़ में हैं (जो ऊजले मीणे कहलाते हैं)। हंमीर के पुत्र कुंतल ने रान (राण) नगर (भिणाय) लेकर वहां राजधानी स्थापित की। कुंतल के पुत्र बाघ और निंबदेव थे। बाघ ने बुढ़ापे में ईहडदेव सोलंकी (शायद यह राण अर्थात् भिणाय का सोलंकी हो) की पुत्री जैमती से विवाह किया। वह कुलटा निकली और अपने बूढ़े पति को छोड़कर गोठण गांव के गूजर बधराव (बाघराव) के पुत्र भोज

---

(१) राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम प्रसिद्ध है वह मंडोर का पड़िहार नहीं, किंतु मारवाड़ (भीनमाल) का नागभट (दूसरा) होना चाहिये जो बड़ा ही प्रतापी और वीर राजा हुआ। उसीने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य अपने अधीन किया था। मंडोर के प्रतिहार अर्थात् ब्राह्मण हरिश्चंद्र के वंशज प्रथम चावड़ों के और पीछे से रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत बने। उनके लेखों में जो वीरता के काम बतलाये हैं, वे उनके स्वतंत्र नहीं, किंतु अपने स्वामी के साथ रहकर किये हुए होने चाहियें, जैसे कि कक्क (बाउक के पिता) का मुद्गगिरि (मुंगेर) के गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाना लिखा है, परंतु वास्तव में कक्क अपने स्वामी मारवाड़ के प्रतिहार वत्सराज का सामंत होने से उसके साथ मुंगेर के युद्ध में गौड़ों से लड़ा था। ऐसे उदाहरण बहुत से मिल आते हैं कि सामंत लोग अपने स्वामी के साथ रहकर विजयी हुए हों तो उक्त विजय को अपने शिलालेखादि में अपने नाम पर अंकित कर देते हैं। भाटों की ख्यातों में केवल मंडोर के पड़िहारों का ही उल्लेख मिलता है और मारवाड़ तथा कन्नौज के प्रतापी रघुवंशी प्रतिहारों के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा, जिसका कारण यही है कि भाट लोग बहुत पीछे से ख्यातें लिखने लगे और नाहड़राव (नागभट दूसरे) का नाम राजपूताने में अधिक प्रसिद्ध होने से उसको उन्होंने मंडोर का पड़िहार मान लिया।

के घर में जा बैठी। इसलिये पड़िहारों ने गूजरों को मारकर उनका गांव लूट लिया (जैमती के गीत अब तक राजपूताने में गाये जाते हैं)। गूजर भोज के बेटे ऊदल ने अपने पिता का वैर लेने को बाघ पड़िहार के पुत्र भुद्ध पर चढ़ाई की, राण नगर को लूटा और पड़िहार वहां से भाग निकले। भुद्ध से चौथी पीढ़ी में होनेवाले भीम के पुत्र किशनदास ने उचेरे (उचहरे, नागौद, बघेलखंड में) में राजधानी जा जमाई। इस समय प्रतिहारों का एक छोटा राज्य नागौद ही है और उनकी ज़मींदारियां ज़िले इटावा में तथा पंजाब में कांगड़े व होशियारपुर के ज़िलों में भी हैं।

परमार वंश

परमारों के शिलालेखों तथा कवि पद्मगुप्त(परिमल)रचित 'नवसाहसांकचरित' काव्य आदि में परमारों की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'आबू पर्वत पर वसिष्ठ ऋषि रहते थे, उनकी गौ (नंदिनी) को विश्वामित्र छल से हर ले गये, इसपर वसिष्ठ ने क्रुद्ध हो मंत्र पढ़कर अपने अग्निकुंड में आहुति दी जिससे एक वीर पुरुष उस कुंड में से प्रकट हुआ, जो शत्रु को परास्त कर गौ को पीछी ले आया, जिससे प्रसन्न होकर ऋषि ने उसका नाम 'परमार' अर्थात् शत्रु को मारनेवाला रक्खा। उस वीर पुरुष के वंश का नाम परमार हुआ'[1]। इस प्रकार परमारों की उत्पत्ति मालवे के परमार राजा मुंज (वाकपतिराज,

---

(१) *ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः।....॥ ४९ ॥*

अतिस्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम् ।
मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥
हृता तस्यैकदा धेनुः कामसूर्गाधिसूनुना ।
कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥
स्थूलाश्रुधारसन्तानस्नपितस्तनवल्कला ।
अमर्षपावकस्याभूद्भर्तुस्समिदरुन्धती ॥ ६६ ॥
अथाथर्वविदामाद्यस्समन्त्रामाहुतिं ददौ ।
विकसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥
ततः क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः ।
उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान् ॥ ६८ ॥

अमोघवर्ष) के पीछे के शिलालेखों तथा संस्कृत पुस्तकों में मिलती है, परंतु मुंज के ही समय के पंडित हलायुध ने राजा मुंज को ब्रह्मक्षत्र कुल का कहा है। परमारों की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ० ६६-६७ और उनके टिप्पणों में) विस्तार से लिख आये हैं।

परमारों का मूल राज्य आबू के आसपास के प्रदेश पर था जहां से जाकर उन्होंने मारवाड़, सिंध, वर्तमान गुजरात के कुछ अंश तथा मालवे आदि में अपने राज्य स्थापित किये थे।

आबू के परमारों का मूल पुरुष धूमराज हुआ, परंतु वंशावली उससे नहीं किंतु उसके वंशधर सिंधुराज से नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

(१) सिंधुराज—केराडू (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) के शिलालेख में, जो वहां के परमार सोमेश्वर के समय का है, सिंधुराज को मरुमंडल (मारवाड़) का महाराज लिखा है[1]। जालोर का सिंधुराजेश्वर का मंदिर उक्त सिंधुराज का बनाया हुआ होना चाहिये।

(२) उत्पलराज (सं० १ का उत्तराधिकारी)—वसंतगढ़ (वसिष्ठपुर, वटनगर, सिरोही राज्य में) से मिले हुए परमार राजा पूर्णपाल के समय के वि० सं० १०९९ (ई० स० १०४२) के शिलालेख में वंशावली उत्पलराज से शुरू होती है।

(३) आरण्यराज (सं० २ का पुत्र)।

(४) कृष्णराज (सं० ३ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(५) धरणीवराह (सं० ४ का पुत्र)—कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य निर्बल होने पर उनके सामंत स्वतंत्र होने लगे। मूलराज नामक सोलंकी ने अपने मामा चावड़ावंशी सामंतसिंह (भूयड़) को मारकर उसका राज्य छीना[2] और वह गुजरात की राजधानी पाटण (अणहिलवाड़े) की गद्दी पर

दूरं सन्तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता ।
तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना ॥ ६९ ॥
परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत् ।........॥ ७१ ॥

पद्मगुप्त (परिमल)रचित 'नवसाहसाङ्कचरित', सर्ग ११।

(१) *सिंधुराजो महाराजः समभून्मरुमण्डले ॥ ४ ॥*

(केराडू का शिलालेख, अप्रकाशित)

(२) हिं. टॉ. रा; खंड १, पृ० ४३२।

बैठ गया। उसने धरणीवराह पर भी चढ़ाई की थी जिससे उस (धरणीवराह) ने हस्तिकुंडी (हथुंडी, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल की शरण ली, ऐसा धवल के वि० सं० १०५३ (ई० स० ६६७) के शिलालेख से पाया जाता है[1]। मूलराज ने वि० सं० १०१७ से १०५२ तक राज्य किया, अतएव धरणीवराह पर उसकी चढ़ाई इन दोनों संवतों के बीच किसी वर्ष में होनी चाहिये। राजपूताने में ऐसा प्रसिद्ध है कि परमार धरणीवराह के ६ भाई थे जिनको उसने अपना राज्य बांट दिया, और उनकी ६ राजधानियां नव कोटी मारवाड़ कहलाईं। इस विषय का एक छप्पय भी प्रसिद्ध है[2], परंतु उस प्रसिद्धि में कुछ भी सत्यता पाई नहीं जाती; अनुमान होता है कि वह छप्पय किसीने पीछे से बनाया हो। उसके बनानेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान नहीं था।

(६) महीपाल (सं० ५ का पुत्र)—उसका दूसरा नाम देवराज मिलता है। उसका एक दानपत्र वि० सं० १०५६ (ई० स० १००२) का मिला है, जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ।

(७) धंधुक (सं० ६ का पुत्र)—उसने गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) की सेवा को स्वीकार न किया जिससे भीमदेव उसपर क्रुद्ध हुआ (अर्थात् चढ़ आया) तब वह आबू छोड़कर धारा (धारा नगरी, धार) के

---

(१) यं मूलादुदमूलयद्गुरुबलः श्रीमूलराजो नृपो
दर्प्पांधो धरणीवराहनृपतिं यद्वद्द्वि(द्द्वि)पः पादपं।
आयातं भुवि कांदिशीकमभिको यस्तं शरण्यो दधौ
दंष्ट्रायामिव रूढमूढमहिमा कोलो महीमण्डलं ॥ १२ ॥

ए. इं; जि० १०, पृ० २१।

(२) मंडोवर सामंत, हुवो अजमेर सिद्धसुव।
गढ पूंगल गजमल्ल, हुवो लोद्रवे भाणभुव ॥
अल्ह पल्ह अरबद्द, भोजराजा जालंधर।
जोगराज धरधाट, हुवो हांसू पारक्कर ॥
नवकोट किराडू संजुगत, थिर पंवार हर थप्पिया।
धरणीवराह धर भाइयां, कोट बांट जू जू दिया ॥

राजा भोज के पास चला गया, जब कि वह चित्तोड़ में रहता था। भीमदेव ने प्राग्वाटवंशी (पोरवाड़) महाजन विमल (विमलशाह) को आबू का दंडपति (हाकिम) नियत किया, जिसने धंधुक को चित्तोड़ से बुलाकर भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया; फिर उस (धंधुक) की आज्ञा से वि० सं० १०८८ में आबू पर (देलवाड़ा गांव में) विमलवसती (विमलवसही) नामक करोड़ों रुपयों की लागत का आदिनाथ का मंदिर बनवाया[1]। कारीगरी में उस मंदिर की समता करनेवाला दूसरा कोई मंदिर हिन्दुस्तान में नहीं है[2]। धंधुक की राणी अमृतदेवी से पूर्णपाल नामक पुत्र और लाहिनी नामक कन्या हुई। दूसरी राणी से, जिसके नाम का पता नहीं चलता, कृष्णराज का जन्म हुआ। लाहिनी का विवाह विग्रहराज के साथ हुआ था जिसको संगमराज का प्रपौत्र, दुर्लभराज का पौत्र और चच का पुत्र बतलाया है। लाहिनी विधवा हो जाने पर अपने

---

(१) *तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां ।*
चंद्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धंधुः ॥ ५ ॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवाममन्यमानः किल धंधुराजः ।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे ॥ ६ ॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव रत्नप्रधानं विमलाभिधानः।........॥ ७ ॥
ततश्च भीमेन नराधिपेन प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः ।
कृतोर्बुदे दंडपतिः सतां प्रियो प्रियंवदो नंदतु जैनशासने ॥ ८ ॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद्व्यतीतेऽष्टाशीति याते शरदां सहस्रे ।
श्रीआदिदेवं शिखरेर्बुदस्य निवेशितं श्रीविमलेन वंदे ॥ ११ ॥

आबू पर विमलशाह के मंदिर के जीर्णोद्धार संबंधी वि० सं० १३७८ के अप्रकाशित शिलालेख से।

राजनकश्रीधांधुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं ।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात् ।
सत्प्रासादं स विमलवसत्याह्वं व्यधापयत् ॥ ४० ॥

जिनप्रभसूरिरचित 'तीर्थकल्प' में अर्बुदकल्प।

(२) इस मंदिर की सुंदरता के लिये देखो ऊपर पृ० २३।

भाई पूर्णपाल के पास आ रही और वि० सं० १०६६ में उसने वासिष्ठपुर (वसंतगढ़, सिरोही राज्य में) में सूर्य के मंदिर और सरस्वती वापी (बावड़ी) का जीर्णोद्धार कराया[1]। लाहिनी के नाम से अब तक वह बावड़ी लाणवाव (लाहिनी वापी) कहलाती है।

(८) पूर्णपाल (सं० ८ का पुत्र)—उसके समय के तीन शिलालेख मिले हैं जिनमें से दो वि० सं० १०६६ (ई० स० १०४२) के और तीसरा वि० सं० ११०२ (ई० स० १०४५) का है। उत्पलराज से लगाकर पूर्णपाल तक की वंशावली वि० सं० १०६६ के वसंतगढ़ के शिलालेख में मिलती है। पूर्णपाल का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई कृष्णराज हुआ।

(६) कृष्णराज दूसरा (सं० ८ का छोटा भाई)—गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) ने उसको कैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे मुक्त करा दिया[2]। उसके समय के दो शिलालेख भीनमाल से मिले हैं जो वि० सं० १११७[3] और ११२३[4] (ई० स० १०६० और १०६६) के हैं। कृष्णराज से दो शाखें, एक आबू की और दूसरी केराडू की, फटी हों ऐसा अनुमान होता है। यहां तक आबू के परमारों की वंशावली शृंखलाबद्ध मिलती है, आगे की वंशावली तेजपाल (वास्तुपाल के भाई) के बनाये हुए आबू पर देलवाड़ा के लूणवसही नामक नेमिनाथ के मंदिर की वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) की प्रशस्ति में मिलती है, परंतु पूरी नहीं। उसमें लिखा है कि परमार वंश में धंधुक, ध्रुवभट आदि राजा हुए, फिर रामदेव हुआ, आगे रामदेव से वंशावली शुरू की है। उसके आदि पद से स्पष्ट है कि रामदेव के पूर्व और भी राजा हुए, परंतु उनके नाम उस प्रशस्ति में नहीं दिये गए। जब तक उन नामों

---

(१) वसंतगढ़ का वि० सं० १०६६ का शिलालेख (ए. इं; जि०, ६ पृ० १२-१५।

(२) जज्ञे भूभृत्तदनु तनयस्तस्य बालप्रसादो
भीमक्ष्माभृच्चरणयुगलीमर्द्दनव्याजतो यः ।
कुर्वन् पीडामतिव(ब)लतया मोचयामास कारा-
गाराद्भूमीपतिमपि तथा कृष्णदेवाभिधानम् ॥ १८ ॥
ए. इं; जि० ६, पृ० ७५-७६।

(३) बंब. गैज़ेटियर; जि० १, भा० १, पृ० ४७२-७३।

(४) वही; जि० १, भा० १, पृ० ४७३-७४।

का पूरा पता न लगे तब तक कृष्णराज के पीछे शायद एक या दो नाम रह गये हों ऐसा मानकर हम रामदेव से आगे की वंशावली लिखते हैं।

(१०) ध्रुवभट—किसका पुत्र था इसका भी निश्चय नहीं हो सका, ऐसी दशा में कृष्णराज के वंश में उसका होना मानना पड़ता है।

(११) रामदेव—उसका पूर्णपाल या कृष्णराज से क्या संबंध था यह भी अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

(१२) विक्रमसिंह (सं० ११ का उत्तराधिकारी)—हेमचंद्र (हेमाचार्य) ने अपने 'द्व्याश्रयमहाकाव्य' में लिखा है कि गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनल्लदेव, आनाक) पर चढ़ाई की उस समय आबू का राजा विक्रमसिंह कुमारपाल के साथ था[1]। जिनमंडनोपाध्याय ने अपने 'कुमारपाल-प्रबंध' में लिखा है कि विक्रमसिंह लड़ाई के समय आना (अर्णोराज) से मिल गया जिससे कुमारपाल ने उसको क़ैद कर आबू का राज्य उसके भतीजे यशोधवल को दिया। वस्तुपाल के आबू के मंदिर की प्रशस्ति में रामदेव के पीछे यशोधवल का नाम दिया है, परंतु हेमचंद्र कुमारपाल के समय के ही लेखक होने से उनका कथन निर्मूल नहीं कहा जा सकता। सोलंकी कुमारपाल ने अजमेर पर दो चढ़ाइयां की थीं, परंतु पिछले जैन लेखकों ने दोनों को मिलाकर गड़बड़ कर दिया है। पहली चढ़ाई वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई जिसमें कुमारपाल की विजय हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता; दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में हुई जिसमें वह विजयी हुआ[2]। विक्रमसिंह के समय पहली चढ़ाई हुई होगी क्योंकि अजारी गांव (सिरोही राज्य में) से यशोधवल के समय का एक शिलालेख[3] वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) का मिला जिसमें उसको महामंडलेश्वर कहा है।

(१३) यशोधवल (सं० १२ का भतीजा)—वि० सं० १२०२ में विद्यमान था। उसने कुमारपाल के शत्रु मालवे के राजा बल्लाल को मारा था[4]। बल्लाल का

(१) 'द्व्याश्रयकाव्य'; सर्ग १६, श्लो० ३३-३४।
(२) इं० एँ; जि० ४१, पृ० १९५-९६।
(३) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़िअम्
(४) रोदःकंदरवर्त्तिकीर्त्तिलहरी
रम्प्रद्युम्नवशो यशोधवल इ

नाम मालवे के परमारों के शिलालेखादि में नहीं मिलता, संभव है कि वह उनका कोई वंशधर हो जिसने अपने पुरुखाओं का सोलंकियों के हाथ में गया हुआ राज्य पीछा लेने का झंडा उठाया हो और उसमें मारा गया हो, अथवा किसी राजा का उपनाम (ख़िताब) हो जिसका निर्णय अब तक नहीं हुआ। यशोधवल के दो पुत्र धारावर्ष और प्रल्हादनदेव थे।

(१४) धारावर्ष (सं० १३ का पुत्र)—वह आबू के परमारों में बड़ा प्रसिद्ध और पराक्रमी हुआ। गुजरात के राजा कुमारपाल ने कोंकण (उत्तरी) के राजा (मल्लिकार्जुन) पर दो चढ़ाइयां भेज उसको मारा, उनमें वह भी कुमारपाल की सेना के साथ था और उसने अपनी वीरता बतलाई थी[१]। 'ताजुल् मआसिर' नामकी फ़ारसी तवारीख़ से पाया जाता है कि हिजरी सन् ५९३ के सफर (वि० सं० १२५३ पौष या माघ=ई० स० ११९६) महीने में कुतवुद्दीन ऐबक ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई की। उस समय आबू के नीचे (कायद्रा गांव के पास) बड़ी लड़ाई हुई जिसमें धारावर्ष गुजरात की सेना के दो मुख्य सेनापतियों में से एक था। इस लड़ाई में गुजरात की सेना हारी, परंतु उसी जगह थोड़े ही समय पहले जो एक दूसरी लड़ाई हुई थी उसमें शहाबुद्दीन गोरी घायल होकर भागा था[२], उस लड़ाई में भी धारावर्ष का लड़ना पाया जाता है। उसके समय गुजरात पर कुमारपाल, अजयपाल, मूलराज (दूसरा) और भीमदेव (दूसरा) ये चार सोलंकी राजा हुए। बालक राजा भीमदेव (दूसरे) के समय में उसके मंत्रियों तथा सरदारों ने उसका राज्य क्रमशः दबा लिया[३] और वे स्वतंत्र बन बैठे तब धारावर्ष भी स्वतंत्र हो गया था, परंतु जब गुजरात पर

यश्चौलुक्यकुमारपालनृपतिप्रत्यर्थितामागतं
मत्वा सत्वरमेष मालवपतिं बल्लालमालब्धवान् ॥ ३५ ॥

आबू पर के तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति से (ए० इं; जि० ८, पृ० २१०–११)

(१) वही; प्रशस्ति श्लोक ३६।

(२) इलियट; हिस्टरी आफ़ 'इंडिया;' जि० २, पृ. २२९–३०।

(३) *मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः ।*
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१ ॥

'कीर्तिकौमुदी;' सर्ग २।

दक्षिण के यादव राजा सिंहण ने तथा दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने चढ़ाई की; उस विकट समय में धोलका के वघेल (सोलंखी) सामंत वीरधवल तथा उसके मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) महाजन वस्तुपाल और तेजपाल के आग्रह से मारवाड़ के अन्य राजाओं के साथ वह भी गुजरात के राजा की सहायता करने को फिर तैयार हो गया[1]। वह बड़ा ही वीर और पराक्रमी राजा था। पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) के शिलालेख में लिखा है कि धारावर्ष एक बाण से तीन भैंसों को बींध डालता था[2]। इस कथन की साक्षी आबू पर अचलेश्वर मंदिर के बाहर मंदाकिनी नामक बड़े कुंड के तट पर धनुष सहित पत्थर की बनी हुई राजा धारावर्ष की मूर्ति दे रही है जिसके आगे पूरे क़द के तीन भैंसे पास पास खड़े हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक के शरीर के आरपार समान रेखा में एक एक छिद्र बना है। उसकी दो राणियां शृंगारदेवी और गीगादेवी नाडोल के चौहान राजा केल्हण की पुत्रियां थीं, जिनमें से गीगादेवी उसकी पटराणी थी। उसके राज्यसमय का एक दानपत्र और कई शिलालेख वि० सं० १२२० से १२७६[3] तक के मिले हैं जिनसे निश्चित है कि उसने कम से कम ५७ वर्ष तक राज्य किया था।

'पृथ्वीराज रासे' में लिखा है कि आबू के परमार राजा सलख की पुत्री इच्छनी से गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरा, भोलाभीम) ने विवाह करना चाहा, परन्तु यह बात सलख तथा उसके पुत्र जैतराव ने स्वीकार नहीं की और इच्छनी का संबंध चौहान पृथ्वीराज से कर दिया। इसपर क्रुद्ध हो भीम ने आबू पर चढ़ाई कर दी, युद्ध में सलख मारा गया। उसके पीछे पृथ्वीराज ने भीम को पराजित कर आबू का राज्य जैतराव को दिया और इच्छनी से विवाह कर लिया। यह सारी

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १२३-२४, और पृ० १२५ के टिप्पण १, ३ और ४।

(२) एकबाणनिहतं त्रिलुलायं यं निरीक्ष्य कुरुयोधसदृक्षं।
पाटनारायण की प्रशस्ति; श्लो० १५ (मूलांतम की प्राप्त से)।

(३) धारावर्ष का वि० सं० १२२० ज्येष्ठ सुदि ५ का [illegible] रोही राज्य में) से मिला है जो राजपूताना म्यूज़ियम ([illegible] का मकावल गांव (सिरोही राज्य में) से ओंधे हुए एक हुए संगमरमर के अठपहलू स्तंभ पर

कथा कल्पित है क्योंकि आबू पर सलख या जैतराव नाम का कोई परमार राजा ही नहीं हुआ। पृथ्वीराज ने वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७६) से १२४६ (ई० स० ११९२) तक राज्य किया, और वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) से १२७६ (ई० स० १२१९) तक आबू का राजा धारावर्ष था जिसके कई शिलालेख मिल चुके हैं।

धारावर्ष का छोटा भाई प्रल्हादनदेव (पालनसी) वीर एवं विद्वान् था। उसकी विद्वत्ता और वीरता की बहुत कुछ प्रशंसा प्रसिद्ध कवि सोमेश्वर ने अपनी रची हुई 'कीर्तिकौमुदी' नामक पुस्तक[1] तथा वस्तुपाल के बनवाए हुए लूणवसही नामक आबू पर देलवाड़ा गांव के नेमिनाथ के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति में की है। मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा सामंतसिंह और गुजरात के सोलंकी राजा अजयपाल की लड़ाई में, जिसमें अजयपाल घायल हुआ, प्रल्हादन ने बड़ी वीरता से लड़कर गुजरात की रक्षा की थी[2]। प्रल्हादन का रचा हुआ 'पार्थपराक्रम व्यायोग[3]' (नाटक) भी मिल चुका है, जो उसकी लेखनी का उज्ज्वल रत्न है। उसने अपने नाम से प्रल्हादनपुर नगर बसाया जो अब पालनपुर नाम से गुजरात में प्रसिद्ध है।

(१५) सोमसिंह (सं० १४ का पुत्र)—उसने अपने पिता से शस्त्रविद्या और चचा (प्रल्हादन) से शास्त्रविद्या को पढ़ा था[4]। उसके समय में मंत्री वस्तुपाल

---

(१) श्रीप्रह्लादनदेवोभूदाद्वितयेन प्रसिद्धिमान्।
पुत्रत्वेन सरस्वत्याः पतित्वेन जयश्रियः॥ २०॥
'कीर्तिकौमुदी;' सर्ग १।

(२) इं० ऐं; जि० ४३, पृ० १००–१०२।

(३) संस्कृत में नाटक के मुख्य १० भेद माने गये हैं, जिनमें से एक 'व्यायोग' कहलाता है। व्यायोग किसी प्रसिद्ध घटना का प्रदर्शक होता जिसमें युद्ध का प्रसंग अवश्य होता है, परंतु वह स्त्री के निमित्त न हो। उसमें एक ही अंक, धीरोद्धत वीर पुरुष नायक, पात्रों में पुरुष अधिक और स्त्रियां कम और मुख्य रस वीर तथा रौद्र होते हैं। 'पार्थ-पराक्रम व्यायोग' 'गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़' में छप चुका है।

(४) धारावर्षसुतोऽयं जयति श्रीसोमसिंहदेवो यः।
पितृतः शौर्यं विद्यां पितृव्यकाद्दानमुभयतो जगृहे॥ ४०॥
ए० इं; जि० ८, पृ० २११।

के छोटे भाई तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गांव में लूणवसही नामक नेमिनाथ का मंदिर, जो आबू के सुंदर मंदिरों में दूसरा है[1], करोड़ों रुपये लगाकर अपने पुत्र लूणसिंह (लावण्यसिंह) के श्रेय के लिये वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) में बनवाया। उसकी पूजा आदि के लिये सोमसिंह ने बारठ परगने का डबाणी गांव उक्त मंदिर को भेट किया[2]। उसी गांव से मिले हुए वि० सं० १२९६ श्रावण सुदि ५ के शिलालेख में उक्त मंदिर तथा तेजपाल और उसकी स्त्री अनुपमादेवी के नामों का उल्लेख है। सोमसिंह के समय के तीन शिलालेख अब तक मिले हैं जो वि० सं० १२८७ से १२९३ तक के हैं[3]। वह गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरे) का सामंत था। उसने अपने जीतेजी अपने पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) को युवराज बना दिया था और उसके हाथखर्च के लिये नाणा गांव (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में) दिया था।

(१६) कृष्णराज—तीसरा (सं० १५ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(१७) प्रतापसिंह[4] (सं० १६ का पुत्र)—उसके विषय में पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में लिखा है कि उसने जैत्रकर्ण को परास्त कर दूसरे वंश में गई हुई चंद्रावती का उद्धार किया अर्थात् दूसरे वंश के राजा

(१) उक्त मंदिर की सुंदरता आदि के लिये देखो ऊपर पृ० २३—२४।

(२) ए० इं; जि० ८, पृ० २२२, पंक्ति ३१ वीं।

(३) वि० सं० १२८७ की दो प्रशस्तियां आबू पर वस्तुपाल के मंदिर में लगी हुई हैं (ए० इं; जि० ८, पृ० २०८—२२) और वि० सं० १२९३ का शिलालेख देवखेत्र (देवक्षेत्र, सिरोही राज्य में) के मंदिर में लगा हुआ (अप्रकाशित) है।

(४) सिरोही राज्य के कालागरा नामक गांव से एक शिलालेख वि० सं० १३०० का मिला है जिसमें चंद्रावती के महाराजाधिराज आल्हणसिंह का नाम है। वह किस वंश का था इस संबंध का उक्त लेख में कुछ भी उल्लेख नहीं है। पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में कृष्णराज के पीछे प्रतापसिंह का नाम है, आल्हणसिंह का नहीं; ऐसी दशा में संभव है कि आल्हणसिंह कृष्णराज का ज्येष्ठ पुत्र हो और उस (आल्हणसिंह) के पीछे प्रतापसिंह राजा हुआ हो। शिलालेखों में ऐसे उदाहरण कभी कभी मिल आते हैं कि एक भाई के पीछे दूसरा भाई राजा हुआ हो तो वह (दूसरा) अपने बड़े भाई का नाम छोड़ अपने पिता के पीछे अपना नाम लिखाता है, परंतु जब तक अन्य लेखों से हमारे इस अनुमान की पुष्टि न हो तब तक हम आल्हणसिंह को आबू के परमारों की वंशावली में स्थान देना उचित नहीं समझते।

जैत्रकर्ण ने चंद्रावती लेली थी, उसको परास्त कर वहां पर पीछा परमारों का राज्य जमाया। जैत्रकर्ण शायद मेवाड़ का राजा जैत्रसिंह हो। प्रतापसिंह का मंत्री ब्राह्मण देल्हण था, जिसने वि० सं० १३४४ में पाटनारायण के मंदिर का जीर्णोद्धार करवा कर उसपर ध्वजा-दंड चढ़ाया।

(१८) विक्रमसिंह (सं० १७ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) का वर्माण गांव (सिरोही राज्य में) के ब्रह्माणस्वामी नाम के सूर्यमंदिर के एक स्तंभ पर खुदा है, जिसमें उसका ख़िताब 'महाराजकुल' (महारावल) लिखा है। आबू पर तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ की दूसरी प्रशस्ति में आबू के परमार राजा सोमसिंह को भी राजकुल (रावल) लिखा है जिससे अनुमान होता है कि जैसे मेवाड़ के राजाओं ने पीछे से राजकुल (रावल) और महाराजकुल (महारावल) ख़िताब धारण किये वैसे ही आबू के परमारों ने भी धारण किये थे। विक्रमसिंह के समय जालोर के चौहानों ने आबू के परमारराज्य का पश्चिमी अंश दबा लिया और उसके अंतिम समय में, अथवा उसके पुत्र या वंशज से वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) के आसपास राव लुंभा ने आबू तथा उसकी राजधानी चंद्रावती छीनकर आबू के परमार राज्य की समाप्ति की और वहां चौहानों का राज्य स्थापित किया।

आबू के परमारों के वंशधर दांता (आबू के निकट गुजरात में) के परमार हैं, उनका जो इतिहास गुजराती 'हिंदराजस्थान' में छपा है उससे पाया जाता है कि उसके संग्रह करनेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे 'प्रबंधचिंतामणि' आदि में मालवे के परमारों का जो कुछ इतिहास मिला उसे संग्रह कर दांता के परमारों को मालवे के परमारों का वंशधर ठहरा दिया। फिर मुंज, सिंधुल और प्रसिद्ध राजा भोज के पीछे क्रमशः उदयकरण (उदयादित्य), देवकरण, खेमकरण, संताण, समरराज और शालिवाहन के नाम दिये हैं। उसी शालिवाहन का वि० सं० १३५ में होना और शक संवत् चलाना भी लिखा है। यह सब इतिहास के अंधकार में बहुधा कल्पित वृत्तान्त लिख मारा है। दांता के परमार वास्तव में आबू के राजा कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशधर हैं।

आबू के परमारों का वंशवृक्ष

१-सिंधुराज (धूमराज का वंशज)
⋮
२-उत्पलराज
|
३-आरण्यराज
|
४-कृष्णराज
|
५-धरणीवराह
|
६-महीपाल (देवराज) वि० सं० १०५९
|
७-धंधुक
|
८-पूर्णपाल वि० सं० १०९९-११०२ | ९-कृष्णराज (दूसरा) वि० सं० १११७-२३

(९-कृष्णराज ⋮)
१०-ध्रुवभट
⋮
११-रामदेव | १२-विक्रमसिंह वि० सं० १२०१(?) | ०

(० |)
१३-यशोधवल वि० सं० १२०२
|
१४-धारावर्ष वि० सं० १२२०-७६ | प्रल्हादन

(१४-धारावर्ष |)
१५-सोमसिंह वि० सं० १२८७-९३
|
१६-कृष्णराज (तीसरा)
|
१७-प्रतापसिंह वि० सं० १३४४
|
१८-विक्रमसिंह वि० सं० १३५६

जालोर (जोधपुर राज्य में) से परमारों का एक शिलालेख वि० सं० ११४४ (ई० स० १०८७) का मिला है[1] जिसमें वहां के परमारों के क्रमशः ये सात नाम मिलते हैं—

जालोर के परमार

(१) वाक्पतिराज, (२) चंदन, (३) देवराज, (४) अपराजित, (५) विज्जल, (६) धारावर्ष और (७) वीसल। वीसल की राणी मेलरदेवी ने सिंधुराजेश्वर के मंदिर पर उक्त संवत् में सुवर्ण का कलश चढ़वाया। ये राजा आबू के परमारों की छोटी शाखा में होने चाहियें। यह शाखा आबू के कौन से राजा से फटी इसका कुछ भी हाल अब तक जानने में नहीं आया, परंतु जालोर का वाक्पतिराज आबू के महीपाल (देवराज) का समकालीन प्रतीत होता है, ऐसी दशा में जालोर की शाखावाले आबू के परमार धरणीवराह के वंशज हों तो आश्चर्य नहीं।

किराडू (जोधपुर राज्य में) के शिवालय के एक स्तंभ पर वहां के परमारों का एक लेख खुदा हुआ है जो वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) आश्विन सुदि १ का है। उसका एक तिहाई अंश नष्ट हो गया है तो भी जो कुछ रक्षित है उसमें आबू के परमार राजा कृष्णराज (दूसरे) के नीचे लिखे हुए वंशधरों के नाम मिलते हैं।

किराडू के परमार

(१) सोच्छराज (कृष्णराज का पुत्र)।

(२) उदयराज (सं० १ का पुत्र)—वह गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत था और उसके लिये चोड, गौड, कर्णाट और मालवे में लड़ाइयां लड़ा था।

(३) सोमेश्वर (सं० २ का पुत्र)—वह प्रारंभ में जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत और कृपापात्र था। जयसिंह की कृपा से सिंधुराजपुर के राज्य को, जो पहले छूट गया था, फिर से प्राप्त कर कुमारपाल (सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी) की कृपा से उसे सुदृढ़ किया और किराडू में बहुत समय तक वह राज्य करता रहा। वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) आश्विन सुदि १ गुरुवार को उसने राजा जज्जक से १७०० घोड़े दंड में लिये और उसके दो क़िले तणुकोट्ट (तंनोट, जैसलमेर राज्य में) और नवसर (नौसर, जोधपुर राज्य में) भी छीन लिये, अंत में जज्जक को चौलुक्य (सोलंकी)

(१) यह लेख अब तक अप्रकाशित है।

राजा (कुमारपाल) के अधीन कर वे क़िले आदि उसको पीछे दे दिये[1], जिसकी यादगार में किराडू का वह लेख खुदवाया गया था।

आबू के परमारों की ऊपर लिखी हुई शाखाओं के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में कहीं कहीं और भी परमारों के लेख मिलते हैं, परंतु उनमें वंशावली न होने से हमने उन्हें यहां स्थान नहीं दिया।

मालवे के परमार

मालवे के परमारों के शिलालेखों तथा 'नवसाहसांकचरित' आदि पुस्तकों में उनका उत्पत्ति-स्थान आबू पर्वत बतलाया है, जिससे अनुमान होता है कि वे आबू से उधर गये हों। आबू का उत्पलराज (ऊपलदे) और मालवे का उपेंद्र (कृष्णराज) एक ही व्यक्ति हो, यदि यह अनुमान ठीक हो तो यही मानना पड़ेगा कि उत्पलराज ने मालवा विजय किया हो और वहां का राज्य उसके पुत्र वैरिसिंह को मिला हो। मालवे के परमारों के अधीन राजपूताने के कोटा राज्य का दक्षिणी विभाग, झालावाड़ राज्य, वागड़, तथा प्रतापगढ़ राज्य का पूर्वी विभाग रहना पाया जाता है। उनकी मूल राजधानी धारानगरी थी, फिर उज्जैन हुई, और भोज के समय पीछी धारानगरी में राजधानी स्थापित की गई। उनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

---

(१) प्रसादाज्जयसिंहस्य सिद्धराजस्य भूभुजः ॥ १९ ॥
....................सिंधुराजपुरोद्भवं ।
भूयो निर्व्याजशौर्येण राज्यमेतत्समुद्धृतं ॥ २० ॥
.... । कुमारपालभूपालात् सुप्रतिष्ठमिदं कृतं ॥ २१ ॥
किरातकूटमात्मीयं..............समन्वितं ।
निजेन क्षात्रधर्मेण पालयामास यश्चिरं ॥ २२ ॥
अष्टादशाधिके चास्मिन् शतद्वादशकेश्विने ।
प्रतिपद्गुरुसंयोगे सार्द्धयामे गते दिने ॥ २३ ॥
दंडं सप्तदशशतमश्वानां नृपजज्जकात् ।....॥ २४ ॥
तणुकोट्टं नवसरो दुर्ग्गौ सोमेश्वरोग्रहीत् ।....॥ २५ ॥
बहुशः सेवकीकृत्य चौलुक्यजगतीपतेः ।
पुनः संस्थापयामास तेषु देशेषु जज्जकं ॥ २६ ॥

किराडू का [illegible]

१ कृष्णराज—उसका दूसरा नाम उपेंद्र मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में उसके विषय में लिखा है कि उसने कई यज्ञ किये और अपने ही पराक्रम से बड़ा राजा होने का सम्मान प्राप्त किया[1]। 'नवसाहसांकचरित' में लिखा है कि 'उसका यश जो सीता के आनंद का हेतु था, हनुमान की नाईं समुद्र को उल्लंघन कर गया[2]'। इसका अभिप्राय यही होना चाहिये कि सीता नाम की विदुषी और कवित्वशालिनी स्त्री ने उसके यश का कोई ग्रंथ लिखा हो। सीता नाम की विदुषी स्त्री का 'प्रबंधचिंतामणि' और 'भोजप्रबंध' में भोज के समय में होना लिखा है, परंतु उसका कृष्णराज के समय में होना विशेष संभव है। कृष्णराज के दो पुत्र वैरिसिंह और डंबरसिंह थे, जिनमें से वैरिसिंह उसका उत्तराधिकारी हुआ और डंबरसिंह को वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्य) का इलाक़ा जागीर में मिला।

(२) वैरिसिंह (सं० १ का पुत्र)।

(३) सीयक (सं० २ का पुत्र)।

(४) वाक्पतिराज (सं० ३ का पुत्र)—उसके विषय में उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख में लिखा है कि उसके घोड़े गंगासमुद्र (गंगासागर या गंगा और समुद्र) का जल पीते थे, अर्थात् वहां तक उसने धावा किया हो।

(५) वैरिसिंह दूसरा (सं० ४ का पुत्र)—उसको वज्रटस्वामी भी कहते थे। उसने अपनी तलवार की धारा (धार) से शत्रुओं को मारकर धारा (धारानगरी) का नाम सार्थक कर दिया।

(६) श्रीहर्ष (सं० ५ का पुत्र)—उसको सीयक (दूसरा) और सिंहभट भी कहते थे। उसने दक्षिण के राठोड़ राजा खोट्टिगदेव पर चढ़ाई की। नर्मदातट पर खलिघट्ट में उससे लड़ाई हुई जिसमें राठोड़ों की हार हुई। इस लड़ाई

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २३४।

(२) *उपेन्द्र इति सञ्जज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥*
सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्छ्वसितहेतुना ।
हनूमतेव यशसा यस्यालङ्घ्यत सागरः ॥ ७७ ॥
'नवसाहसांकचरित'; सर्ग ११।



में बागड़ का स्वामी परमार कंकदेव, जो श्रीहर्ष का कुटुंबी था, हाथी पर चढ़कर लड़ता हुआ मारा गया[1]। फिर आगे बढ़कर वि० सं० १०२९ (ई० स० ९७२) में दक्षिण के राठोड़ों की राजधानी मान्यखेट (मालखेड़, निज़ाम राज्य में) नगर को लूटा[2]। उसने हूणों को भी जीता था। उसी वर्ष उसके राज्य में धनपाल कवि ने अपनी विदुषी बहिन सुंदरी के लिये 'पाइअलच्छीनाममाला' नामक प्राकृत कोष बनाया। श्रीहर्ष का एक दानपत्र वि० सं० १००५ माघ वदि अमावास्या का मिला है[3]। उसके दो पुत्र मुंज और सिंधुराज (सिंधुल) थे जिनमें

---

(१) *श्रीहर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः ॥*

उदयपुर की प्रशस्ति (ए. इं; जि० १, पृ० २३५)।

तस्यान्वये करिकरोद्धरवा(बा)हुदण्डः

श्रीकंकदेव इति लब्ध(ब्ध)जयो व(ब)भूव । .... ॥

आरूढो गजपृष्ठमद्भुतस(श)रासारै रणे सर्व्वतः

कर्णाटाधिपतेर्व्व(र्ब्ब)लं विदलयंस्तन्नर्म्मदायास्तटे ।

श्रीश्रीहर्षनृपस्य मालवपतेः कृत्वा तथारिक्षयं

यः स्वर्ग्गं सुभटो ययौ सुरवधूनेत्रोत्पलैरर्च्चितः ॥

अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) के मंडलेश्वर के मंदिर की वि० सं० ११३६ की प्रशस्ति की छाप से।

चच्चनामाभवत्तस्माद्भ्रातृसूनुर्महानृपः ।

रणे.. ॥ २८ ॥

..ख्यया

विख्यातः करवालघातदलितद्विट्कुंभिकुंभस्थलः ।

यः श्रीखोट्टिकदेवदत्तसमरः श्रीसीयकार्थे कृती

रेवायाः खलि[घट्ट]नामनि तटे युध्वा प्रतस्थे दिवं ॥ २९ ॥

पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) के मंडलेश्वर के मंदिर की वि० सं० १११६ की प्रशस्ति की छाप से।

(२) *विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि (१०२९)।*

मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥

'पाइअलच्छीनाममाला' श्लो०

(३) 'पुरातत्व' (गुजराती); वि० सं० १९८१-८०, पृ०

(८) सिंधुराज (संख्या ७ का छोटा भाई)—उसको सिंधुल भी कहते थे और उसके बिरुद कुमारनारायण और नवसाहसांक थे। मुंज ने अपने जीतेजी भोज को गोद ले लिया परंतु उस (मुंज) के मारे जाने के समय वह बालक था इसलिये सिंधुराज गद्दी पर बैठा था। उसने हूण[1], कोसल (दक्षिण-कोसल), वागड़, लाट और मुरलवालों को जीता[2] और इस नवीन साहस के कारण ही उसने 'नवसाहसांक' पदवी धारण की हो। पद्मगुप्त (परिमल) कवि ने उसके समय में उसके चरित का 'नवसाहसांक' काव्य लिखा, परंतु उसमें ऐतिहासिक बातें बहुत कम हैं। उक्त काव्य से पाया जाता है कि उसके मंत्री का नाम रमांगद था। सिंधुराज ने नागकन्या (नागवंश की राजकुमारी) शशिप्रभा के साथ विवाह किया था। सिंधुराज वि० सं० १०६६ (ई० स० १००६) से कुछ ही पूर्व गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा चामुंडराज के साथ की लड़ाई में मारा गया[3]।

(६) भोज (सं० ८ का पुत्र)—उसका बिरुद त्रिभुवननारायण मिलता है। वह बड़ा दानी, विद्वान् और रणरसिक था। उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख से पाया जाता है कि 'उसने कैलाश से लगाकर मलय पर्वत (दक्षिण में) तक के देशों पर राज्य किया'[4] (इसमें अतिशयोक्ति का होना संभव है), तथा चेदीश्वर (चेदि देश का राजा), इंद्ररथ, तोग्गल, भीम आदि को एवं कर्णाट, लाट और गुर्जर (गुजरात) के राजाओं तथा तुरुष्कों (मुसलमानों) को जीता। उसके काम, दान और ज्ञान की समानता कोई नहीं करता था। वह कविराज (कवियों में राजा के समान) कहलाता था, उसने केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुंडीर (?), काल (महाकाल), अनल और रुद्र के मंदिर बनवाए थे[5]। उसके देहांत-समय धारा नगरी पर शत्रुरूपी अंधकार

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २२८।

(२) 'नवसाहसांकचरित'; सर्ग १०, श्लो० १४–१६।

(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० १२१–२४।

(४) ए. इं; जि० १, पृ० २३५, श्लो० १७।

(५) चेदीश्वरेंद्ररथ[तोग्ग]ल[भीममु]ख्या-
न्कर्णाटलाटपतिगूर्ज्जरराट्तुरुष्कान्।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलो[क्य] मौला

छा गया था। ऊपर लिखे हुए राजाओं में से चेदीश्वर चेदि देश का हैहय-(कलचुरि) वंशी राजा गांगेयदेव था, जिसके भोज से परास्त होने का उल्लेख मिलता है। इंद्ररथ और तोग्गल कहां के राजा थे यह अब तक जाना नहीं गया; भीम गुजरात का सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) था जिसके समय भोज के सेनापति कुलचंद्र ने गुजरात पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की, ऐसा 'प्रबंधचिन्तामणि' से पाया जाता है[1]। दक्षिण के सोलंकी तैलप ने मुंज को मारा जिसका बदला सिंधुराज न ले सका, परंतु भोज ने तैलप के पौत्र जयसिंह पर चढ़ाई कर उसको पराजित किया। सोलंकियों के शिलालेखों में जयसिंह को भोजरूपी कमल के लिये चंद्रमा के समान बतलाया है[2], परंतु भोज के वंशज उदयादित्य के समय के उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) के शिलालेख में भोज को कर्णाटक के राजा (सोलंकी जयसिंह) को जीतनेवाला लिखा है। बांसवाड़े से मिले हुए राजा भोज के वि० सं० १०७६ (ई० स० १०२०) माघ सुदि ५ के दानपत्र में कोंकण-विजयपर्वणि (कोंकण जीतने के उत्सव) पर घाघ्रदोर (? व्याघ्रदोर, वागीडोरा, बांसवाड़ा राज्य में) भोग (विभाग) के वटपद्रक (बड़ौदिया) गांव में, छींछा (चींच, बांसवाड़ा राज्य में) स्थान (गांव) के रहनेवाले भाइल ब्राह्मण को १०० निवर्त्तन (भूमि का नाप, बीघा) भूमि दान करने का उल्लेख है[3]। इससे स्पष्ट है कि सोलंकी जयसिंह पर की चढ़ाई में भोज ने विजयी होकर मुंज के मारे जाने का बदला लिया था। अवंती के राजा भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा ऐसा 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में उल्लेख है[4]। भोज के अंतिम समय

दोष्णां व(ब)लानि कलयंति न [योद्ध]लो[कान्] ॥
केदाररामेस्व(श्व)रसोमनाथ[सुं]डीरकालानलरुद्रसत्कैः ।
सुराश्र[यै]र्व्याप्य च यः समन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार ॥

ए. इं; जि० १, पृ० २३२-३३।

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० ८०।

(२) 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ८१।

(३) ए. इं; जि० ११, पृ० १८२-८३।

(४) *वीर्यरामसुतस्तस्य वीर्येण स्यात्स्मरोपमः ।*
यदि प्रसन्नया दृष्ट्या न दृश्येत पिनाकिना ॥

में गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) और चेदि के राजा कर्ण ने, जो गांगेयदेव का पुत्र था, धारानगरी पर चढ़ाई की, उसी समय भोज का देहांत हुआ और उसके राज्य में अव्यवस्था हो गई।

राजा भोज प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने अलंकार शास्त्र पर 'सरस्वतीकंठाभरण', योगशास्त्र पर 'राजमार्तंड,' ज्योतिष के विषय में 'राजमृगांक' और 'विद्वज्जनमंडन', शिल्प का 'समरांगण' ऐसे ही एक व्याकरण का ग्रंथ तथा 'शृंगारमंजरी-कथा' आदि कई ग्रंथ संस्कृत में लिखे। उसके बनाए हुए 'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत काव्य भी शिलाओं पर खुदे मिले हैं। धारानगरी में 'सरस्वतीकंठाभरण' (सरस्वती सदन) नामक पाठशाला बनवाई थी जिसमें कूर्मशतक, भर्तृहरि की कारिका आदि कई पुस्तकें शिलाओं पर खुदवाकर रक्खी गई थीं। भोज के पीछे भी उदयादित्य, अर्जुनवर्मा आदि ने कई पुस्तकों को शिलाओं पर खुदवाकर वहां रखवाया, परंतु फिर वहां मुसलमानों का राज्य होने से उन्होंने उस विद्यामंदिर को तोड़कर उसके स्थान में मसजिद बनवा दी, जो अब 'कमाल मौला' नाम से प्रसिद्ध है, और उसके अंदर की पुस्तकादि खुदी हुई शिलाओं में से कइयों के अक्षर टांकियों से तोड़कर उनको फर्श में जड़ दीं, और कितनी एक को लगा दीं जो अब वहां से निकाल ली गई हैं। उनमें से दोनों कूर्मशतक और 'पारिजातमंजरी' नाटिकावाली शिलाएं प्रसिद्धि में आ चुकी हैं[१]।

यह राजा स्वयं विद्वान् और विद्वानों का गुणग्राहक था। विद्वानों को एक एक श्लोक की रचना पर लाख लाख रुपये देने की उसकी ख्याति अब तक चली आती है। भोजप्रबंध के कर्त्ता बल्लाल पंडित तथा प्रबंधचिंतामणि के कर्त्ता मेरुतुंग ने कालिदास, वररुचि, सुबंधु, बाण, अमर, राजशेखर, माघ, धनपाल, सीता पंडिता, मयूर, मानतुंग आदि अनेक विद्वानों का भोज की सभा में रहना तथा सम्मान पाना लिखा है, परंतु उनमें से कुछ तो भोज से बहुत पहले हुए थे इसलिये उनकी नामावली विश्वास योग्य नहीं है। धनपाल

अगम्यो यो नरेन्द्राणां सुधादीधितिसुन्दरः ।
जघ्ने यशश्चयो यश्च भोजेनावन्तिभूभुजा ॥ ६७ ॥

'पृथ्वीराजविजय'; सर्ग ५ ।

(१) 'कूर्मशतककाव्य', ए. इं; जि० ८, पृ० २४३-६०, और 'पारिजातमंजरी', ए. इं; जि० ८, पृ० १०१-२२ में छप चुकी है।

भोज के समय जीवित था और उसीके समय उसने तिलकमंजरी कथा की रचना की थी। आनंदपुर (गुजरात में) के रहनेवाले वज्रट के पुत्र ऊवट ने भोज के समय यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता पर भाष्य बनाया था।

ऊपर लिखी हुई सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला के अतिरिक्त भोज ने चित्तोड़ के क़िले में, जहां वह कभी कभी रहता था, त्रिभुवननारायण का विशाल शिवमंदिर बनवाया[1], जिसका जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में कराया था। इस समय उस मंदिर को अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर और मोकलजी का मंदिर भी कहते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि पद्मराज नामक पान बेचनेवाले ने, जो कश्मीर के राजा अनंतदेव का प्रीतिपात्र था, मालवे के राजा भोज के भेजे हुए सुवर्ण से कपटेश्वर (कोटेर, कश्मीर में) में एक कुंड बनवाया और राजा भोज ने यह नियम किया कि मैं अपना मुंह सदा 'पापसूदन' तीर्थ (कपटेश्वर के कुंड) के जल से धोऊंगा, इसलिये पद्मराज ने उस कुंड के जल से भरे हुए अनेक काच के कलश बराबर पहुंचाते रहकर भोज के उस कठिन प्रण को पूरा किया[2]। भोजपुर (भोपाल) की बड़ी विशाल झील भी, जिसको मालवे (मांडू) के सुलतान हुशंगशाह ने तुड़वाया, भोज की बनाई हुई मानी जाती है[3]।

भोज के समय के दो दानपत्र अब तक मिले हैं, जिनमें से बांसवाड़े का वि० सं० १०७६ (ई० स० १०१६) का, और दूसरा वि० सं० १०७८ (ई० स० १०२१) का है[4]। शक सं० ९६४ (वि० सं० १०९९) में भोज ने 'राजमृगांककरण'[5] लिखा और उसके उत्तराधिकारी जयसिंह का पहला लेख (दानपत्र) वि० सं० १११२ का है, इसलिये भोज का देहान्त वि० सं० १०९९ और १११२ के बीच किसी वर्ष हुआ होगा।

(१०) जयसिंह (सं० ९ का उत्तराधिकारी)—भोज की मृत्यु के [illegible]

(१) ना. प्र. प०; भाग ३, पृ० १–[illegible]।

(२) कल्हण; 'राजतरंगिणी'; [illegible] ७, श्लोक १९०–९३।

(३) इं. एं; जि० १७, पृ० ३५०–[illegible] [illegible]

(४) वि० सं० १०७६ का [illegible] इं. [illegible] जि० ११, पृ० १८२–[illegible] का इं० एं; जि० ६, पृ० ५३–[illegible] में [illegible] हुआ है।

(५) [illegible]

धारानगरी शत्रुओं के हाथ में थी, परंतु उनके लौट जाने पर जयसिंह मालवे का राजा हुआ। उसका एक दानपत्र वि० सं० ११११ (ई० स० १०५५) का मिला है[1], और एक शिलालेख वि० सं० १११६ का बांसवाड़ा राज्य के पाणाहेड़ा गांव के मंडलीश्वर के मंदिर में लगा हुआ है, जिसका अनुमान एक तिहाई अंश जाता रहा है। उसमें उक्त राजा की वीरता के वर्णन के साथ उसके सामंत वागड़ के परमार मंडलीक (मंडन) के विषय में लिखा है कि उसने बड़े बलवान दंडाधीश (सेनापति) कन्ह को पकड़कर उसके हाथी घोड़ों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया[2]। कन्ह किस राजा का सेनापति था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ। वि० सं० १११६ के पीछे जयसिंह अधिक काल तक राज करने न पाया हो ऐसा अनुमान होता है।

(११) उदयादित्य (सं० १० का उत्तराधिकारी)—जयसिंह के समय तक धारा के राज्य की स्थिति सामान्य ही पाई जाती है। उदयादित्य ने शत्रुओं का उपद्रव मिटाकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (तीसरे, वीसलदेव) की सहायता से अपने राज्य की उन्नति की और विग्रहराज के ही दिये हुए सारंग नाम के बड़े ताते तुरंग पर सवार होकर गुजरात के राजा कर्ण (भीमदेव के पुत्र) को जीता[3]। यह लड़ाई भीमदेव की चढ़ाई का बदला लेने को हुई होगी। भोज ने चौहान वीर्यराम को मारा था, परंतु उदयादित्य ने सांभर के चौहानों से मेल कर लिया हो यह संभव है[4]। उसने अपने नाम से उदयपुर नगर

(१) ए. इं; जि० ३, पृ० ४८-५०।

(२) येनादाय रणे कन्हं दंडाधीशं महाबलं।
अर्पितं जयसिंहाय साश्वं गजसमन्वितं ॥ ३६ ॥
पाणाहेड़ा का वि० सं० १११६ का शिलालेख (अप्रकाशित)।

(३) मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नतिः।
मन्दाकिनी ह्रदादेव लेभे पूरणमब्धिना ॥ ७६ ॥
सारंगाख्यं तुरङ्गं स ददौ तस्मै मनोजवम्।
नह्युच्चैश्रवसं क्षीरसिन्धोरन्यः प्रयच्छति ॥ ७७ ॥
जिगाय गूर्जरं कर्णं तमश्वं प्राप्य मालवः।....॥७८ ॥
'पृथ्वीराजविजय'; सर्ग ५।

(४) 'वीसलदेव रासा' नामक हिंदी काव्य में मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का

पर चढ़ाई की। जयसिंह के मंत्री सांतु ने यशोवर्मा से पूछा कि आप किस शर्त पर लौट सकते हैं? इस पर मालवराज ने उत्तर दिया कि यदि तुम जयसिंह की उक्त यात्रा का पुण्य मुझे दे दो तो मैं लौट जाऊं। सांतु ने वैसा ही कर उसको लौटा दिया[1]। प्रबंधचिंतामणि में मालवे के राजा का नाम यशोवर्मा लिखा है जो भूल है, वास्तव में यह चढ़ाई नरवर्मा की थी। सांतु की उक्त नीति से अप्रसन्न होकर ही जयसिंह ने नरवर्मा पर चढ़ाई की थी और वह क्रमशः उसका देश दवाता हुआ अंत में धारा तक जा पहुंचा था। बांसवाड़ा राज्य के तलवाड़ा गांव के एक मंदिर में गणपति की मूर्ति के आसन पर जयसिंह (सिद्धराज) के समय का लेख खुदा हुआ (विगड़ी हुई दशा में) है, जिसमें भीम, कर्ण और जयसिंह तक की वंशावली दी है और उसमें जयसिंह सिद्धराज का नरवर्मा को परास्त करने का उल्लेख है[2]। जयसिंह मालवे पर चढ़ा तब से लगाकर १२ वर्ष तक लड़ाई चलती रही। उसी अर्से में वि० सं० ११९० कार्तिक सुदि ८ को नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसका पुत्र यशोवर्मा मालवे की गद्दी पर बैठकर जयसिंह (सिद्धराज) से युद्ध करता रहा।

नरवर्मा विद्वान् राजा था। उसके समय की वि० सं० ११६१ (ई० स० ११०४) की नागपुर की प्रशस्ति उसकी रचना है। उदयादित्य के निर्माण किये हुए वर्णों तथा नामों एवं धातुओं के प्रत्ययों के नागबंध चित्र नरवर्मा ने ऊपर लिखे हुए स्थानों में खुदवाए थे। विद्या और दान में उसकी तुलना भोज से की जाती थी। उसके समय में भी मालवा विद्यापीठ समझा जाता था, और जैन तथा वेदमतावलंबियों के बीच शास्त्रार्थ भी हुए थे। जैन विद्वान् समुद्रघोष और वल्लभसूरि ने उसीसे सम्मान पाया था। उसके समय के दो शिलालेख मिले हैं जो वि० सं० ११६१ और ११६४ (ई० स० ११०४ और ११०७) के हैं[3]।

(१४) यशोवर्मा (सं० १३ का पुत्र)—उसके समय भी जयसिंह (सिद्ध-

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० १४२।

(२) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ४।

(३) वि० सं० ११६१ का नागपुर का प्रसिद्ध शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० १८२-८८) और ११६४ का मधुकरगढ़ से मिला (ए. इं; जि० १९ के ... लेखसंख्या ८२)।

राज) के साथ की लड़ाई चलती रही, अंत में हाथियों से धारा नगरी का दक्षिणी दरवाज़ा तुड़वाया गया और जयसिंह ने धारा में प्रवेश कर यशोवर्मा[1] को उसकी राणियों सहित क़ैद किया और १२ वर्ष की लड़ाई के उपरांत वह अपनी राजधानी को लौटा[2]। इस युद्ध में विजय पाकर जयसिंह ने 'अवंतिनाथ' विरुद धारण किया और मालवे के बड़े अंश पर उसका अधिकार हो गया। मेवाड़ का प्रसिद्ध चित्तोड़गढ़ तथा उसके पास का मालवे से मिला हुआ प्रदेश, जो मुंज के समय से मालवे के परमारों के राज्य में चला आता था, अब मालवे के साथ जयसिंह के अधीन हुआ। इसी तरह वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा) भी उसके हाथ आया। यह विजय वि० सं० ११६२ और ११६५ के बीच किसी वर्ष हुई होगी क्योंकि वि० सं० ११६२ मार्गशीर्ष वदि ३ का तो यशोवर्मा का दानपत्र[3]

(१) सिद्धराज जयसिंह की इस विजय के संबंध में गुजरात के प्राचीन इतिहास-लेखकों में मतभेद है। हेमचंद्र अपने 'द्व्याश्रयकाव्य' में (१४ । २०-७४), अरिसिंह अपने 'सुकृतसंकीर्तन' में (२ । २४-२५; ३४) और मेरुतुंग अपने 'प्रबंधचिंतामणि' में (पृ० १८४) मालवे के राजा यशोवर्मा को क़ैद करना मानते हैं, परंतु सोमेश्वर अपनी 'कीर्तिकौमुदी' में (२ । ३१-३२), जिनमंडनगणि अपने 'कुमारपालप्रबंध' में (पत्र ७ । १) और जयसिंहसूरि अपने 'कुमारपालचरित' में (१ । ४१) नरवर्मा को क़ैद करना बतलाते हैं। वास्तव में बात यह है कि सिद्धराज जयसिंह ने नरवर्मा के समय मालवे पर चढ़ाई की, उसका देश विजय करता हुआ आगे बढ़ता गया और १२ वर्ष तक लड़ते रहने पर यशोवर्मा के समय विजय प्राप्त हुई जैसा कि ऊपर तलवाड़े और उज्जैन के शिलालेखों से बतलाया गया है।

(२) *तत्र स्वजयकारपूर्वकं द्वादशवार्षिके विग्रहे संजायमानेऽद्य मया धारा-भङ्गानन्तरं०* ('प्रबंधचिंतामणि;' पृ० १४२-४३)।

कृत्वा विग्रहमुग्रसैन्यनिवहैर्यो द्वादशाब्दप्रमं
प्राग्द्वारं विदलय्य पट्टकरिणा भंक्त्वा च धारापुरीं ।....॥४१॥

जयसिंहसूरि का 'कुमारपालचरित'; सर्ग १।

कृत्वा विग्रहमुग्रमाग्रहवशाज्जग्राह धारां धरा-
धीशो द्वादशवत्सरैर्बहुतरं बिभ्रच्चिरं मत्सरम् ।....॥ २५ ॥
देशान्विजित्य तरणिप्रमितैः स वर्षैः
सिद्धाधिपो निजपुरं पुनराससाद ॥ ३८ ॥

चारित्रसुंदरगणि का 'कुमारपालचरित्र'; सर्ग १, वर्ग २।

(३) इं. एँ; जि० १९, पृ० ३४९।

मिल चुका है, और जयसिंह का एक शिलालेख उज्जैन की कमेटी (म्यूनिसिपलटी) में रक्खा हुआ मेरे देखने में आया जो पहले वहां के एक दरवाज़े में लगा था, जहां उसकी खुदी हुई बाज़ू भीतर की ओर थी जिससे दरवाज़ा गिराये जाने के समय उस लेख का पता लगा था। वह शिलालेख वि० सं० ११९५ ज्येष्ठ वदि १४ का है, जिसमें जयसिंह का मालवे के राजा यशोवर्मदेव (यशोवर्मा) को जीतना तथा उस समय अवंतिमंडल (मालवे) में उसकी तरफ़ से शासक (हाकिम) नागर जाति का महादेव होना लिखा है[1]। जयसिंह (सिद्धराज) का जीता हुआ मालवे का राज्य उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल तक गुजरात के सोलंकियों के अधीन रहा, परंतु कुमारपाल के अयोग्य उत्तराधिकारी अजयपाल के मारे जाने पर मालवे के परमार फिर स्वतंत्र हो गये। यशोवर्मा के दो दानपत्र मिले हैं जो वि० सं० ११९१[2] और ११९२[3] के हैं। उसके तीन पुत्र जयवर्मा, अजयवर्मा और लक्ष्मीवर्मा थे।

(१५) जयवर्मा (सं० १४ का पुत्र)—वह नाममात्र का राजा या गुजरात के सोलंकियों की अधीनता में रहा होगा। उसका नाम कहीं कहीं ताम्रपत्रों में छोड़ भी दिया है।

(१६) अजयवर्मा (सं० १५ का छोटा भाई)—वह अपने बड़े भाई का उत्तराधिकारी हुआ हो या उसका राज्य उसने छीना हो। उसके समय से मालवे के परमारों की दो शाखें हो गईं, बड़ी शाखावाले अपने को मालवे के स्वामी मानते रहे और छोटी शाखावाले 'महाकुमार' कहलाते थे। महाकुमार

(१) *सं० ११९५ ज्येष्ठ व १४ गुरावद्येह श्रीमदणहिलपाटका-*
वस्थितमहाराजाधिराजपरमेश्वरत्रिभुवनगण्डसिद्धचक्रवर्ति-
अवंतीनाथबर्बरकजिष्णुश्रीजयसिंहदेवविजयराज्ये.......
मालवराजश्रीयशोवर्मनामानं च जित्वा
श्रीमदवंतीमंडले.........तन्निरूपितनागरकुलान्वये......
श्रीमहादेव(वो) मालवव्यापारं कुर्वति...............
(उज्जैन का शिलालेख, अप्रकाशित)।

(२) महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव के वि० सं० १२०० के दानपत्र में [illegible] वि० सं० ११९१ के दान का उल्लेख है (इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३५२)।

(३) इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३४९ ।

उदयवर्मा के वि० सं० १२५६ के दानपत्र में लिखा है कि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर जयवर्मा का राज्य अस्त होने (छूटने) पर महाकुमार लक्ष्मीवर्मा ने अपनी तलवार के बल से अपना राज्य जमाया'[1]। इससे अनुमान होता है कि अजयवर्मा ने जयवर्मा का राज्य छीना उस समय लक्ष्मीवर्मा जयवर्मा के पक्ष में रहा हो और कुछ इलाक़ा दबा बैठा हो। महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा के दानपत्र में जयवर्मा की कृपा से उसका राज्य पाना लिखा है जो ऊपर के कथन की पुष्टि करता है। हम यहां पर मालवे के परमारों की दोनों शाखाओं का संबंध नीचे लिखे हुए वंशवृक्ष में बतलाकर छोटी शाखा का परिचय पहले देंगे, तदनंतर बड़ी शाखा का।

(१४) यशोवर्मा
- (१५) जयवर्मा
- (१६) अजयवर्मा
  - (१७) विंध्यवर्मा
    - (१८) सुभटवर्मा
      - (१९) अर्जुनवर्मा
- म० कु० लक्ष्मीवर्मा
  - म० कु० हरिश्चन्द्रवर्मा
    - म० कु० उदयवर्मा
    - (२०) देवपाल

महाकुमार लक्ष्मीवर्मा का एक दानपत्र वि० सं० १२०० (ई० स० ११४३) श्रावण सुदि १५ का मिला है[2]। उसके पुत्र महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का एक दानपत्र पीपलिया नगर (भोपाल राज्य में) से मिला है जिसमें दो दानों का उल्लेख है; एक वि० सं० १२३५ पौष वदि अमावास्या को और दूसरा वि० सं० १२३६ वैशाख सुदि १५ को दिया गया था[3]। उसके पुत्र महाकुमार उदयवर्मा का दानपत्र वि० सं० १२५६ वैशाख सुदि १५ का मिला है[4]। वि० सं० १२७२ तक बड़ी शाखा का राजा अर्जुनवर्मा विद्यमान था, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। उसके निःसंतान मरने पर उदयवर्मा का भाई देवपाल मालवे का राजा हो गया। अब आगे बड़ी शाखा का परिचय दिया जाता है।

---

(१) इं. ऐं; जि० १६, पृ० २५४।
(२) इं. ऐं; जि० १६, पृ० ३५२–५३।
(३) बंगा. ए. सो. ज; जि० ७, पृ० ७३६।
(४) इं. ऐं; जि० १६, पृ० २५४–५५।

(१७) विंध्यवर्मा (सं० १६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय से ही गुजरात का राज्य शिथिल होने लगा था और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में उसके मरने पर उसका बालक पुत्र मूलराज (बालमूलराज) गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठा और दो वर्ष राज्य कर वि० सं० १२३५ (ई० स० ११७८) में मर गया। उसके पीछे उसका छोटा भाई भीमदेव (दूसरा) बाल्यावस्था में ही गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा। तब ही से गुजरात के राज्य की दशा बिगड़ती गई और सामंत लोग स्वतंत्र होते गये। उसके राज्य की अवनति के समय विंध्यवर्मा गुजरात से स्वतंत्र हो गया हो, यह संभव है। वि० सं० १२७२ के अर्जुनवर्मा के दानपत्र में विंध्यवर्मा को वीरमूर्धन्य (वीरों का अग्रणी) और गुजरातवालों का उच्छेद करनेवाला कहा है[१]। सोमेश्वर कवि अपने 'सुरथोत्सव' काव्य में गुजरात के सेनापति से पराजित होकर राजा विंध्यवर्मा का रणखेत छोड़ जाना और उक्त सेनापति का गोगास्थान नामक पत्तन को तोड़ना तथा वहां महल के स्थान पर कुआ खुदवाना लिखता है[२]। विंध्यवर्मा भी विद्यानुरागी था। उसका सांधिविग्रहिक बिल्हण कवि (कश्मीरी बिल्हण से भिन्न) था। सपादलक्ष (अजमेर के चौहानों के अधीन का देश) के अंतर्गत मंडलकर (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य में) का रहनेवाला जैन पंडित आशाधर सपादलक्ष पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने तथा उनके अत्याचार के कारण अपना निवास-स्थान छोड़कर विंध्यवर्मा के समय मालवे में जा रहा और उक्त बिल्हण पंडित से उसकी मैत्री हुई[३]।

---

(१) *तस्मादजयवर्माभूज्जयश्रीविश्रुतः सुतः ॥*
तत्सूनुर्वीरमूर्द्धन्यो धन्योत्पत्तिरजायत ।
गुर्जरोच्छेदनिर्बंधी विंध्यवर्मा महासुतः ॥
अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल; जि० ७, पृ० ३२–३३।

(२) *धाराधीशे विन्ध्यवर्मण्यवन्ध्यक्रोधाध्माते ऽप्याजिमुत्सृज्य याते ।*
गोगस्थानं पत्तनं तस्य भङ्क्त्वा सौधस्थाने खानितो येन कूपः ॥३६॥
'सुरथोत्सव'; सर्ग १५।

(३) आशाधर के 'धर्मामृतशास्त्र' के अंत की प्रशस्ति; श्लोक १–७।

(१६) सुभटवर्मा (सं० १७ का पुत्र)—उसको सोहड़ भी कहते थे जो सुभट का प्राकृत रूप है। उसके समय मालवे के परमार स्वतंत्र हुए हों इतना ही नहीं किंतु गुजरात पर चढ़ाई करने को भी समर्थ हो गये थे। 'प्रबंधचिंतामणि' में लिखा है कि गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे, भोलाभीम) के समय मालवे के राजा सोहड़ (सुभटवर्मा) ने गुजरात को नाश करने की इच्छा से उसपर चढ़ाई कर दी, परंतु भीमदेव के मंत्री ने उसको समझाकर लौटा दिया[1]। 'कीर्ति-कौमुदी' से पाया जाता है कि धारा के राजा (सुभटवर्मा) ने गुजरात पर चढ़ाई की जिसको बघेल लवणप्रसाद ने लौटा दिया। लवणप्रसाद भीमदेव का सामंत था और उसके राज्य की बिगड़ी हुई दशा में गुजरात के राज्य का कुल काम उसीकी इच्छा के अनुसार होता था। अर्जुनवर्मा के दानपत्र में सुभटवर्मा के प्रताप की दावाग्नि का गुजरात में जलने का जो उल्लेख है[2], उसकी पुष्टि ऊपर लिखे हुए गुजरातवालों के दोनों कथनों से होती है।

(१९) अर्जुनवर्मा (सं० १८ का पुत्र)—उसके वि० सं० १२७२ के दान-पत्र में लिखा है कि उसने बाललीला समान युद्ध में जयसिंह को भगाया था[3]। उसके राजगुरु मदन (बालसरस्वती) की रची हुई 'पारिजातमंजरी' (विजयश्री) नाटिका से उसका गुजरात के राजा जयसिंह के साथ पर्व-पर्वत (पावागढ़) के पास युद्ध होना पाया जाता है जिसमें जयसिंह भाग गया था। गुजरात के निर्बल राजा भीमदेव (दूसरे) से उसका राज्य उसके कुटुंबी जयसिंह ने कुछ काल के लिये छीन लिया था, वही जयसिंह अर्जुनवर्मा से हारा होगा। उसका एक दानपत्र वि० सं० १२८० का[4] मिल चुका है, जिसमें उसका नाम जयंतसिंह लिखा है जो जयसिंह का रूपान्तरमात्र है।

---

(१) 'प्रबंधचिंतामणि'; पृ० २४६।

(२) भूपः सुभटवर्म्मेति धर्म्मे तिष्ठन्महीतलम् ॥
यस्य ज्वलति दिग्जेतुः प्रतापस्तपनद्युतेः ।
दावाग्निसुमनाद्यापि गर्जन्गुर्जरपत्तने ॥
बंगा. ए. सो. ज; जि० ५, पृ० ३७८–७९।

(३) बाललीलाहवे यस्य जयसिंहे पलायिते ।
जर्नल आफ़ दी अमेरिकन् ओरिएंटल् सोसाइटी; जि० ७, पृ० २५–२७।

(४) इं. एं; जि० ६, पृ० १६६–६८।

'प्रबंधचिन्तामणि' में लिखा है कि राजा भीमदेव (दूसरे) के समय अर्जुनवर्मा ने गुजरात का नाश किया था[1]। अर्जुनवर्मा विद्वान्, कवि और गानाविद्या में निपुण था। उसके समय के तीन दानपत्र मिले हैं जिनमें से एक वि० सं० १२६७ फाल्गुन सुदि १० का मंडपदुर्ग (मांडू) से दिया हुआ, दूसरा वि० सं० १२७० वैशाख वदि अमावास्या का भृगुकच्छ (भड़ौच, गुजरात में) से और तीसरा वि० सं० १२७२ भाद्रपद सुदि १५ का रेवा (नर्मदा) और कपिला के संगम पर अमरेश्वर तीर्थ से दिया हुआ है। इन तीनों दानपत्रों की रचना राजगुरु मदन ने ही की थी। पहले दो ताम्रपत्रों के लिखे जाने के समय अर्जुनवर्मा का महासांधिविग्रहिक बिल्हण पंडित था, परंतु तीसरे दानपत्र के समय उस पद पर राजा सलखण था। उसके मंत्री का नाम नारायण था। अर्जुनवर्मा का देहान्त वि० सं० १२७२ और १२७५ के बीच किसी वर्ष हुआ होगा, क्योंकि वि० सं० १२७५ मार्गशीर्ष सुदि ५ के हरसोड़ा गांव (मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में) से मिले हुए देवपाल के समय के शिलालेख में उस (देवपाल) को धारानगरी का राजा, परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर कहा है।

(२०) देवपाल (सं० १६ का कुटुंबी)—अर्जुनवर्मा के पुत्र न होने से उसके पीछे छोटी शाखा के वंशधर महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का दूसरा पुत्र देवपाल मालवे का राजा हुआ। उसका उपनाम (विरुद) 'साहसमल्ल' था। उसके समय के तीन शिलालेख और एक दानपत्र मिला है। पहला शिलालेख वि० सं० १२७५ का[2] ऊपर लिखा हुआ हरसोड़ा गांव का और दो उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) से मिले हैं जो वि० सं० १२८६[3] और १२८६[4] के हैं। उसका एक दानपत्र मांधाता से भी मिला है जो वि० सं० १२९२ भाद्रपद सुदि १५ का है[5]। उसके समय हिजरी सन् ६२६ (वि० सं० १२८८-८६) में दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर चढ़ाई कर साल भर की लड़ाई के बाद

(१) 'प्रबंधचिंतामणि', पृ० २५० ।
(२) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ३११ ।
(३) वही; जि० २०, पृ० ८३ ।
(४) वही; जि० २०, पृ० ८३ ।
(५) ए. इं; जि० ६, पृ० १०८-१३ ।

ग्वालियर को विजय किया, फिर भेलसा और उज्जैन लिया और उज्जैन में महाकाल के मंदिर को तोड़ा, परंतु मालवे पर सुलतान का क़ब्ज़ा न हुआ। सुलतान के लूटमार कर चले जाने पर वहां का राजा देवपाल ही रहा[1]। देवपाल के समय आशाधर पंडित ने वि० सं० १२८५ में नलकच्छपुर (नालछा, धार से २० मील) में रहते समय 'जिनयज्ञकल्प' तथा वि० सं० १२९२ में 'त्रिषष्टिस्मृति' नाम की पुस्तकें रचीं और वि० सं० १३०० में सटीक 'धर्मामृतशास्त्र' की रचना की जब कि मालवे का राजा जयतुगिदेव था[2]; अतएव देवपाल की मृत्यु वि० सं० १२९२ और १३०० के बीच किसी समय हुई होगी। उसके दो पुत्र जयतुगिदेव और जयवर्मा थे जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए।

(२१) जयतुगिदेव (सं० २० का पुत्र)—उसको जयसिंह और जैत्रमल्ल भी कहते थे। उसके समय का एक शिलालेख राहतगढ़ से (वि० सं० १३१२ का[3]) और दूसरा (वि० सं० १४ अर्थात् १३१४ का, जिसमें शताब्दी के अंक छोड़ दिये गये हैं) कोटा राज्य के अटू नामक स्थान से मिला है[4]। मेवाड़ का गुहिलवंशी राजा जैत्रसिंह अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) में जयतुगिदेव से लड़ा था[5]। उसका देहांत वि० सं० १३१४ में हुआ।

(२२) जयवर्मा दूसरा (सं० २१ का छोटा भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३१४ माघ वदि १ का, और एक दानपत्र वि० सं० १३१७

---

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० २१०–११।

(२) पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमां ॥ २८ ॥

प्रमारवंशवार्द्धीदुदेवपालनृपात्मजे।

श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नावंतीनवत्यलं ॥ ३० ॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेसिधत्।

विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति।

श्वेतांबर जैन साधुओं में जैसे अनेक ग्रंथों के रचयिता हेमचंद्राचार्य हुए वैसे ही दिगंबर जैनों में आशाधर पंडित ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की।

(३) इं. एं; जि० २०, पृ० ८४।

(४) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १८२ का टिप्पण ६।

(५) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १३२–३४।

ज्येष्ठ सुदि ११ का[1] मंडप दुर्ग (मांडू) से दिया हुआ मिला है, जिसमें उसके सांधिविग्रहिक का नाम मालाधर पंडित और महाप्रधान का नाम राजा अजयदेव होना लिखा है।

(२३) जयसिंह तीसरा (सं० २२ का उत्तराधिकारी)—वि० सं० १३४५ के कवालजी के कुंड (कोटा राज्य में) के शिलालेख में, जो रणथंभोर के प्रसिद्ध चौहान राजा हंमीर के समय का है, लिखा है कि जैत्रसिंह (हंमीर के पिता) ने मंडप (मांडू) में रहे हुए जयसिंह को वार वार सताया, मालवे के उस राजा के सैकड़ों योद्धाओं को झंपाइथा घट्ट (झपायता के घाटे) में हराया और उनको रणस्तंभपुर (रणथंभोर) में क़ैद रक्खा[2]। जयसिंह (तीसरे) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १३२६ वैशाख सुदि ७ का मिला है[3]।

(२४) अर्जुनवर्मा दूसरा (सं० २३ का उत्तराधिकारी)—उपर्युक्त कवालजी के कुंड के शिलालेख में रणथंभोर के चौहान राजा हंमीर के विषय में लिखा है कि उसने युद्ध में अर्जुन (अर्जुनवर्मा) को जीतकर बलपूर्वक उससे मालवे की लक्ष्मी को छीन लिया[4]। 'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की गद्दीनशीनी का संवत् १३३९ और 'प्रबंधकोष' के अंत की वंशावली में १३४२ दिया है। कवालजी के कुंडवाला शिलालेख वि० सं० १३४५ का है, इसलिये हंमीर ने वि० सं० १३३९ (या १३४२) और १३४५ के बीच अर्जुन (अर्जुनवर्मा) से मालवा या रणथंभोर के राज्य से मिला हुआ मालवे का कुछ अंश छीना होगा।

---

(१) ए. इं; जि० ९, पृ० १२०–२३।

(२) ततोभ्युदयमासाद्य जैत्रसिंहरविर्नवः।
आपि मंडपमध्यस्थं जयसिंहमतीतपत् ॥ ७ ॥
येन झंपाइथाघट्टे मालवेशभटाः शतं।
व(ब)द्धा रणस्तंभपुरे क्षिप्ता नीताश्च दासतां ॥ ८ ॥

कवालजी के कुंड की प्रशस्ति की छाप से।

(३) ए. इं; जि० ५ का परिशिष्ट, लेखसंख्या २३२।

(४) सां(सा)म्राज्यमाज्यपरितोषितहव्यवाहो
हंमीरभूपतिरविंद(द)त [illegible] ॥ १० [॥]
निर्ज्जित्य येनार्जुन[illegible]

कवालजी के कुंड की

(२५) भोज दूसरा (सं० २४ का उत्तराधिकारी)—'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की विजययात्रा के वर्णन में लिखा है कि मंडलकृत् दुर्ग (मांडू का क़िला) लेकर वह शीघ्र ही धारा को पहुंचा और परमार भोज को, जो दूसरे भोज के तुल्य था, नमाया[१]। यदि इस कथन में सत्यता हो तो इस घटना का कवालजी के कुंडवाले लेख के खुदे जाने (वि० सं० १३४५) और हंमीर की मृत्यु (वि० सं० १३५८) के बीच किसी वर्ष में होना संभव है। धार में अब्दुल्लाशाह चंगाल की क़बर के दरवाज़े में एक फारसी शिलालेख लगा हुआ है जिसमें चंगाल की प्रशंसा के साथ यह भी लिखा है कि उस क़बर के ऊपर के गुंबज की, जो अलाउद्दीन ग़ोरी ने बनवाया था, महमूदशाह ख़िलजी ने मरम्मत करवाई। यह क़बर हिजरी सन् ८५७ (वि० सं० १५१०) में बनी थी। उसमें यह भी लिखा है कि राजा भोज उस(चंगाल)की करामात देखकर मुसलमान हो गया था[२]। भोज (प्रथम) के समय तो मालवे में मुसलमान आये भी नहीं थे, संभव है कि पिछले अर्थात् दूसरे भोज की स्मृति होने के कारण पीछे से शिलालेख तैयार करनेवाले ने उक्त भोज के मुसलमान होने की कल्पना खड़ी कर ली हो।

(२६) जयसिंह चौथा (सं० २५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख उदयपुर (ग्वालियर राज्य में) से मिला है जो वि० सं० १३६६ श्रावण वदि १२ का है[३]। उसके अंतिम समय के आसपास क्रमशः सारा मालवा मुसलमानों के अधीन हो गया, जिससे हिन्दू राजा उनके सरदारों की स्थिति में रह गये, परंतु समय पाकर वे लड़ते भी रहे थे।

जलालुद्दीन फीरोज़शाह खिलजी ने हि० स० ६९० (वि० सं० १३४८) में उज्जैन को लिया और वहां के कई मंदिरों को तोड़ा[४]। दो वर्ष बाद फिर उसने मालवे पर चढ़ाई कर उसे लूटा और उसके भतीजे अलाउद्दीन ने भेलसा फतह कर मालवे का पूर्वी हिस्सा भी जीत लिया। अनुमान होता है कि मुहम्मद तुग़लक के समय मालवे के परमार-राज्य का अंत हुआ। 'मिराते

(१) 'हंमीरमहाकाव्य'; सर्ग ९, श्लोक १८—१९।

(२) बंब. ए. सो. ज; ई० स० १९०५ का एक्स्ट्रा नंबर, पृ० ३५२।

(३) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ८४।

(४) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३०१। इलियट; हिस्टरी ऑफ इंडिया; जि० ३, पृ० १४७।

सिकंदरी' से पाया जाता है कि मुहम्मद तुग़लक ने हि० स० ७४४ (वि० सं० १४००) के आसपास मालवे का सारा इलाक़ा अज़ीज़ हिमार के सुपुर्द किया, जो पहले केवल धार का हाकिम नियत किया गया था।

मालवे के परमारों का राज्य मुसलमानों के हस्तगत होने पर वहां की एक शाखा अजमेर ज़िले में आ बसी। उस शाखावालों का एक शिलालेख पीसांगण के तालाव की पाल पर खड़ा हुआ है, जो वि० सं० १५३२ का है[1]। उसमें लिखा है कि जिस परमार वंश में मुंज और भोज हुए उसी वंश में हंमीरदेव हुआ; उसका पुत्र हरपाल और हरपाल का महीपाल (महपा) और उसका पुत्र रघुनाथ (राघव) था। रघुनाथ की राणी राजमती ने, जो वाहड़मेर के राठोड़ दुर्जनशल्य (दुर्जनसाल) की पुत्री थी, यह तालाव बनवाया। ऊपर लिखा हुआ महीपाल (महपा) मेवाड़ के महाराणा मोकल के मारनेवाले 'चाचा' और 'मेरा' से मिल गया था; जब राठोड़ राव रणमल्ल ने चाचा व मेरा को मारा तब महपा भागकर मांडू के सुलतान के पास चला गया। फिर उसने महाराणा कुंभा से अपना अपराध क्षमा कराया और वह उनकी सेवा में रहने लगा। राव रणमल्ल को मारने में भी महपा शामिल था। उक्त लेख के रघुनाथ (राघव) का बेटा कर्मचंद था जिसके यहां मेवाड़ का महाराणा सांगा अपने कुंवरपदे के आपत्तिकाल में रहा था। कर्मचंद के जगमल्ल आदि पुत्र थे। कर्मचंद की पत्नी रामादेवी ने वि० सं० १५८० आश्विन सुदि ५ को अपने नाम से रामासर (रामसर गांव में) तालाव बनवाया, ऐसा उक्त तालाव के लेख से[2] पाया जाता है। पहले उक्त गांव का नाम अंबासर होना बतलाते हैं, परंतु रामासर तालाव के बनने के पीछे वह गांव रामसर कहलाया।

मालवे के परमार राजा वाक्पतिराज के दूसरे पुत्र डंबरसिंह के वंश में वागड़ के परमार हैं। उनके अधिकार में बांसवाड़ा और डूंगरपुर के राज्य थे।

वागड़ के परमार

इस शाखावालों के कई शिलालेख मिले हैं जिनमें से दो में उनकी वंशावली दी है। अर्थूणा से मिले हुए वि० सं० १२३६ के चामुंडराज के शिलालेख से पाया जाता है कि इस शाखा का मूलपुरुष

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९११-१२ की *रिपोर्ट*; पृ० २, लेखसंख्या २।

(२) मूल लेख की छाप से।

डंबरसिंह मालवे के राजा वैरिसिंह (प्रथम) का छोटा भाई था। उसके वंश में कंकदेव हुआ[1] जो मालवे के राजा श्रीहर्ष (सीयक) के समय कर्णाट के राजा (खोट्टिगदेव, राठोड़) के साथ के युद्ध में मारा गया। वि० सं० ११६६ के पाणाहेड़ा के लेख में डंबरसिंह का नाम नहीं दिया है, उसमें वंशावली धनिक से प्रारंभ होती है। धनिक के भाई का पुत्र चच्च हुआ। उसके पुत्र (कंकदेव) का खोट्टिगदेव के साथ की लड़ाई में मारा जाना उक्त लेख से पाया जाता है। इन दोनों तथा अन्य लेखों के अनुसार वागड़ के परमारों की नामावली नीचे लिखी जाती है।

(१) डंबरसिंह (वाक्पतिराज का पुत्र)।

(२) धनिक (संख्या १ का उत्तराधिकारी)—उसने महाकाल के मंदिर के पास धनेश्वर का मंदिर बनवाया[2]।

(३) चच्च (संख्या २ का भतीजा[3])।

(४) कंकदेव (सं० ३ का उत्तराधिकारी या पुत्र)—वह हाथी पर चढ़कर मालवराज श्रीहर्ष के शत्रु कर्णाट के राजा खोट्टिगदेव की सेना का संहार करता हुआ नर्मदा के किनारे मारा गया। यह लड़ाई खलिघट्ट नामक स्थान में हुई, ऐसा पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य में) से मिले हुए मालवे के परमार राजा जयसिंह (प्रथम) और वागड़ के सामंत मंडलीक के समय के वि० सं०

---

(१) *तस्यान्वये क्रमवशादुदपादिवीरः श्रीवैरिसिंह इति संभृतसिंहनादः।...॥*
तस्यानुजो डम्ब(म्ब)रसिंह इति प्रचंडदोर्दंडचंडिमवशीकृतवैरिवृंदः।...॥
तस्यान्वये करिकरोद्धरबा(बा)हुदण्डः श्रीकंकदेव इति लब्ध(ब्ध)जयो ब(ब,भू)व।
अर्थूणा के लेख की छाप से।

(२) *अत्रासीत्परमारवंशविततो लब्धा(ब्धा)न्वयः पार्थिवो*
नाम्ना श्रीधनिको धनेश्वर इव त्यागैककल्पद्रुमः।...॥ २६ ॥
श्रीमहाकालदेवस्य निकटे हिमपांडुरं।
श्रीधनेश्वर इत्युच्चैः कीर्तनं यस्य राजते ॥ २७ ॥
पाणाहेड़ा के शिलालेख की छाप से।

(३) *चच्चनामाभवत्तस्माद्भ्रातृसूनुर्महानृपः।...॥*
पाणाहेड़ा के लेख की छाप से।

१११६ के शिलालेख से पाया जाता है[1]।

(५) चंडप (सं० ४ का पुत्र)।

(६) सत्यराज (सं० ५ का पुत्र)—उसका वैभव राजा भोज ने बढ़ाया और वह गुजरातवालों से लड़ा था। उसकी स्त्री राजश्री चौहान वंश की थी[2]।

(७) लिंबराज (सं० ६ का पुत्र)।

(८) मंडलीक (सं० ७ का छोटा भाई)—उसको मंडनदेव भी कहते थे। वह मालवे के परमार राजा भोज और जयसिंह (प्रथम) का सामंत था। उसने बड़े बलवान सेनापति कन्ह को पकड़कर उसके घोड़ों और हाथियों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया और अपने नाम से पाणाहेडा गांव में मंडलेश्वर का मंदिर वि० सं० १११६ (ई० स० १०५६) में बनवाया[3]।

(९) चामुंडराज (सं० ८ का पुत्र)—उसने वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७६) में अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य में) गांव में मंडलेश्वर का शिवमंदिर बनवाया जिसके शिलालेख से पाया जाता है कि उसने सिंधुराज को नष्ट किया। सिंधुराज से अभिप्राय या तो सिंध के राजा या उक्त नाम के राजा से हो, परंतु उसका ठीक पता नहीं लगा। उसने अपने पिता मंडलीक (मंडनदेव) के नाम से मंडनेश (मंडलेश्वर) नामक शिवालय और मठ बनवाया। उसके समय के चार शिलालेख अर्थूणा से मिले हैं जो वि० सं० ११३६[4], ११३७[5], ११५७[6] और ११५६[7] के हैं।

(१०) विजयराज (सं० ९ का पुत्र)—उसका सांधिविग्रहिक वालभ जाति के कायस्थ राजपाल का पुत्र वामन था। उसके समय के दो शिलालेख

(१) देखो ऊपर पृ० १८५ और उसका टिप्पण १।

(२) पाणाहेड़ा का शिलालेख, श्लो० ३२।

(३) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१६-१७ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या २।

(४) वही; ई० स० १९१४-१५, पृ० २, लेखसंख्या १।

(५) वही; ई० स० १९१४-१५, पृ० २, लेखसंख्या २।

(६) इस शिलालेख का ऊपर का आधा अंश राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है (इसका नीचे का आधा अंश, जो पहले विद्यमान था, नहीं मिला)।

(७) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ३।

वि० सं० ११६५[1] और ११६६[2] (ई० स० ११०८ और ११०६) के मिले हैं। विजयराज के वंशजों के नामों का पता नहीं लगा क्योंकि विजयराज के पीछे का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला है। वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७६) से कुछ पूर्व मेवाड़ के गुहिल राजा सामंतसिंह ने मेवाड़ का राज्य छूट जाने पीछे वागड़ के बड़ौदे पर अपना अधिकार जमाया; फिर उसने तथा उसके वंशजों ने क्रमशः सारा वागड़ इन परमारों से छीन लिया। अब वागड़ के परमारों के वंश में सौंथ (महीकांठा इलाक़ा, गुजरात) के राजा हैं।

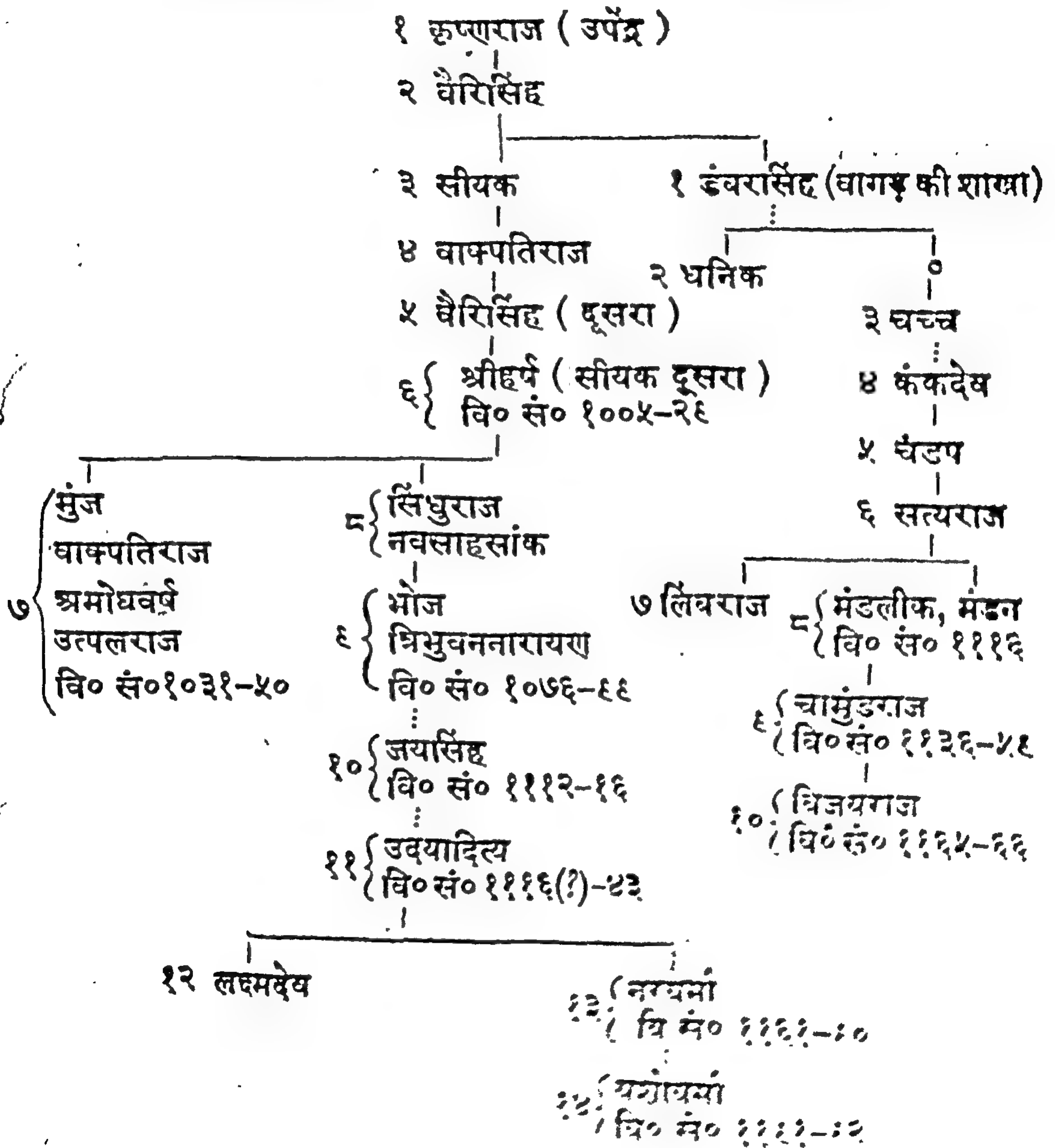
वागड़ के परमारों की राजधानी उत्थूणक नगर (अर्थूणा) थी। अब तो वह प्राचीन नगर नष्ट हो गया है और उसके पास अर्थूणा गांव नया बसा है, परंतु परमारों के समय में वह बड़ा वैभवशाली नगर था। अब भी वहां कई एक बड़े बड़े मंदिर खड़े हैं और कई एक को गिराकर उनके द्वार आदि को लोग उठा ले गये, जो दूर दूर के गांवों के नये मंदिरों में लगे हुए देखने में आये हैं। अर्थूणा गांव का नया जैन मंदिर भी, वहीं के पुराने मंदिरों से स्तंभ आदि लाकर खड़ा किया गया है।

---

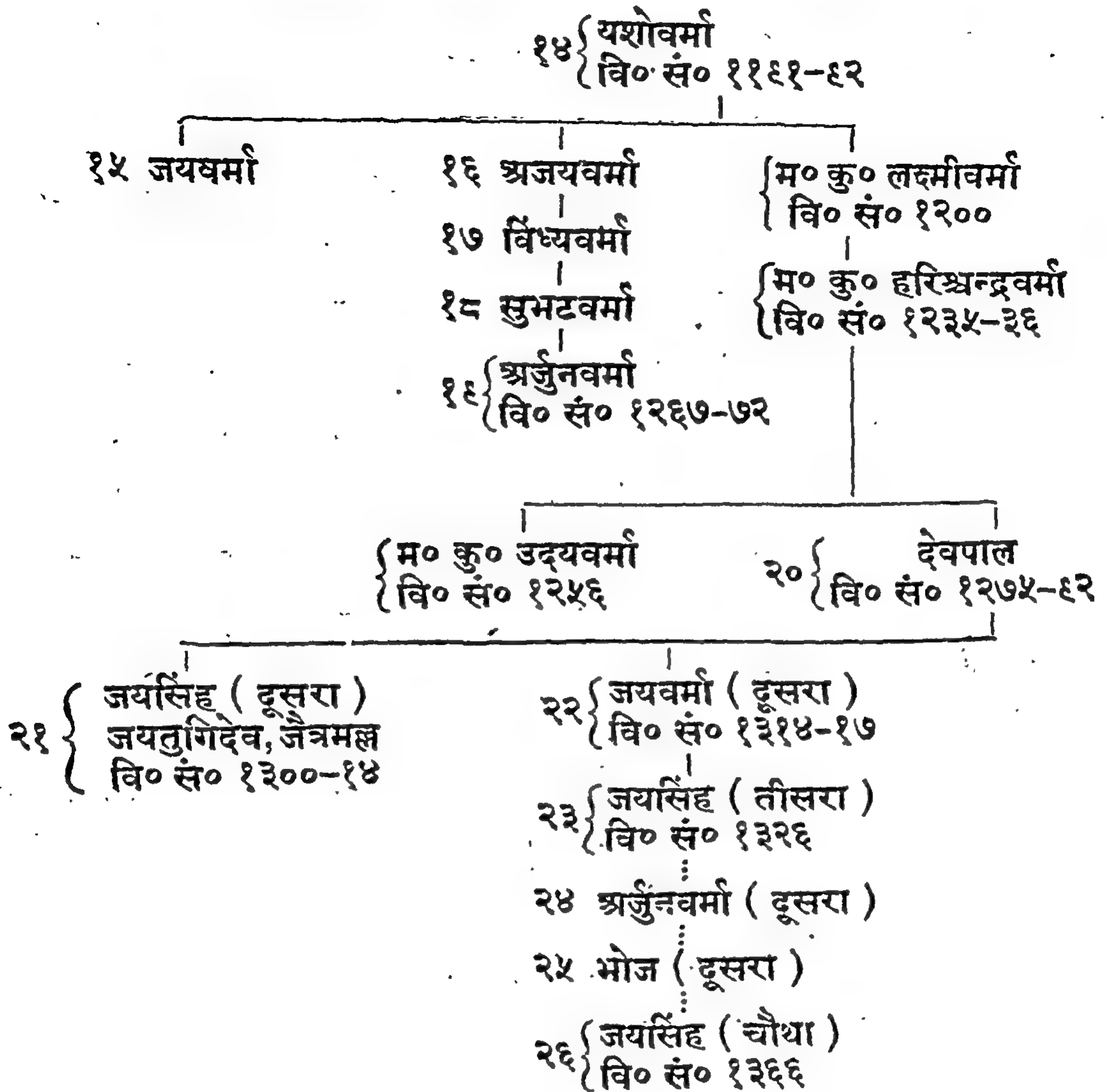
(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१७-१८ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या २।

(२) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

मालवे और वागड़ के परमारों का वंशवृक्ष ।



मालवे के परमारों का वंशवृक्ष (अवशेष)



मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में परमारों की नीचे लिखी हुई ३५(३६) शाखाएं दी हैं—

१-पंवार (परमार) । २-सोढ़ा । ३-सांखला । ४-भाभा । ५-भायल । ६-पेस । ७-पाणीसवल । ८-वहिया । ९-वाहल । १०-छाहड़ । ११-मोटसी । १२-हुवड़ (हुरड़) । १३-सीलोरा । १४-जैपाल । १५-कंगवा । १६-काया । १७-ऊंमट । १८-धांधु । १९-धुरिया । २०-भाई । २१-कछोड़िया । २२-काला । २३-कालमुहा । २४-खेरा । २५-खूंटा । २६-ढल । २७-ढेखल । २८-जागा ।

२६–हूंठा। ३०–गूंगा। ३१–गेहलड़ा। ३२–कलीलिया। ३३–कूंकरण। ३४–पीथलिया। ३५–डोडा। ३६–बारड़[1]।

इन शाखाओं में से अब मुख्य परमार, सोढ़ा, सांखला, ऊमट और बारड़ हैं। नैणसी के कथन से मालूम होता है कि किराडू ('आबू) के राजा धरणीवराह का पुत्र छाहड़ हुआ जिसके तीन पुत्र सोढ़ा, सांखला और बाघ थे। सोढ़ा से सोढ़ा शाखा और सांखला से सांखला शाखा चली। ऊमट शाखा किससे चली यह अनिश्चित है; परंतु उस शाखा के राजगढ़ के राजाओं की जो वंशावली भाटों ने लिखाई वह विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें पहले के नाम बहुधा कृत्रिम धरे हुए हैं और संवत् भी अशुद्ध हैं, जैसे कि मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का वि० सं० ३६३ श्रावण वदि १४ को गद्दी बैठना आदि। इसी तरह भोज के वंशजों की जो नामावली दी है वह भी कृत्रिम ही है। उक्त वंशावली में भोज से नवीं पीढ़ी में धरतीदरहाक राजा का नाम दिया है जो आबू का प्रसिद्ध धरणीवराह होना संभव है। भाटों ने ऊमट शाखा को धरणीवराह के वंशज उमरसुमरा (सिंध के राजाओं) की शाखा में बतलाया है जो विश्वास के योग्य नहीं है। संभव है कि धरणीवराह के ऊमट नामक किसी वंशधर से ऊमट शाखा चली हो। बारड़ शाखा किससे चली यह भी अनिश्चित है। बारड़ शाखा में इस समय दांता के महाराणा हैं जो आबू के परमार राजा धंधुक के

---

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र २१।२। नैणसी ने जो ३५ शाखाओं के नाम दिये हैं उनमें से अधिकतर का तो अब पता ही नहीं चलता। भाटों की भिन्न भिन्न पुस्तकों में दिये हुए इन शाखाओं के नाम भी परस्पर नहीं मिलते। वंशभास्कर में भी परमारों की ३५ शाखाएं होना लिखा है, परंतु उसमें दिये हुए १७ नाम नैणसी से नहीं मिलते, जो ये हैं–डाभी, हूण, सामंत, सुजान, कुंता, सरवडिया, जोरवा, नल, मयन, पोसवा, सालाउत, रब्बडिया, थलवा, सिंघण, कुरड, उल्लंगा और बावला ('वंशभास्कर'; प्रथम भाग, पृ० ४६७–६८)। 'वंशभास्कर' में परमार से लगाकर शिवसिंह तक २१४ पीढ़ियां लिखी हैं। उनमें अंत के थोड़ेसे नामों को, जो बीजोल्यां के परमारों के हैं, छोड़कर बाक़ी के बहुधा सब नाम कल्पित हैं। आबू के परमारों में तो पृथ्वीराज रासे के अनुसार सलख और जैतराव नाम ही दिये हैं, ये दोनों नाम भी कल्पित हैं। ऐसे ही मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का परमार से १६०वीं पीढ़ी में होना लिखा और भोज के दादा का नाम शिवराज दिया है। सिंधुल, भोज और मुंज के वृत्तांत के लिये 'भोजप्रबंध' की दुहाई दी है। इन बातों [illegible] भाटों
प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था जिससे उन्होंने

पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशज हैं, अतएव संभव है कि वारड़ शाखा उक्त कृष्णराज के किसी वंशधर से चली हो। आबूरोड रेल्वे स्टेशन से ३ मील दूर हृषीकेश के मंदिर के निकट एक दूसरे मंदिर में सभामंडप के एक ताक में एक राजपूत वीर और उसकी स्त्री की खड़ी मूर्त्तियां एक ही आसन पर बनी हुई हैं। पुरुष की मूर्ति के नीचे 'वारड जगदेव' और स्त्री की मूर्ति के नीचे 'बाइ केसरदेवी' नाम खुदे हुए हैं; बाइ शब्द का 'इ' अक्षर पुरानी शैली का होने से अनुमान होता है कि वारड़ शाखा वि० सं० की १३वीं शताब्दी के आसपास फंटी हो।

नैणसी ने लिखा है कि सोढ़ा से सातवीं पीढ़ी में धारावरिस (धारावर्ष) था जिसका एक पुत्र आसराव पारकर का स्वामी और दूसरा दुर्जनसाल उमरकोट का स्वामी हुआ। सोढ़ा पहले सिंध में सुमरों के पास जा रहा था। उन्होंने उसे राताकोट जागीर में दिया। पीछे हंमीर सोढ़ा को जाम तमाइची ने उमरकोट की जागीर दी।

नैणसी ने सांखलों के संबंध में पहले तो धरणिवराह के पुत्र छाहड़ के एक बेटे का नाम सांखला दिया, परंतु आगे चलकर यह भी लिख दिया कि छाहड़ के तीसरे पुत्र वाघ के बेटे वैरसी ने मुंदियाड़ के पड़िहारों से लड़ते समय ओसियां (नगरी) की माता की जात (मन्नत) बोलकर प्रतिज्ञा की थी कि पड़िहारों पर मेरी जय हुई तो कमल पूजा करूंगा। विजयी होने के उपरान्त वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवी को अपना मस्तक चढ़ाने लगा, तब माता ने उसका हाथ पकड़ लिया और प्रसन्न होकर अपना शंख उसे दिया और कहा कि शंख बजाकर सांखला कहला, तब से सांखला नाम प्रसिद्ध हुआ। यह कथा भाटों की गढ़ंत है, वास्तव में छाहड़ के दूसरे पुत्र सांखला के वंशज सांखले कहलाये। उनका ठिकाना पहले रूणकोट (मारवाड़ में) था। पीछे सांखले महीपाल के पुत्र रायसी (राजसिंह) ने दहियों से जांगलू लिया; फिर सांखले मेहराज को जोधपुर के राठोड़ राव चूंडा ने नागोर इलाक़े का गांव भुंडेल जागीर में दिया। मेहराज के पुत्र हरभम (हरबू) को, जो पीर माना जाता है, राव जोधा ने बेंगटी गांव शासन कर दिया और उसके वंशज वहां रहने लगे। बिलोचों के दबाव से तंग आकर राणा माणकराव का पुत्र नापा जोधपुर आकर राव जोधा के पुत्र बीका को ले गया और उसको जांगलू का स्वामी बनाया।

इस समय ऊंमट शाखा में राजगढ़ और नरसिंहगढ़ के राज्य मालवे (ऊंमट-वाड़े में) में हैं। बारड़ शाखा का एक राज्य दांता (गुजरात में) है। सोढ़ों की जागीरें अब तक उमरकोट इलाके में हैं। बखतगढ़ के ठाकुर और मथवार के राणा (दोनों मालवे में), बाघल (सिमला हिल स्टेट्स में) के राजा, बीजोल्यां (मेवाड़) के राव तथा अन्य छोटे छोटे जागीरदार परमार वंश के हैं। सूंथ (महीकांठा एजन्सी में) के महाराणा वागड़ के परमारों के वंशधर हैं और वे अपने को लिंबदेव (लिंबराज) की संतति में बतलाते हैं। बुंदेलखंड में छतरपुर के महाराजा और बेरी के जागीरदार परमार वंश के हैं, परंतु अब वे बुंदेलों में मिल गये हैं। ऐसे ही देवास (दोनों) के महाराजा और धार के महाराजा भी परमारवंशी हैं, परंतु अब वे मरहटों में मिल गये हैं।

सोलंकी वंश।

गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में थाणेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) का और दक्षिणी भारत में सोलंकी पुलुकेशी (दूसरे) का राज्य था। इस प्रतापी (सोलंकी) वंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं। उनके सैकड़ों शिलालेख और दानपत्र मिले हैं, और अनेक विद्वानों ने उनकी गुणग्राहकता के कारण उनका थोड़ा बहुत इतिहास अपनी अपनी पुस्तकों में लिखा है। ऐसा माना जाता है कि इनका राज्य प्रारंभ में अयोध्या में था जहां से ये दक्षिण में गये, फिर गुजरात, काठियावाड़, राजपूताने और बघेलखंड में उनके राज्य स्थिर हुए। हमारे इस ग्रंथ का संबंध राजपूताने से ही है और गुजरात के सोलंकियों का अधिकार राजपूताने में सिरोही राज्य और जोधपुर राज्य के कितने एक अंश पर अधिक समय तक, और चित्तोड़ तथा उसके आसपास के प्रदेश और वागड़ पर थोड़े समय तक रहा था; इसलिये केवल गुजरात के सोलंकियों का, जिनका इतिहास बहुत मिलता है, यहां बहुत ही संक्षेप से परिचय दिया जाता है और उसमें भी विशेषकर राजपूताने के संबंध का।

इस समय सोलंकी और बघेल (सोलंकियों की एक शाखा) अपने को अग्निवंशी बतलाते हैं, और वसिष्ठ ऋषि के द्वारा आबू पर के अग्निकुंड से अपने मूल पुरुष चुलुक्य (चालुक्य, चौलुक्य) का उत्पन्न होना मानते हैं, परंतु सोलंकियों के वि० सं० ६३५ से १६०० तक के अनेक [illegible] ों

तथा पुस्तकों में कहीं उनके अग्निवंशी होने की कथा का लेश भी पाया नहीं जाता। उनमें उनका चंद्रवंशी और पांडवों के वंशधर होना लिखा है[1]। वि० सं० १६०० के आसपास 'पृथ्वीराज रासा' बना, जिसके कर्त्ता ने इतिहास के अज्ञान में इनको भी अग्निवंशी ठहरा दिया और ये भी अपने प्राचीन इतिहास की अज्ञानता में उसीको ऐतिहासिक ग्रंथ मानकर अपने को अग्निवंशी कहने लग गये। गुजरात के सोलंकियों की नामावली नीचे दी जाती है।

(१) मूलराज (राजि का पुत्र)—उसने अणहिलवाड़े (पाटण) के अंतिम चावड़ावंशी राजा सामंतसिंह को, जो उसका मामा था, मारकर गुजरात का राज्य उससे छीन लिया। यह घटना वि० सं० १०१७ (ई० स० ९६०) में हुई[2]। उसने गुजरात से उत्तर में अपना अधिकार बढ़ाना शुरू कर आबू के परमार राजा धरणीवराह पर चढ़ाई की, उस समय हठूंडी (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल ने उसको अपनी शरण में रक्खा[3]। मूलराज के वि० सं० १०५१ (ई० स० ९९४) के दानपत्र से पाया जाता है कि उक्त संवत् में उसने सत्यपुर (सांचोर, जोधपुर राज्य में) ज़िले का वरणक गांव दान में दिया था, इससे निश्चित है कि आबू के परमारों का राज्य उसने अपने अधीन किया, क्योंकि उस समय सांचोर परमारों के राज्य में था। मूलराज को इस प्रकार उत्तर में आगे बढ़ता देखकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (दूसरे, वीसलदेव) ने उसपर चढ़ाई कर दी, जिससे मूलराज अपनी राजधानी छोड़कर कंथादुर्ग (कंथकोट का क़िला, कच्छ राज्य में) में भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात में रहा, और उसको जर्जर कर लौटा[4]। उसी समय के आसपास कल्याण के सोलंकी राजा तैलप के सेनापति बारप ने भी, जिसको तैलप ने लाट देश जागीर में दिया था, उसपर चढ़ाई की, परंतु बारप युद्ध में मारा गया। मूलराज सोरठ (दक्षिणी काठियावाड़) के चूडासमा (यादव) राजा ग्रहरिपु पर भी चढ़कर गया। उस समय ग्रहरिपु का मित्र

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के लिये देखो 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ३–१४।

(२) ना. प्र. प०; भाग १, पृ० २१४-१५।

(३) देखो ऊपर पृ० १७२ और टिप्पण १।

(४) ना. प्र. प०; भाग १, पृ० ४२०–२४।

कच्छ का जाड़ेजा (जाडेचा, यादव) राजा लाखा फूलाणी (फूल का बेटा) उसकी सहायता के लिये आया; लड़ाई में ग्रहरिपु कैद हुआ और लाखा मारा गया[1]। इस लड़ाई में आबू का राजा, जो मूलराज की सेना में था, वीरता से लड़ा, ऐसा हेमचन्द्र (हेमाचार्य) के 'द्व्याश्रयकाव्य' से पाया जाता है। मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक बड़ा ही विशाल शिवालय बनवाया तथा उसकी प्रतिष्ठा के समय थाणेश्वर, कन्नौज आदि उत्तरी प्रदेशों के ब्राह्मणों को बुलाया, और गांव आदि जीविका देकर उनको वहीं रक्खा। वे उत्तर (उदीची) से आने के कारण औदीच्य कहलाये और गुजरात में बसने के कारण औदीच्य ब्राह्मणों की गणना पीछे से पंचद्रविड़ों में हो गई, परंतु वास्तव में वे उत्तर के गौड़ ही हैं। उस समय तक ब्राह्मण जाति एक ही थी और उसमें गौड़ और द्रविड़ का भेद न था। यह भेद उससे बहुत पीछे हुआ। मूलराज ने वि० सं० १०१७ से १०५२ (ई० स० ९६० से ९९५) तक राज्य किया। उसके समय के तीन दान-पत्र मिले हैं जो वि० सं० १०३०[2] से १०५१[3] तक के हैं।

(२) चामुंडराज (सं० १ का पुत्र)—उसने मालवे के राजा सिंधुराज (भोज का पिता) को युद्ध में मारा[4], तब से ही गुजरात के सोलंकियों और मालवे के परमारों के बीच वंशपरंपरागत वैर हो गया और वे बराबर लड़ते और अपनी बरबादी कराते रहे। चामुण्डराज बड़ा कामी राजा था जिससे उसकी बहिन वाचिणीदेवी (चाचिणीदेवी) ने उसको पदच्युत कर उसके ज्येष्ठ पुत्र वल्लभराज को गुजरात के राज्यसिंहासन पर बिठलाया। उसके तीन पुत्र वल्लभराज, दुर्लभराज और नागराज थे। उसने वि० सं० १०५२ से १०६६ (ई० स० ९९५ से १००९) तक राज्य किया।

(३) वल्लभराज (सं० २ का पुत्र)—उसने मालवे पर चढ़ाई की, परंतु मार्ग में ही बीमार होकर मर गया। उसने अनुमान ६ मास तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दुर्लभराज हुआ।

(४) दुर्लभराज (सं० ३ का भाई)—उसका विवाह नाडौल के चौहान

(१) बंब, गै; जि० १; भाग १, पृ० [illegible]।

(२) विएना ओरिएंटल जर्नल; जि० [illegible], पृ० [illegible]।

(३) ए. इं; जि० १०; पृ० [illegible]।

(४) देखो ऊपर पृ० [illegible]।

राजा महेंद्र की बहिन दुर्लभदेवी से हुआ था। उसने वि० सं० १०६६ से १०७८ (ई० स० १००६ से १०२१) तक राज्य किया और उसका उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई नागराज का पुत्र भीमदेव हुआ।

(५) भीमदेव (सं० ४ का भतीजा)—उसने आबू के परमार राजा धंधुक से, जो उसका सामंत था, विरोध हो जाने पर अपने मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) जाति के महाजन विमल (विमलशाह) की अधीनता में आबू पर सेना भेजी, जिससे धंधुक मालवे के परमार राजा भोज के पास चला गया जो उस समय चित्तोड़ में रहता था। विमलशाह ने धंधुक को चित्तोड़ से बुलवाया और भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया, फिर उसने वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में आबू पर देलवाड़ा गांव में विमलवसही नामक आदिनाथ का अपूर्व मंदिर बनवाया[1]। भीम ने सिंध के राजा हंमुक (?) पर चढ़ाई कर उसको परास्त किया। जब वह सिंध की लड़ाई में लगा हुआ था उस समय मालवे के परमार राजा भोज के सेनापति कुलचंद्र ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई कर उस नगर को लूटा, जिसका बदला लेने के लिये भीम ने मालवे पर चढ़ाई की। उन्हीं दिनों में भोज रोगग्रस्त होकर मर गया। भीम ने आबू के परमार राजा कृष्णराज को भी क़ैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे क़ैद से छुड़वाया[2] था। नाडौल के चौहानों का भी भीमदेव के अधीन होना पाया जाता है। वि० सं० १०८२ (ई० स० १०२५) में जब ग़ज़नी के सुलतान महमूद ने गुजरात पर चढ़ाई कर सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर को, जो काठियावाड़ के दक्षिण में समुद्र तट पर है, तोड़ा, उस समय भीमदेव ने अपनी राजधानी को छोड़कर एक क़िले (कथकोट, कच्छ में) की शरण ली थी। उसने वि० सं० १०७८ से ११२० (ई० स० १०२१ से १०६३) तक राज्य किया था। उसके तीन पुत्र मूलराज, क्षेमराज और कर्ण थे। मूलराज का देहान्त अपने पिता की जीवित दशा में हो गया था। भीमदेव ने अपने अंतिम समय क्षेमराज को राज्य देना चाहा, परंतु उसने स्वीकार न किया, और अपने छोटे भाई कर्ण को राज्य देकर वह सरस्वती-तट के एक तीर्थस्थान (मंडूकेश्वर) में जाकर तपश्चर्या करने लगा।

(६) कर्ण (सं० ५ का पुत्र)—मालवे के राजा उदयादित्य ने सांभर के

(१) देखो ऊपर पृ० १७३।

(२) देखो ऊपर पृ० १७४।

चौहान राजा विग्रहराज (तीसरे, वीसलदेव) से सहायता पाकर कर्ण को जीता था[1]। उसकी राणी मयणल्लदेवी (मीनलदेवी) गोश्रा के कदम्बवंशी राजा जयकेशी की पुत्री थी। कर्ण ने गुजरात के कोली और भीलों को अपने वश किया, जो वहां उपद्रव किया करते थे। वि० सं० ११२० से ११५०, (ई० स० १०६३ से १०९३) तक उसने राज्य किया। 'विक्रमांकदेवचरित' आदि के कर्ता बिल्हण पंडित ने 'कर्णसुन्दरी' नामक नाटिका रची जिसका नायक यही कर्ण है।

(७) जयसिंह (सं० ६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकियों में वह बड़ा ही पी राजा हुआ। उसका प्रसिद्ध विरुद सिद्धराज था जिससे वह सिद्धराज ंसिह नाम से अधिक विख्यात है। जिस समय वह सोमनाथ की यात्रा को । हुआ था, मालवे के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी, सके वैर में मालवे पर चढ़ाई कर जयसिंह १२ वरस तक लड़ता रहा। इस ड़ाई में नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसके पुत्र यशोवर्मा के समय । युद्ध की समाप्ति हुई। अंत में यशोवर्मा हारा, कैद हुआ और मालवा जरात के राज्य के अंतर्गत हो गया[2]। इसके साथ चित्तोड़ का क़िला तथा सके आसपास के प्रदेश, एवं वागड़ पर भी जयसिंह का अधिकार हुआ[3] जो मारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय तक किसी प्रकार बना हा था। आबू के परमार तथा नाडौल के चौहान तो पहले ही से गुजरात ह राजाओं की अधीनता में चले आते थे। जयसिंह ने महोबा के चंदेल राजा दनवर्मा पर भी चढ़ाई की थी, परंतु उसमें उसको विजय प्राप्त हुई या नहीं, ग्रह संदिग्ध बात है। उसने सोरठ पर चढ़ाई कर गिरनार के यादव (चूडासमा) राजा खेंगार (दूसरे) को क़ैद किया, बर्बर आदि जंगली जातियों को अपने अधीन किया और अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनाक, आनल्लदेव) पर विजय प्राप्त की, परंतु पीछे से सुलह हो जाने के कारण उसने अपनी पुत्री कांचनदेवी का विवाह आना के साथ कर दिया, जिससे सोमेश्वर का जन्म हुआ[4]। सिद्धराज सोमेश्वर को बचपन में ही अपने

(१) देखो ऊपर पृ० १६२। (२) देखो ऊपर पृ० १६६-६७।

(३) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० ६ का टिप्पण २।

(४) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९३-९४।

यहां ले आया था और उसका देहान्त होने पर उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल ने उसका पालन किया। सिद्धराज बड़ा ही लोकप्रिय, न्यायी, विद्यारसिक और जैनों का विशेष सम्मान करनेवाला हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् जैन आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) का वह बड़ा सम्मान करता था। उसके दरबार में कई विद्वान् रहते थे, जैसे कि 'वैरोचनपराजय' का कर्त्ता श्रीपाल, 'कविशिक्षा' का कर्त्ता जयमंगल (वाग्भट), 'गणरत्नमहोदधि' का कर्त्ता वर्द्धमान, तथा सागरचंद्र आदि। श्रीपाल तो उसके दरबार का मुख्य कवि था, जो कुमारपाल के समय भी उसी पद पर रहा था। वर्द्धमान ने 'सिद्धराजवर्णन' नामक ग्रंथ लिखा था[1]। सागरचंद्र ने भी सिद्धराज की प्रशंसा में कोई काव्य लिखा हो, ऐसा 'गणरत्नमहोदधि' में उससे उद्धृत किये हुए श्लोकों से पाया जाता है[2]। वि० सं० ११५० से ११९९ (ई० स० १०९३ से ११४२) तक सिद्धराज ने राज्य किया। उसके कोई पुत्र न होने के कारण[3] उसके पीछे उपर्युक्त राजा कर्ण के बड़े भाई क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद का पौत्र (त्रिभुवनपाल का पुत्र) कुमारपाल गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा।

---

(१) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० ८, टिप्पण २।

(२) वही; भाग ३, पृ० ९ के नीचे का टिप्पण।

(३) भाटों की ख्यातों में सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र—कुमारपाल, बाघराव, गहिलराव, तेजसी (तूनराव), मलखान, जोवनीराव और सगतिकुमार (शक्तिकुमार)—होना लिखा है और कुमारपाल को उसका उत्तराधिकारी तथा बाघराव से बघेल शाखा का चलना, बतलाया है, परंतु सिद्धराज के ७ पुत्र होने और बाघराव से बाघेला (बघेल) शाखा का चलना, ये दोनों कथन विश्वास के योग्य नहीं हैं। हेमचंद्रसूरि (हेमाचार्य) ने, जो सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों के समय जीवित थे, अपने द्व्याश्रयकाव्य में लिखा है, कि जयसिंह को पुत्रमुखदर्शन का सुख न मिला। वह पैदल चलता हुआ देवपाटण (वेरावल) पहुंचा। वहां सोमनाथ का पूजन किया, तदनंतर अकेला मंदिर में बैठकर समाधिस्थ हो गया। शंकर ने प्रत्यक्ष हो उसे दर्शन दिया, परंतु जब उसने पुत्र के लिये याचना की तो यही उत्तर मिला कि तेरे पीछे तेरे भाई त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल राजा होगा ('द्व्याश्रयकाव्य,' सर्ग १५, श्लोक ३७-९६)। चित्तोड़ के क़िले से मिले हुए स्वयं कुमारपाल के शिलालेख में पुत्रप्राप्ति के लिये जयसिंह के सोमनाथ जाने तथा शंकर से याचना करने पर उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने का उत्तर मिलना कहा है और वहीं भीमदेव से लगाकर कुमारपाल तक का संबंध भी बतलाया है—

पुत्रार्थं चरणप्र[चा]रविधिना श्रीसोमनाथं ययौ।

(८) कुमारपाल (सं० ७ का कुटुंबी)—वह गुजरात के सोलंकियों में सब से प्रतापी हुआ, परंतु राज्य पाने से पहले का समय उसने बड़ी ही आपत्ति में व्यतीत किया था, क्योंकि जयसिंह (सिद्धराज) उसको मरवाना चाहता था जिससे वह भेष बदलकर प्राण बचाता फिरता था। उसने अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) पर दो चढ़ाइयां कीं जिनमें से पहली वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई; उसमें कुमारपाल को विजय प्राप्त हुई हो ऐसा पाया नहीं जाता। दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में की जिसमें यह विजयी हुआ था। पहली चढ़ाई में आबू का परमार राजा विक्रमसिंह आना से मिल गया जिससे कुमारपाल ने विक्रमसिंह को क़ैद कर उसके भतीजे यशोधवल को आबू का राज्य दिया[1]। कुमारपाल ने मालवे के राजा बल्लाल को मारा और कौंकण के शिलारावंशी राजा मल्लिकार्जुन पर दो बार चढ़ाई की। पहली चढ़ाई में उसकी सेना को हार खाकर लौटना पड़ा, परंतु दूसरी चढ़ाई में विजय हुई। इस चढ़ाई में चौहान सोमेश्वर (पृथ्वीराज के पिता) ने जिसने अपनी बाल्यावस्था अपने ननिहाल में व्यतीत की थी और जयसिंह (सिद्धराज) तथा उसके क्रमानुयायी कुमारपाल ने बड़े स्नेह से जिसका पालन किया था, मल्लिकार्जुन का सिर काटा था[2]। कुमारपाल बड़ा प्रतापी और नीतिनिपुण था। उसके राज्यकी सीमा दूर दूर तक फैली हुई थी और मालवा

देवोप्यादिशतिस्म···· ···· ···· ···· ॥

पूर्वं श्रीभीमदेवस्य क्षेमराजसुतोभवत् ।

क्षमाक्षेमक्षमैर्मुख्यैर्यो रराज गुणैरपि ॥

तस्माद्देवप्रसादोभूद्देवाराधन····।····॥

कौस्तुभ इव रत्ननिधिस्त्रिभुवनपालाह्वयोभवत्तस्मात् ।····॥

कुमारपालदेवाख्यः श्रीमानस्यास्ति नंदनः ।····॥

इति देवे···· ···· ···· ···· ····॥

कुमारपाल का चित्तोड़ का शिलालेख (अप्रकाशित)। ऐसा ही [illegible] ल', जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबंध', जयसिंहसूरिके 'कुमारपालचरित' [illegible] है, वही विश्वास के योग्य है। कुमारपाल जयसिंह का पुत्र नहीं, [illegible]

(१) देखो ऊपर पृ० १७९।

(२) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३११।

तथा राजपूताने का कितना एक अंश भी उसके अधीन था। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) के उपदेश से उसने जैन धर्म स्वीकार कर अपने राज्य में जीवहिंसा को रोक दिया था। गुजरात के बाहर राजपूताने और मालवे में भी उसके कई शिलालेख मिले हैं। उसने वि० सं० ११९९ से १२३० (ई० स० ११४२-११७३) तक राज्य किया। उसके सब से बड़े भाई महीपाल का पुत्र अजयपाल उसके पीछे राज्य-सिंहासन पर बैठा।

(९) अजयपाल (सं० ८ का भतीजा)—उस निर्बुद्धि राजा के समय से ही गुजरात के सोलंकियों के राज्य की अवनति का प्रारंभ हुआ। मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के साथ के युद्ध में हारकर बुरी तरह से वह घायल हुआ, उस समय आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रल्हादन ने गुजरात की रक्षा की[1]। उसने जैन धर्म का विरोध कर बहुत कुछ अत्याचार किया और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में अपने ही एक द्वारपाल के हाथ से वह मारा गया।

(१०) मूलराज दूसरा (सं० ९ का पुत्र)—वह बाल्यावस्था में ही गुजरात का राजा हुआ जिससे उसको बालमूलराज भी कहते हैं। उसके समय में सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने गुजरात पर चढ़ाई की थी, और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) लड़ाई हुई जिसमें सुलतान घायल हुआ और हार खाकर लौट गया[2]। फारसी इतिहासलेखक उस लड़ाई का भीमदेव के समय होना लिखते हैं, परंतु संस्कृत ग्रंथकारों ने उसका मूलराज के समय में होना माना है, जिसका कारण यही है कि उसी समय में मूलराज का देहांत और भीमदेव (दूसरे) का राज्याभिषेक हुआ था। मूलराज ने वि० सं० १२३३ से १२३५ (ई० स० ११७६ से ११७८) तक गुजरात पर राज्य किया।

(११) भीमदेव दूसरा (सं० १० का छोटा भाई)—वह भोलाभीम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने भी बाल्यावस्था में राज्य पाया था जिससे उसके मंत्रियों तथा सामंतों ने उसका बहुतसा राज्य दबा लिया[3]। कितने ही सामंत स्वतंत्र हो गये और उसके संबंधी जयंतसिंह (जैत्रसिंह) ने उससे अणहिलवाड़े की गद्दी भी छीन ली थी, परंतु अंत में उसको वहां से हटना पड़ा। सोलंकियों की बघेल

(१) देखो ऊपर पृ० १७८।
(२) देखो ऊपर पृ० १७६।
(३) देखो ऊपर पृ० १७६।

शाखा के राणा अर्णोराज का पुत्र लवणप्रसाद और उसका पुत्र वीरधवल दोनों भीमदेव के पक्ष में रहे। भीमदेव के समय कुतबुद्दीन ऐबक ने गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) परमार धारावर्ष तथा गुजरात के अन्य सामंतों को, जो उसका मार्ग रोकने को खड़े थे, हराकर गुजरात को लूटा[1]। भोलाभीम ने वि० सं० १२३५ से १२९८ (ई० स० ११७८ से १२४१) तक राज्य किया। वह नाममात्र का राजा रहा, क्योंकि सारी राज्यसत्ता लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल के हाथ में थी। उसके पीछे उसका कुटुंबी त्रिभुवनपाल अणहिलवाड़े की गद्दी पर बैठा जिसका उसके साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

(१२) त्रिभुवनपाल (सं० ११ का उत्तराधिकारी)—वह मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह के साथ कोट्टडक (कोटड़ा) के पास लड़ा[2] और वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) के आसपास सोलंकियों की वघेल शाखा के वीरधवल के पुत्र वीसलदेव ने उससे गुजरात का राज्य छीन लिया।

वघेल या वघेले (वाघेले) गुजरात के सोलंकियों की छोटी शाखा में हैं, परंतु अब तक किसी पुस्तक या शिलालेख आदि से यह पता नहीं लगा कि उनकी शाखा किस राजा से अलग हुई। भाटों की ख्यातों में तो यह लिखा है कि सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र थे जिनमें से दूसरे पुत्र वाघराव के वंशज वघेल कहलाये। सिद्धराज जयसिंह के

वघेले सोलंकी

(४) सारंगदेव (सं० ३ का छोटा भाई)—उसके समय का वि० सं० १३५० (ई० स० १२९३) का शिलालेख आबू पर विमलशाह के मंदिर की दीवार में लगा हुआ है। उसने गोगदेव को, जो पहले मालवे के राजा का प्रधान था परंतु पीछे से अवसर पाकर जिसने वहां का आधा राज्य बंटवा लिया था, हराया, ऐसा फारसी तवारीख़ों से पाया जाता है। सारंगदेव ने वि० सं० १३३१ से १३५३ (ई० स० १२७४ से १२९६) तक शासन किया।

(५) कर्णदेव (सं० ४ का पुत्र)—गुजरात में वह करणघेला (घेला=पागल) के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। उसके समय वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के छोटे भाई उलग़ख़ां तथा नस्रतख़ां जलेसरी ने गुजरात पर चढ़ाई कर कर्णदेव का राज्य छीन लिया। राजा भागकर देवगिरी के यादव राजा रामदेव के पास जा रहा। इस प्रकार गुजरात के सोलंकी-राज्य की समाप्ति हुई।

गुजरात के सोलंकियों का वंशवृक्ष

- राजि
  - १ मूलराज — वि० सं० १०१७-१०५२
    - २ चामुंडराज — वि० सं० १०५२-१०६६
      - ३ वल्लभराज — वि० सं० १०६६
      - ४ दुर्लभराज — वि० सं० १०६६-१०७८
      - नागराज
        - ५ भीमदेव — वि० सं० १०७८-११२०
          - क्षेमराज
            - देवप्रसाद
              - त्रिभुवनपाल
                - महीपाल
                  - ९ अजयपाल — वि० सं० १२३०-३३
                    - १० मूलराज (दूसरा) — वि० सं० १२३३-१२३५
                    - ११ भीमदेव (दूसरा) — वि० सं० १२३५-१२९८
                      - ⋮ १२ त्रिभुवनपाल — वि० सं० १२९८-१३००
                - कीर्तिपाल
                - ८ कुमारपाल — वि० सं० ११९९-१२३०
          - ६ कर्ण — वि० सं० ११२०-११५०
            - ७ जयसिंह (सिद्धराज) — वि० सं० ११५०-११९९

गुजरात के बघेलों का वंशवृक्ष

धवल
|
अर्णोराज (आनाक, आना)
|
लवणप्रसाद
|
वीरधवल

- प्रतापमल्ल
  - २ अर्जुनदेव, वि० सं० १३१८–१३३१
    - ३ रामदेव, वि० सं० १३३१
    - ४ सारंगदेव, वि० सं० १३३१–१३५३
      - ५ कर्णदेव, वि० सं० १३५३–१३५६
- वीरम
- १ वीसल, वि० सं० १३००–१३१८

सोलंकियों की शाखाएं—मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में सोलंकियों की नीचे लिखी हुई १२ शाखाएं बतलाई हैं—

१—सोलंकी। २-वाघेला (बघेल)। ३-खालत। ४-रहवर। ५-वीरपुरा। ६-खैराड़ा। ७-वहेला। ८-पीथापुरा। ९-सोभतिया। १०-डहर, ये सिंध में तुर्क (मुसलमान) हो गये। ११-भूहड़, ये भी सिंध में मुसलमान हो गये। १२-रूका, ये मुसलमान हो गये और ठट्ठे की तरफ हैं[1]।

कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचंद्र के मांडल (मेवाड़ में) के उपासरे में मुझे दो ऐसे पत्रे मिले जिनमें सोलंकियों की शाखाओं के ये नाम अधिक हैं—

महीड़ा, अलमेचा, थोकडेडा, कंठपाहिडा, तंयकरा, टीला, हांसवाटा, राणकरा (राणकिया), भसुंडरा, डाकी, वड़सूका, कुणींदरा, भुंणगोता, भडंगरा, डाहिया, बुवाला, खोढोरा, लाहा, म्हेलगोत, सुरकी, नाथावत, राया, थालनोत और कठूकड़ा।

(१) नैणसी की ख्यात, पत्र २२। १।

सोलंकियों के एक भाट की पुस्तक में नीचे लिखी हुई उनकी और शाखाएं मिल

लंघा, तोगरू, सरवरिया, तातिया और कुलमोर। ये शाखाएं तथा ऐसे ही राजपूतों के अन्य वंशों की भिन्न भिन्न शाखाएं भी अधिकतर उनके निवासस्थानों के नामों पर प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि राण या राणक (भिणाय) में रहने से राणकरा या राणकिया; बघेल गांव में रहने से बघेला आदि, परंतु कुछ शाखाएं प्रसिद्ध पुरुषों के नामों से भी चली हैं, जैसे कि नाथ या नाथसिंह से नाथावत, वालन से वालनोत आदि।

मुसलमानों के गुजरात छीनने के पीछे का सोलंकियों का वृत्तांत भाटों की ख्यातों में एकसा नहीं मिलता। एक ख्यात से पाया जाता है कि सोलंकियों के एक वंशधर देवराज ने देलणपुर वसाया। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र सूजादेव देलणपुर का स्वामी हुआ और दूसरे पुत्र वीरधवल ने लूणावाड़े में अपना राज्य स्थिर किया। सूजादेव का १०वां वंशधर देपा, राण या राणक (भिणाय, अजमेर ज़िले में) में आ बसा। यहां बहुत समय तक सोलंकी रहे[1]। देपा का पुत्र भोज या भोजराज राणक से लास (लाछ) गांव (सिरोही राज्य में माळमगरे के पास) में जा बसा। मुंहणोत नैणसी ने लिखा है कि भोज देपावत (देपा का पुत्र) और सिरोही के राव लाखा के बीच शत्रुता हुई और उनमें लड़ाइयां होती रहीं। राव लाखा ने ५ या ६ लड़ाइयों में हारने के पीछे ईडर के राव की सहायता से भोज को मारा और सोलंकियों से लास का ठिकाना छूटा। फिर वे मेवाड़ के राणा रायमल के पास कुंभलगढ़ पहुंचे। उस समय देसूरी का इलाक़ा मादड़ेचे चौहानों के अधिकार में था। वहां के चौहान राणा की आज्ञा का पालन नहीं करते थे जिससे राणा तथा उसके कुंवर पृथ्वीराज ने भोज के पुत्रों को कहा कि मादड़ेचों को मारकर देसूरी का इलाक़ा ले लो। इस पर सोलंकी रायमल तथा उसके पुत्र सांवतसी ने अर्ज़ की कि मादड़ेचे तो हमारे रिश्तेदार हैं। राणा ने उत्तर दिया कि दूसरी जागीर तो देने को नहीं है, तब उन्होंने मादड़ेचों को मारकर १४० गांव सहित देसूरी की जागीर अपने अधिकार में कर ली[2]। रायमल के पुत्र सांवतसी के वंश में रूपनगर (...

के और उस(सांवतसी)के भाई शंकर के वंश में जीलवाड़े (मेवाड़ में) के सोलंकी हैं। जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाके में कोट नाम का ठिकाना भी इन्हीं देसूरी के सोलंकियों का है।

देसूरी के सोलंकी रायमल के पौत्र और सांवतसी के दूसरे पुत्र देला ने जावरे (मालवे में) जाकर वहां अपना राज्य स्थिर किया और मांडू के सुलतान से रावत का ख़िताब और ८४ गाँवों का पट्टा पाया। उसके वंशज अब तक जावरे में रहते हैं और उनकी वहां जागीर भी है। जावरे से ऊवरसाड़ा और खोजनखेड़ा के ठिकाने फंटे। आलोट (देवास के बड़े हिस्से में) का ठिकाना भी जावरे से निकला हुआ माना जाता है और जावरे से ही खड़गूण (नीमाड़, इंदौर राज्य में) का ठिकाना फंटा।

ऊपर लिखे हुए देवराज से आठवीं पीढ़ी में सूरजभाण या सूर्यभाण हुआ जिसके छोटे भाई गढ़माल ने देलणपुर से जाकर प्रथम नरवरगढ़ में और वहां से टोड़े (जयपुर राज्य में) में अपना अधिकार जमाया[1]।

मुंहणोत नैणसी लिखता है कि नागरचाल का टोड़ा सोलंकियों का मूल निवासस्थान[2] है और वहीं से सोलंकी अन्यत्र फैले हैं। टोड़े के सोलंकियों का खिताब राव था और वे कीलहणोत (कीलहण[3] के वंशज) कहलाते थे। टोडड़ी में महिलगोते सोलंकियों का राज्य था। नैणसी ने सिद्धराज से ७ वें पुरुष कान्हड़ के बेटे महलू[4] का टोड़े में राज्य करना लिखा है (इसी महलू से महिलगोते सोलंकी कहलाये हों)। महलू का पुत्र दुर्जनसाल, उसका हरराज और हरराज का सुरताण हुआ। राव सुरताण हरराजोत टोडड़ी छोड़कर राणा रायमल के पास चित्तोड़ में आ रहा[5] और राणा ने उसको बदनोर का

(१) यति ज्ञानचंद्र के उपासरे से मिली हुई सोलंकियों की ख्यात से।

(२) गुजरात छूटने के पीछे टोडे से कई ठिकाने फंटे इसलिये टोडे को उनका मूल निवासस्थान कहा है।

(३) नैणसी ने कीलहण का अधिक परिचय नहीं दिया, परंतु यति ज्ञानचंद्र की ख्यात में कीलहण को उपर्युक्त गढ़माल का चवां वंशधर कहा है।

(४) ज्ञानचंद्र के यहां की ख्यात में महलू नाम नहीं है, परंतु गढ़माल के पांचवें वंशधर का नाम महीपाल दिया है। शायद महीपाल और महलू एक ही हो।

(५) टोडे और टोडड़ी के सोलंकी एक ही शाखा के वंशधर थे। टोडे का इलाका छोड़कर उनके मेवाड़ में आने का कारण नैणसी ने नहीं लिखा, परंतु कारण यही प्रतीत

पट्टा जागीर में दिया। राव सुरताण की बेटी प्रसिद्ध तारादेवी का विवाह राणा रायमल के कुंवर पृथ्वीराज (उडणा पृथ्वीराज) के साथ हुआ था। रायमल का छोटा पुत्र जयमल राव सुरताण से अप्रसन्न था जिससे उसने बदनोर पर चढ़ाई कर दी। राव सुरताण पहले ही से बदनोर छोड़कर चला गया था। मार्ग में रात के समय दोनों की मुठभेड़ हुई, जिसमें राव के साले रतना सांखला के हाथ से जयमल मारा गया[1]। नीमाड़ (इंदौर राज्य में) में धरगांव, डही, और धर्मराज नामक ठिकानों के सोलंकी टोड़े के सोलंकियों के वंशधर हैं। भोपाल इलाके में मैंगलगढ़, गढ़ा, सनोड़ा, कोलूखेड़ी और चांदवड़ (सातलवाड़ी) के ठिकाने भी टोड़े के सोलंकियों से ही निकले हैं। मांडलगढ़ (मेवाड़ में) और बूंदी राज्य के सोलंकी भी टोड़े के सोलंकियों के ही वंशधर थे।

इस समय सोलंकियों के राज्य रीवां (बघेलखण्ड में), लूणावाड़ा और बांसदा (दोनों गुजरात में) हैं। रीवांवाले किस बघेल राजा के वंशधर हैं, यह अब तक निश्चित रूप से जाना नहीं गया। बघेलखंड में रीवां के अतिरिक्त सुहावल, ज़िरोहा, क्योंटी, सुहागपुर आदि बहुतसे ठिकाने बघेलों के हैं जो रीवां से ही फंटे हैं। पालणपुर इलाक़े में थराद, दियोदर; महीकांठा इलाक़े में पेथापुर; रेवाकांठे में भादरवा, छालियेर और धरी सोलंकियों के, तथा पोइछा बघेलों का ठिकाना है। बांसदे का राज्य कहां से अलग हुआ यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं हो सका। सोलंकियों से गुजरात छूटने बाद उनका ठीक ठीक वृत्तांत नहीं मिलता। यति ज्ञानचंद्र के यहां की ख्यात में भी पुराने नाम तो बहुधा कल्पित ही हैं, परंतु पिछली वंशावलियों तथा कई ठिकानों के पृथक् होने का वर्णन विस्तार से दिया है। नैणसी की ख्यात में सोलंकियों का पिछला इतिहास बहुत कम मिलता है।

'वंशभास्कर' में चालुक्य या चौलुक्य से लगाकर अर्जुनसिंह तक २१७

होता है कि टोड़े का सारा इलाक़ा पठानों ने छीन लिया था जिससे राव सुरताण हरराजोत मेवाड़ के राणा रायमल के पास आ रहा था। राव सुरताण ने यह प्रण किया था कि जो मुझे अपना टोड़े का राज्य पीछा दिलावेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री तारा का विवाह करूंगा। राणा रायमल के पुत्र प्रसिद्ध पृथ्वीराज ने उसका प्रण पूरा करने का वचन देकर तारा के साथ विवाह किया था जिसका सविस्तर वृत्तांत मेवाड़ के इतिहास में लिखा जायगा।

(१) नैणसी की ख्यात; पत्र ६१। २ और ६२।

पीढ़ियां होना लिखा है[1] परंतु पिछले थोड़े से नामों को छोड़कर बहुधा पुराने नाम कृत्रिम ही धरे हुए हैं और उनका इतिहास भी विश्वास के योग्य नहीं है। गुजरात पर सोलंकियों का राज्य स्थापित करनेवाले मूलराज से जयसिंह (सिद्धराज) तक जो नाम दिये हैं वे भी बहुधा कल्पित हैं और सिद्धराज का वि० सं० ४४१ में राजा होना लिखा है[2]। ऐसी दशा में हमने उक्त पुस्तक में दिये हुए सोलंकियों के वृत्तांत में से कुछ भी उद्धृत करना उचित नहीं समझा।

नाग वंश

नाग वंश का अस्तित्व महाभारत युद्ध के पहले से पाया जाता है। महाभारत के समय अनेक नागवंशी राजा विद्यमान थे। तक्षक नाग के द्वारा परीक्षित का काटा जाना और जनमेजय के सर्पसत्र में हज़ारों नागों की आहुति देना, एक रूपक माना जाय तो आशय यही निकलेगा कि परीक्षित नागवंशी तक्षक के हाथ से मारा गया जिससे उसके पुत्र ने अपने पिता के वैर में हज़ारों नागवंशियों को मारा। नागों की अलौकिक शक्ति के उदाहरण बौद्ध ग्रंथों तथा राजतरंगिणी आदि में मिलते हैं। तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजाओं के नाम हैं। तक्षक के वंशज तक्ख, ताक, टक, टाक, टांक आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। यह वंश भारतवर्ष के बड़े हिस्से में फैला हुआ था। विष्णुपुराण में ९ नागवंशी राजाओं का पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है[3]। वायु और ब्रह्मांड पुराण नागवंशी नव राजाओं का चंपापुरी में और सात का मथुरा में होना बतलाते हैं[4]। पद्मावती के नागवंशियों के सिक्के भी मालवे में कई जगह पर मिले हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में जहां कई राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार से मारे जाने का उल्लेख किया है वहां नागवंशी राजा नागसेन

(१) वंशभास्कर; प्रथम भाग, पृ० ४५२–७२।

(२) वही; प्रथम भाग, पृ० ४६१।

(३) *नवनागाः पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां*

'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २४।

(४) *नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।*

मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥

'वायुपुराण'; ९९। ३८२; और 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १९४।

का, सारिका (मैना) द्वारा गुप्तभेद प्रकट हो जाने के कारण, मारा जाना माना है[1]। कई नागकन्याओं के विवाह क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के साथ होने के उल्लेख भी मिलते हैं। मालवे के परमार राजा भोज के पिता सिंधुराज का विवाह नाग वंश की राजकन्या शशिप्रभा के साथ हुआ था। नागवंशियों की अनेक शाखाएं भी थीं; टांक या टाक शाखा के राजाओं का छोटासा राज्य वि० सं० की १४वीं और १५वीं शताब्दी तक यमुना के तट पर काष्ठा या काठा नगर में था[2]।

मध्य प्रदेश के चक्रकोट्य में वि० सं० की ११वीं से १४वीं और कवर्धा में १०वीं से १४वीं शताब्दी तक नागवंशियों का अधिकार रहा[3]। सिंद नामक पुरुष से चली हुई नाग वंश की सिंद शाखा का राज्य दक्षिण में कई जगह रहा। येलबुर्गा (निज़ाम राज्य में) के सिंदवंशियों का राज्य वि० सं० की दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक विद्यमान था[4]। राजपूताने में भी नागवंशियों का कुछ न कुछ अधिकार पुराने समय से होना पाया जाता है। नागोर (नागपुर, जोधपुर राज्य में), जिसको अहिच्छत्रपुर भी कहते थे, नागों का वहां अधिकार होना प्रकट करता है। कोटा राज्य में शेरगढ़ क़स्बे के दरवाज़े के पास एक शिलालेख वि० सं० ८४७ (ई० स० ७९०) माघ सुदि ६ का लगा हुआ है[5] जिसमें नीचे लिखे हुए नागवंशियों के चार नाम क्रमशः मिलते हैं—

बिन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त। सर्वनाग की राणी का नाम श्री (श्रीदेवी) था। देवदत्त वि० सं० ८४७ में विद्यमान था। उसने वहां कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्धधर्मावलंबी था, और उस समय तक राजपूताने में बौद्ध मत का अस्तित्व किसी प्रकार बना हुआ था। देवदत्त को उक्त लेख में

(१) *नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्यासीन्नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।*
('हर्षचरित'; उच्छ्वास ६, पृ० १९८)।

(२) हिं. टॉ. रा, प्रथम खंड, पृ० ४६४।

(३) हीरालाल रायबहादुर; 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ इंस्क्रिपशन्स इन दी सेंट्रल प्रॉविन्सीज़ ऐंड बरार'; पृ० १९४–९५।

(४) हिं. टॉ. रा; प्रथम खंड, पृ० ४६२–६४।

(५) इं. ऐं; जि. १४, पृ. ४५।

सामंत कहा है अतएव संभव है कि ये नागवंशी कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत हों।

अब तो राजपूताने में नागवंशियों का कोई ठिकाना या पुरुष भी नहीं रहा है।

यौधेय

यौधेय भारतवर्ष की एक बहुत प्राचीन क्षत्रिय जाति है[1], जो बड़ी ही वीर मानी जाती थी। यौधेय शब्द 'युध्' धातु से बना है जिसका अर्थ 'लड़ना' है। मौर्य राज्य की स्थापना से भी कई शताब्दी पूर्व होनेवाले प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में इस जाति का उल्लेख किया है। यौधेयों का मूल निवासस्थान पंजाब था। अब इनको जोहिया कहते हैं। इन्हीं के नाम से सतलज नदी के दोनों तटों पर का बहावलपुर राज्य के निकट का प्रदेश जोहियावार कहलाता है। जोहिये राजपूत अब तक पंजाब के हिसार और मॉटगोमरी (साहिवाल) ज़िलों में पाये जाते हैं। प्राचीन काल में ये लोग सदा स्वतंत्र रहते थे और इनके अलग अलग दलों के मुखिये ही इनके सेनापति और राजा माने जाते थे। पंजाब से दक्षिण में बढ़ते हुए ये लोग राजपूताने में भी पहुंच गये थे। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार के लेख से पाया जाता है कि क्षत्रियों में वीर का ख़िताब धारण करनेवाले यौधेयों को उसने नष्ट किया था[2]। उसके पीछे गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त ने इनको अपने अधीन किया[3]। इनके सिक्के भी मिलते हैं; ये लोग स्वामिकार्तिक के उपासक होते थे। राजपूताने में भरतपुर राज्य के बयाना नगर के पास विजयगढ़ के क़िले से वि० सं० की छठी शताब्दी के आसपास की लिपि में इनका एक टूटा हुआ लेख भी मिला है (यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः[4] पु...)। बीकानेर के राजाओं ने इन (जोहियों) से कई लड़ाइयां लड़ी थीं, जिनका वृत्तांत बीकानेर के इतिहास में लिखा जायगा। अब राजपूताने में इस जाति का होना पाया नहीं जाता।

(१) युधिष्ठिर की एक स्त्री देवकी (जो शिबि जाति के गोवसेन की पुत्री थी) से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम यौधेय रक्खा गया था, ऐसा महाभारत से पाया जाता है (महाभारत, आदिपर्व, ६३। ७६)।

(२) देखो ऊपर पृ० ६२, और उसी का टिप्पण ४।

(३) देखो ऊपर पृ० ११७।

(४) फ्ली; गु. इं; पृ० २५२।

तंवर वंश

तंवर नाम को संस्कृत लेखक तोमर लिखते हैं और भाषा के पुस्तकों में तंवर मिलता है। जिस समय कन्नौज पर रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य था उस समय दिल्ली तथा प्रथुदक (पिहोश्रा, कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के निकट) में तंवरों का राज्य था। प्रथुदक के तंवरों के शिलालेख से पाया जाता है कि वे कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे[1]। संभव है कि दिल्ली के तंवर भी उन्हीं के अधीन रहे हों। तंवरों का अब तक कोई ऐसा शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला जिसमें उनकी शुद्ध वंशावली दी हो। भाटों की ख्यातों में उनकी नामावली मिलती है, परंतु एक ख्यात के नाम दूसरी से नहीं मिलते, इसलिये उन नामों पर और भाटों आदि के दिये हुए संवतों पर विश्वास नहीं हो सकता[2]। अबुलफ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में जो उनकी वंशावली दी है वह भी भाटों से ही ली हुई होने से दूसरे वंशों की वंशावलियों के समान निकम्मी है। भाटों की ख्यातों के कुछ नाम अवश्य ठीक होंगे, तो भी सारी वंशावली को ठीक करने के लिये अब तक कोई साधन उपस्थित नहीं हुआ। सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) के हर्षनाथ के मंदिर के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वज चंदनराज के विषय में लिखा है कि उसने तोमर (तंवर) राजा रुद्रेन को मारा था[3]। उसी शिलालेख में विग्रहराज के पिता सिंहराज को तोमर नायक सलवण (शालिवाहन) को हरानेवाला (या मारनेवाला) कहा है[4], परंतु भाटों आदि की किसी नामावली में रुद्रेन (रुद्रपाल) या सलवण का नाम नहीं है। तंवरों ने पुराने इंद्रप्रस्थ के स्थान में दिल्ली बसाई, यह प्रसिद्धि चली आती है। दिल्ली के बसानेवाले राजा का नाम अनंगपाल प्रसिद्ध है। फिरिश्ता हि० स० ३०७ (वि० सं० ९७६-७७) में तंवर वंश के राजा वादित्य

(१) हिं. टॉ. रा.; पृ० ३४९।

(२) हिं. टॉ. रा.; पृ० ३४८-४९।

(३) *सूनुस्तस्याथ भूपः प्रथम इव पुनर्गूवकाख्यः प्रतापी ।*

तस्माच्छ्रीचंदनोभूत्क्षितिपतिभयदस्तोमरेशं सदर्पं

हत्वा रुद्रेनभूपं समर[भुवि] [व]लावे[न लब्धा] जयश्रीः ॥

ए. इं; जि. २, पृ० १२१।

(४) देखो ऊपर पृ० १५४, और टिप्पण २।

(या वादपित्ता ? नाम अशुद्ध है) का क़स्बा इंद्रप्रस्थ बसाना, उसका ढिल्ली (दिल्ली) नाम से प्रसिद्ध होना, तथा उस राजा के पीछे आठ तंवर राजाओं का होना लिखता है। उसने अंतिम राजा का नाम शालिवान (शालिवाहन) बतलाया है। तंवरों के पीछे वहां चौहानों का राज्य होना तथा उस वंश के मानकदेव, देवराज, रावलदेव, जाहरदेव, सहरदेव और पिथोरा (पृथ्वीराज) का वहां क्रमशः राज्य करना भी फिरिश्ता ने लिखा है, परंतु फिरिश्ता का लिखा हुआ हिंदुओं का पुराना इतिहास जैसा कल्पित है वैसा ही यह कथन भी कल्पित ही है, क्योंकि तंवरों से दिल्ली चौहान आना के पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव, चौथे) ने वि० सं० १२०७ के लगभग ली और तब से ही दिल्ली का राज्य अजमेर के राज्य का सूबा बना[1]। विग्रहराज के पीछे ऊपर लिखे हुए राजा नहीं, किंतु अमरगांगेय (अपरगांगेय, अमरगंगू), पृथ्वीराज दूसरा (पृथ्वीभट्ट), सोमेश्वर और पृथ्वीराज (तीसरा) क्रमशः अजमेर के राज्य के स्वामी हुए थे[2]। अबुलफ़ज़ल दिल्ली के बसाये जाने का संवत् ४२९ मानता है, यह भी विश्वास के योग्य नहीं है। यह प्रसिद्धि चली आती है कि तंवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसी ने वहां की विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते हैं और जो वर्त्तमान दिल्ली से ९ मील दूर मिहरोली गांव के पास कुतुब मीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहां खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चंद्र (चंद्रगुप्त दूसरे) का है जिसने वह लाट उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप से स्थापित की थी[3]। उसपर छोटे छोटे और भी पिछले लेख खुदे हैं जिनमें से एक 'संवत् दिल्ली ११०९ अनंगपाल वही' है। उससे पाया जाता है कि उक्त लेख के खुदवाए जाने के समय अनंगपाल का उक्त संवत् में दिल्ली बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाब की पाल पर अनंगपाल के बनाये हुए एक मंदिर के स्तंभ अब तक खड़े हैं जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम भी खुदा हुआ है। पृथ्वीराज रासे के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना, उसी से पृथ्वीराज का जन्म होना तथा

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०५ और टिप्पण ४२।

(२) वही; भाग १, पृ० ३९३।

(३) देखो ऊपर पृ० ११८-१९।

उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नहीं किंतु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी[1]। जयपुर राज्य का एक अंश अब तक तंवरों के नाम से तोरावाटी या तंवरावाटी कहलाता है और वहां तंवरों के ठिकाने हैं। वहां के तंवर दिल्ली के तंवरों के वंशधर माने जाते हैं और उनमें मुख्य ठिकाना पाटण का है। दिल्ली के तंवरों के वंशजों की दूसरी शाखा के तंवर वीरसिंह ने वि० सं० १४३२ (ई० स० १३७५) के आसपास दिल्ली के सुलतान फ़ीरोज़शाह तुग़लक की सेवा में रहकर ग्वालियर पर अपना अधिकार जमाया और अनुमान १८० वर्ष बाद मानसिंह के पुत्र विक्रमादित्य के समय वह क़िला पीछा मुसलमानों ने ले लिया। विक्रमादित्य के पीछे उसके पुत्र रामसाह ने ग्वालियर का क़िला फिर लेना चाहा, परन्तु उसमें सफलता न होने पर वह अपने तीन पुत्रों—शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह—सहित मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया[2] और वि० सं० १६३३ (ई० स० १५७६) में महाराणा प्रतापसिंह के पक्ष में रहकर हलदीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई में अकबर की सेना से लड़कर अपने दो पुत्रों सहित काम आया। केवल उसका एक पुत्र शालिवाहन बचने पाया। शालिवाहन के दो पुत्र श्यामसाह और मित्रसेन अकबर की सेवा में रहे। श्यामसाह के दो पुत्र संग्रामसाही और नारायणदास हुए। संग्रामसाही का पुत्र किशनसिंह और उसके दो पुत्र विजयसिंह और हरिसिंह हुए जो मेवाड़ के महाराणा के पास जा रहे थे। विजयसिंह का देहान्त वि० सं० १७८१ में हुआ।

भाटों को कछवाहों की ख्यात लिखते समय इतना तो ज्ञात था कि कछवाहे ग्वालियर से राजपूताने में आये, और पीछे से ग्वालियर पर तंवरों का राज्य भी रहा, परंतु उनको इस बात का पता न था कि कछवाहे ग्वालियर से कब और किस तरह राजपूताने में आये, और तंवर कब और कैसे ग्वालियर के स्वामी हुए, जिससे उन्होंने यह कथा गढ़ंत कर ली कि ग्वालियर के कछवाहा राजा ईशासिंह ने वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने भानजे जैसा (जयसिंह) तंवर को दान कर दिया। फिर ईशासिंह के पुत्र सोढदेव ने ग्वालियर

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९९—४०० ।

(२) ग्वालियर के तंवरों के लिये देखो हिं. टॉ. रा.;

से आकर द्यौसा (जयपुर राज्य में) में अपने बाहुबल द्वारा अपना नया राज्य वि० सं० १०२३ में स्थिर किया। यह सारी कथा कल्पित है, न तो ईशासिंह ने अपना ग्वालियर का राज्य तंवरों को दिया और न तंवरों का राज्य उस समय वहां था। ईशासिंह के पीछे भी ग्वालियर पर कछवाहों का ही राज्य रहा और वहां के राजा मंगलराज के पुत्र कीर्तिराज के छोटे भाई सुमित्र का पांचवां वंशधर ईशासिंह द्यौसा में आया और उसे छीनकर प्रथम वहां का स्वामी हुआ। इस विषय का विशेष वृत्तांत हम जयपुर राज्य के इतिहास के प्रारंभ में लिखेंगे।

दहिया वंश

संस्कृत शिलालेखों में इस वंश का नाम 'दधीचिक,' 'दहियक' या 'दधीच' मिलता है और भाषा में दहिया कहते हैं। जोधपुर राज्य में पर्वतसर से चार मील उत्तर किनसरिया गांव के पास की पहाड़ी पर केवाय माता के मंदिर के सभामंडप में लगे हुए दहियावंशी सामंत चच्च के वि० सं० १०५६ के शिलालेख में उक्त वंश की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'देवताओं के द्वारा प्रहरण (शस्त्र) की प्रार्थना किये जाने पर जिस दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियां दे दी थीं उनके वंशज दधीचिक कहलाये'। उक्त शिलालेख में दहियों का वृत्तांत नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

'दधीचिक वंश में मेघनाद हुआ जिसने युद्धक्षेत्र में बड़ी वीरता बतलाई; उसकी स्त्री मासटा से बड़े दानी और वीर वैरिसिंह का जन्म हुआ, जिसकी धर्मपत्नी दुंदा से चच्च उत्पन्न हुआ। उसने वि० सं० १०५६ वैशाख सुदि ३ को ऊपर लिखा हुआ भवानी का मंदिर बनवाया[1]। उसके दो पुत्र यशःपुष्ट और उद्धरण हुए। चच्च (सांभर के) चौहान राजा सिंहराज के पुत्र दुर्लभराज का सामंत था।

दहियों का दूसरा शिलालेख उसी मंदिर के पास के एक स्मारक-स्तंभ पर खुदा हुआ है जिसका आशय यह है कि वि० सं० १३०० ज्येष्ठ सुदि १३ सोमवार के दिन दहिया रा (राणा) कीर्तसी (कीर्तिसिंह) का पुत्र रा विकंन (विक्रम) राणी नाइलदेवी सहित स्वर्ग को सिधारा। उक्त रा० के पुत्र जगधर ने माता पिता के निमित्त यह (स्थान, स्मारक) बनवाया[2]।

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० ५६-६१। (२) ए. इं; जि० १२, पृ० ५८।

दहियों का तीसरा शिलालेख मंगलाणे (जोधपुर राज्य के मारोठ ज़िले में) से वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ वदि ११ रविवार का मिला है जो उस वंश के महामंडलेश्वर कदुवराज के पुत्र पद्मसिंह (पद्मसिंह) के बेटे महाराजपुत्र जयत्रस्यंह (जयंतसिंह) का है। उस समय रणस्तंभपुर (रणथंभोर, जयपुर राज्य में) का राजा चौहान वाल्हणदेव था[1]। अब तक दहियों के यही तीन शिलालेख मिले हैं।

मुंहणोत नैणसी ने पर्वतसर (जोधपुर राज्य में) में रहते समय दहियों का वृत्तांत अपनी ख्यात के लिये वि० सं० १७२२ के आसोज महीने में संग्रह किया। उसने लिखा है कि 'दहियों का मूल निवासस्थान नासिक-त्र्यंबक के पास होकर बहनेवाली गोदावरी नदी के निकट थालनेरगढ़ था। दहियों के ठिकाने देरावर, पर्वतसर (जोधपुर राज्य में), सावर, घटियाली (अजमेर ज़िले में), हरसोर और मारोठ (दोनों जोधपुर राज्य में) थे। नैणसी ने दधीच के पीछे की इनकी वंशावली इस प्रकार दी है—

दधीच, विमलराजा, सिवर, कुलखत (?), अतर, अजैवांह (अजयवाह), विजैवाह, सुसल, सालवाहन (शालिवाहन) जिसकी राणी हंसावली थी, नरघाण, देड मंडलीक (देरावर में हुआ), चूहड मंडलीक, गुणरंग मंडलीक, देराव (देवराज) राणा, भरह राणा, रोह राणा, कडचाराव (कडुचराव) राणा, कीरतसी (कीर्तिसिंह) राणा, वैरसी (वैरिसिंह) राणा और चाच राणा। इसने गांव सिणहड़िया (किनसरिया) के पास की पहाड़ी पर देवी का मंदिर बनवाया। उधरण, (उद्धरण) पर्वतसर और मारोठ का स्वामी हुआ आदि[2] (आगे १७ नाम और भी दिये हैं)। नैणसी की वंशावली में जिसको कीरतसी लिखा है उसको किनसरिया के शिलालेख में मेघनाद कहा है। ये दोनों नाम एक ही राजा के हो सकते हैं, क्योंकि उसके पीछे के तीनों नाम नैणसी और शिलालेख में बराबर मिलते हैं; ऐसी दशा में नैणसी की दहियों की पिछली वंशावली विश्वास के योग्य है। अब तो दहियों का एक ठिकाना सिरोही राज्य में कैर नाम का है। जालोर का गढ़ (जोधपुर राज्य में) भी दहियों का बनाया हुआ माना जाता है। अब जोधपुर राज्य के जालोर, बाली, जसवंतपुरा, पाली, सिवाना, सांचोर और मालानी ज़िले में दहिये हैं, परंतु वहां उनकी जागीरें नहीं रहीं हैं।

(१) इं. एँ; जि० ४१, पृ० ८७-८८।

(२) नैणसी की ख्यात; पत्र २६।

दाहिमा वंश

जोधपुर राज्य के गोठ और मांगलोद गांवों के बीच दधिमती माता का प्रसिद्ध मंदिर बहुत प्राचीन है। इस मंदिर के आसपास का प्रदेश प्राचीन काल में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र कहलाता था। उस क्षेत्र में से निकले हुए ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट कहलाये, जैसे कि श्रीमाल (भीनमाल) नगर के नाम से श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन, श्रीमाली जड़िये आदि। दाहिमे राजपूतों का प्राचीन काल में कोई बड़ा राज्य नहीं रहा, वे सामंतों की दशा में ही रहे। राजपूताने में इस वंश का अब तक कोई शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला है। चौहान पृथ्वीराज के मंत्री कैमास (कदंबवास) का दाहिमा होना माना जाता है। अब तो उनकी कोई जागीर भी नहीं है।

निकुंप वंश

निकुंप या निकुंभ राजपूत सूर्यवंशी हैं। वे अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी राजा निकुंभ से मानते हैं। निकुंभवंशियों का राज्य वि० सं० की १२वीं और १३वीं शताब्दी में बंबई इहाते के खानदेश ज़िले में रहा, जिनके ताम्रपत्रादि में वहां के राजाओं की वंशावली मिलती है[1]। राजपूताने में भी पहले निकुंभवंशी । अलवर, और जयपुर राज्य के उत्तरी विभाग पर उनका अधिकार होना वहां पर उनका कई गढ़ बनवाना अब तक प्रसिद्ध है। पहले जयपुर की तरफ का उनका इलाक़ा मुसलमानों ने छीन लिया था, तो भी अलवर की ओर उनका अधिकार बना रहा, परंतु लोदियों के समय में वह भी मुसलमानों के हाथ में चला गया। मेवाड़ के मांडलगढ़ ज़िले में भी पहले उनकी जागीर थी। अब तो राजपूताने में न तो निकुंभों की कोई जागीर है और न कोई निकुंभ-वंशी रहा है। हरदोई ज़िले में निकुंभों का ठिकाना विरवा-हथौरा है। पहले ये दोनों ठिकाने अलग अलग थे, परंतु पीछे से मिल गये। वहां के निकुंपवंशी अलवर के इलाक़े से अपना वहां जाना बतलाते हैं। सरनेत भी निकुंपों की एक शाखा मानी जाती है, जिनके ठिकाने सतासी, आंवला और गोरखपुर (ज़िला गोरखपुर, युक्त प्रान्त में) हैं।

---

(१) इं. ऍ. रा.; प्रथम खंड, पृ० ४१०-११।

डोडिया वंश

संस्कृत शिलालेखों तथा एक दानपत्र में इस वंश का नाम डोड मिलता है और राजपूताने के लोगों में डोडिया नाम प्रसिद्ध है। डोडिये परमारों की शाखा में माने जाते हैं और वे भी अपनी उत्पत्ति आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड के मंडप में लगे हुए केले के डोडे से होना बतलाते हैं, जो असंभव है, परंतु यह कथन उनका परमारों की शाखा में होना प्रकट करता है। बुलंदशहर से, जिसका प्राचीन नाम वारण था, मिले हुए वि० सं० १२३३ के दानपत्र में डोड वंश के राजाओं की १६ पीढ़ियों के नाम मिलते हैं[1]। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में ग़ज़नी के सुलतान महमूद (ग़ज़नवी) ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय मथुरा नगर बुलंदशहर (वारण) के राजा हरदत्त डोड के अधिकार में था[2]। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) ने वि० सं० १२०७ के आसपास दिल्ली का राज्य और हांसी का क़िला लेकर उनको अजमेर के राज्य में मिलाया। विग्रहराज के पीछे पृथ्वीराज (दूसरे, पृथ्वीभट) के समय हांसी का क़िला उसके मामा गुहिलवंशी किल्हण के शासन में था। पृथ्वीराज (दूसरे) के समय के वि० सं० १२२४ माघ सुदि ७ के हांसी के शिलालेख से पाया जाता है कि वहां का क़िला किल्हण ने डोडवंशी वल्ह के पुत्र लक्ष्मण की अध्यक्षता में तैयार कराया था[3]। उदयपुर राज्य में जहाज़पुर ज़िले के आंवलदा गांव से मिले हुए चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ के शिलालेख में डोड रा(राव) सिंघ रा (सिंहराव) के पुत्र सिंदराउ (सिंदराव) का नाम मिलता है[4]। गागरौन (कोटा राज्य में) में भी पहले डोडियों का

---

(१) उक्त शिलालेख में डोडवंशी राजाओं के ये नाम क्रमशः दिये हैं—
चंद्रक (?), धरणीवराह, प्रभास, भैरव, रुद्र, गोविंदराज, यशोधर, हरदत्त, त्रिभुवनादित्य, भोगादित्य, कुलादित्य, विक्रमादित्य, पद्मादित्य, भोजदेव, सहजादित्य (राजराज) और अनंग। अनंग वि० सं० १२३३ के वैशाख में विद्यमान था।

(२) इलियट; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० २, पृ० ४५६।

(३) ई. ऐं; जि० ४१, पृ० १६।

(४) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०३, टिप्पण ४०। मेवाड़ (उदयपुर राज्य) के पूर्वी विभाग तथा हाड़ौती में चौहानों के समय डोडियों की जागीरें थीं, जो खीचियों ने छीन लीं और उनसे हाड़ों ने लीं ऐसी प्रसिद्धि है (ई. ऐं; जि० ४१, पृ० १८)

अधिकार होना माना जाता है। अब राजपूताने में उदयपुर राज्य के अंतर्गत डोडियों का एक ठिकाना सरदारगढ़ (लावा[1]) है जो वहां के प्रथम श्रेणी के सरदारों में है और वहां के डोडिये काठियावाड़ से मेवाड़ में आये हैं ऐसा माना जाता है। अब डोडियों की जागीरें मध्यभारत में चांपानेर (पूरावत), गुदरखेड़ा (सादावत), मुंडावल (पूरावत), पिपलोदा, ताल और ऊणी (सभी मालवा एजेंसी में) हैं।

गौड़ वंश

प्राचीन काल में भारतवर्ष में गौड़ नाम के दो देश थे-एक तो पश्चिमी बंगाल, और दूसरा उत्तर कोसल अर्थात् अवध (अयोध्या) का एक विभाग। अवधवाले गौड़ देश[2] के निवासी ब्राह्मण, राजपूत आदि गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ, गौड़ चमार आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। राजपूताने के गौड़ राजपूत और ब्राह्मण संभवतः अवध के गौड़ होने चाहियें न कि बंगाल के। उनकी उत्पत्ति भाटों की ख्यातों में स्वायंभुव मनु से बतलाई गई है और वे चंद्रवंशी माने जाते हैं। राजपूताने में गौड़ बहुत प्राचीन काल में आये हों ऐसा प्रतीत होता है। जोधपुर राज्य का एक इलाक़ा गोड़वाड़ नाम से प्रसिद्ध है, जो प्राचीन काल में गौड़ों का वहां अधिकार होना बतलाता है। अजमेर ज़िले

(१) श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने हांसी के शिलालेख का संपादन करते ... ५ लावा (टोंक के निकट) के जागीरदार को डोडिया लिखा है यह भ्रम है। उक्त लावा के सरदार नरूका शाखा के कछवाहा राजपूत हैं।

(२) पुराणों से पाया जाता है कि श्रावस्ती नगरी गौड़ देश में थी।

श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत् ।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय १२।

अवध के गोंडा (गौड़) ज़िले में सहेठ और महेठ गावों की सीमा पर कोसल (उत्तर कोसल) देश का प्रसिद्ध श्रावस्ती नगर था और इक्ष्वाकुवंशी राजा श्रावस्त (शावस्त) ने उसे बसाया था। बौद्धों का प्रसिद्ध जेतवन विहार यहीं था, जहां बुद्धदेव ने निवास किया, जिससे वह विहार बौद्धों में बड़ा ही पवित्र माना जाता था। अल्बेरूनी ने थाणेश्वर देश का नाम गोड़ (गौड़) दिया है (एडवर्ड साचू; 'अल्बेरूनीज़ इंडिया'; जि० १, पृ० ३००)। थाणेश्वर के राज्य का विस्तार दूर दूर तक फैला हुआ था और कन्नौज तथा श्रावस्ती हर्ष के समय उसी के अंतर्गत थे।

में गौड़ों की जागीरें पहले थीं, अब तो केवल एक ठिकाना राजगढ़ ही उनके अधिकार में रह गया है। अजमेर के गौड़ प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज के समय अपना राजपूताने में आना मानते हैं और उनका कथन है कि उनके पूर्वज वछराज और वामन यहां आये। वछराज की संतान अजमेरे में और वामन की कुचामण (जोधपुर राज्य में) में रही। अजमेर के गौड़ों के अधीन पहले जूनिया, सावर, देवलिया और श्रीनगर के इलाके थे, परंतु पीछे से श्रीनगर के सिवा सब इलाके उनके अधिकार से निकल गये। उनकी शृंखलाबद्ध नामावली नहीं मिलती। राजा गोपालदास गौड़ बादशाह जहांगीर के समय आसेर का क़िलेदार था और जब बादशाह और उसके बेटे ख़ुर्रम (शाहजहां) के बीच अनबन हुई उस समय गोपालदास अपने ज्येष्ठ पुत्र विक्रम सहित शाहज़ादे के साथ रहा था और ठट्ठे की लड़ाई में वे दोनों बड़ी वीरता से लड़कर काम आये थे। गोपालदास के मारे जाने पर उसका दूसरा बेटा विट्ठलदास जूनिया में शाहज़ादे के पास हाज़िर हुआ तो शाहज़ादे ने उसकी बहुत कुछ तसल्ली की और बहुतसा इनाम इकराम दिया। शाहजहां ने तख़्त पर बैठने के पीछे उसको ३००० ज़ात और १५०० सवार का मनसब[1] दिया। फिर उसकी

(१) बादशाह अकबर के पहले दिल्ली के मुसलमान सुलतानों ने हिंदुओं को सैनिक सेवा के उच्च पदों पर बहुधा नियत न किया, परंतु अकबर ने उनकी इस नीति को हानिकारक जानकर अपनी सेना में सुन्नी, शिया, और राजपूतों (हिंदुओं) के तीन दल इसी विचार से रक्खे कि यदि कोई एक दल बादशाह के प्रतिकूल हो जाय, तो दूसरे दल उसको दबाने में समर्थ हो सकें। इस सिद्धांत को सामने रखकर अकबर ने सैनिक सेवा के लिये मनसब का तरीक़ा जारी किया और कई हिंदू राजाओं, सरदारों तथा योग्य राजपूतों आदि को भिन्न भिन्न पदों के मनसबों पर नियत किया।

पहले तो अमीरों के दर्जे नियत न थे और न यह नियम था कि कौनसा अमीर कितना लवाज़मा रक्खे और क्या तनख़्वाह पावे। अकबर ने फौजी प्रबन्ध के लिए ६६ मनसब नियत किये और अपने अमीरों, राजाओं, सरदारों और जागीरदारों आदि को अलग अलग दर्जे के मनसब देकर भिन्न भिन्न मनसबों के अनुसार मनसबदारों की तनख़्वाह और लवाज़मा भी नियत कर दिया। ये मनसब १०००० से लगाकर १० तक थे। प्रारंभ में शाहज़ादों के सिवा किसी को ५००० से ऊपर का मनसब नहीं मिलता था, परंतु पीछे इस नियम का पालन नहीं हुआ, क्योंकि राजा टोडरमल और कछवाहा राजा मानसिंह को भी सातहज़ारी मनसब मिला था और शाहज़ादों का मनसब १०००० से ऊपर बढ़ा दिया गया था।

ये मनसब ज़ाती थे और इनके सिवा सवार अलग होते थे जिनकी संख्या ज़ाती

प्रति दिन उन्नति होती गई, और बादशाह के राज्यवर्ष चौथे, अर्थात् सन् ४ जुलूस (वि० सं० १६८७-८८) में वह रणथंभोर के क़िले का हाकिम नियत हुआ। सन् ६ जुलूस (वि० सं० १६८९-९०) में मिरज़ा मुज़फ़्फ़र किरमानी की जगह अजमेर का फौजदार, और सन् ८ जुलूस (वि० सं० १६९१-९२) में अजमेर का सूबेदार नियत हुआ। वही इलाक़ा उसकी जागीर का था। सन् १४ जुलूस (वि० सं० १६९७-९८) में वज़ीरखां सूबेदार के मरने पर वह अकबराबाद (आगरे) का क़िलेदार और सुबेदार बना और उसका मनसब ५००० ज़ात और ४००० सवार का हो गया। मरने के पहले उसका मनसब ५००० ज़ात और ५००० सवार तक पहुंच गया था। वह कई लड़ाइयों में शाहज़ादे शुजा और औरंगज़ेब

मनसब से अधिक नहीं किंतु कम ही रहती थी, जैसे हज़ारी ज़ात, ७०० सवार; तीन हज़ारी ज़ात, २००० सवार आदि। कभी कभी ज़ाती मनसब के बराबर सवारों की संख्या भी, लड़ाई आदि में अच्छी सेवा बजाने पर, बढ़ा दी जाती, परंतु ज़ात से सवारों की संख्या प्रायः न्यून ही रहती थी। अलबत्ता सवार दो अस्पा, से (तीन) अस्पा, कर दिये जाते थे। दो अस्पा सवारों की तनख़्वाह मामूल से डेढ़ी और से अस्पा की दूनी मिलती थी, जिससे मनसबदारों को फायदा पहुंच जाता था। बादशाह के प्रसन्न होने पर मनसब बढ़ा दिया जाता और अप्रसन्न होने पर घटा दिया या छीन भी लिया जाता था। मनसब के अनुसार माहवारी तनख़्वाह या जागीर मिलती थी। प्रत्येक मनसब के साथ घोड़े, हाथी, ऊंट, खच्चर और गाड़ियों की संख्या नियत होती थी और मनसबदार को ठीक उतनी ही संख्या में वे रखने पड़ते थे, जैसे कि—

दस हज़ारी मनसबदार को ६६० घोड़े, २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर और ३२० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसकी माहवार तनख़्वाह ६००००) रु० होता था।

पांच हज़ारी को ३३७ घोड़े, १०० हाथी, ८० ऊंट, २० खच्चर और १६० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ३००००) रु० होता था।

एक हज़ारी को १०४ घोड़े, ३० हाथी, २१ ऊंट, ४ खच्चर और ४२ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और ८०००) रुपये मासिक तनख़्वाह मिलती थी।

एक सदी (१००) वाले को १० घोड़े, ३ हाथी, २ ऊंट, १ खच्चर और ५ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ७००) रुपये होता था।

घोड़े अरबी, इराक़ी, मुजन्नस, तुर्की, टट्टू, ताज़ी और जंगला रक्खे जाते थे। उनमें से प्रत्येक जाति की संख्या भी नियत रहती और जाति के अनुसार प्रत्येक घोड़े की तनख़्वाह अलग अलग होती थी जैसे कि अरबी की १८) रुपये माहवार तो जंगले की ६) रुपये। इसी तरह हाथी भी अलग अलग जाति के अर्थात् मस्त, शेरगीर, सादा, मंझोला, करहा,

के साथ नियत हुआ था। सन् १५ जुलूस (वि० सं० १७०६) में उसका अन्त हुआ। उसके ४ पुत्र अनिरुद्ध, अर्जुन, भीम और हरजस थे। अनिरुद्ध अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। वह बादशाही सेवा में रहकर अपने अच्छे कामों से २५०० ज़ात व ३००० सवार तक के मनसब तक पहुंच गया था। आलमगीर (औरंगज़ेब) के राज्य-समय यह शुजा पर की चढ़ाई में हि० स० १०६९ (वि० सं० १७१६-१७) में नियत हुआ और आगरे से रवाना होकर रास्ते में ही मर गया। उसके वंशजों का वृत्तांत हम अजमेर के इतिहास में लिखेंगे।

फुंदरकिया और म्योकल होते थे और उनकी तनख़्वाह भी जाति के अनुसार अलग अलग नियत थी, जैसे मस्त के ३३) रुपये माहवार तो म्योकल कीं ७) रुपये माहवार तनख़्वाह थी। ऊंट की माहवार तनख़्वाह ६) रुपये, खच्चर की ३) और गाड़ी की १५) रुपये थी।

सवारों के अनुसार मनसब के तीन दर्जे होते थे। जिसके सवार मनसब (ज़ात) के बराबर होते वह प्रथम श्रेणी का; जिसके सवार मनसब से आधे या उससे अधिक होते वह दूसरी श्रेणी का, और जिसके आधे से कम होते वह तीसरी श्रेणी का माना जाता था। इन श्रेणियों के अनुसार मनसबदार की माहवारी तनख़्वाह में भी थोड़ासा अंतर रहता था, जैसे कि प्रथम श्रेणी के ५ हज़ारी मनसबदार की माहवारी तनख़्वाह ३००००) रुपये तो दूसरी श्रेणीवाले की २९०००) और तीसरी श्रेणीवाले की २८०००) होती। इसी तरह घोड़ों के सवारों की तनख़्वाह भी घोड़ों की जाति के अनुसार अलग अलग होती थी। जिसके पास इराक़ी घोड़ा होता उसको ३०) रुपये माहवार, मुजन्नसवाले को २५), तुर्कीवाले को २०), टट्टूवाले को १८), ताज़ीवाले को १५) और जंगलेवाले को १२) रुपये माहवार मिलते थे। घोड़ों के दाग़ भी लगाये जाते और उनकी हाज़री भी ली जाती थी। यदि नियत संख्या से घोड़े आदि कम निकलते तो उनकी तनख़्वाह काट ली जाती थी। मनसबदारी का यह तरीक़ा अकबर के पीछे ढीला पड़ गया और बाद में तो नाममात्र को प्रतिष्ठा-सूचक ख़िताब सा हो गया था।

मनसब का यह वृत्तांत पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा और वे अवश्य ही यह प्रश्न करेंगे कि दस हज़ारी मनसबदार अपने मासिक वेतन ६००००) रुपये में ६६० घोड़े (सवार और साज सहित), २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर और ३२० गाड़ियां, सैनिक सेवा के लिये, उत्तम स्थिति में कैसे रख सकता था? परंतु इसमें आश्चर्य्य जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय प्रत्येक वस्तु बहुत सस्ती मिलती थी अर्थात् जो चीज़ उस वक्त एक आने में मिलती थी उतनी आज एक रुपये को भी नहीं मिल सकती है। बिलकुल साधारण स्थिति के मनुष्य को भी उस समय बहुत ही थोड़े व्यय में उत्तम खाद्य पदार्थ तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं मिल सकती थीं। 'आईने अकबरी' में अकबर के राज्य के प्रत्येक सूबे की उन्नीस वर्ष (सन् जुलूस या राज्यवर्ष ६ से २४=वि० सं० १६१७ से १६३५ तक) की भिन्न भिन्न वस्तुओं की दर नीचे लिखे अनुसार दी है—

अनिरुद्ध के तीनों भाई भी बादशाही चाकरी में रहे और उन्होंने भी मनसब पाये थे। अनिरुद्ध के भाई अर्जुन ने जोधपुर के राजा गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र प्रसिद्ध अमरसिंह राठोड़ को, जिसने शाहजहां बादशाह के दरबार में मीर बख़शी सलाबतख़ां का कटार से काम तमाम किया, मारा था।

अजमेर के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में मारोठ के आसपास के प्रदेश में भी गौड़ों का पहले अधिकार रहा था जिससे वह प्रदेश अब तक गौड़ाटी

पदार्थ		भाव			
		रु०	आ०	पा०	
गेहूं	...	०	४	६	मन
काबुली चने	...	०	६	३	,,
देशी चने	...	०	३	३	,,
मसूर	...	०	४	९	,,
जौ	...	०	३	३	,,
चावल (बढ़िया)	...	२	४	०	,,
चावल (घटिया)	...	१	०	०	,,
साठी चावल	...	०	३	३	,,
मूंग	...	०	७	३	,,
उड़द	...	०	६	६	,,
मौठ	...	०	४	६	,,
तिल	...	०	६	६	,,
जवार	...	०	४	०	,,
मैदा	...	०	८	९	,,
बकरी का मांस	...	१	१०	०	,,
बकरे का मांस	...	१	५	६	,,
घी	...	२	१०	०	,,
तेल	...	२	०	०	,,
दूध	...	०	१०	०	,,
दही	...	०	७	०	,,
शक्कर (सफ़ेद)	...	३	२	३	,,

पदार्थ		भाव			
		रु०	आ०	पा०	
शक्कर (लाल)	...	१	६	६	मन
नमक	...	०	६	६	,,
मिरच	...	१	६	६	,,
पालक	...	०	६	६	,,
पुदीना	...	१	०	०	,,
कांदा	...	०	२	६	,,
लहसुन	...	१	०	०	,,
अंगूर	...	२	०	०	,,
अनार (विलायती)		६	८	० से	,,
		१५	०	०	
खरबूज़ा	...	१	०	०	,,
किशमिश	...	०	३	६	सेर
सुपारी	...	०	१	६	,,
बादाम	...	०	४	६	,,
पिस्ता	...	०	३	६	,,
अखरोट	...	०	२	०	,,
चिरौंजी	...	०	७	६	,,
मिसरी	...	०	२	६	,,
कंद (सफेद)	...	०	२	३	,,
केसर	...	१०	०	०	,,
हलदी	...	०	०	३	,,

अकबर के समय का मन, २६ सेर १० छटांक अंग्रेज़ी के बराबर होता था और अकबरी रुपया भी कलदार से न्यून नहीं था। उपर्युक्त भाव देखकर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि उस समय मनसबदार और उनके सैनिक साथी अपना निर्वाह भलीभांति किस प्रकार कर सकते थे। मज़दूरों और नौकरों के वेतन का भी अनुमान इसी से किया जा सकता है।

(गौड़ावाटी) कहलाता है। राजपूताने के बाहर गौड़ों की ज़मींदारी आगरा अवध आदि ज़िलों में हैं।

राजपूताने के साथ संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का बहुत ही संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में केवल इस अभिप्राय से दिया गया है कि उसके पढ़ने से पाठकों को यह ज्ञात हो जाय कि प्रचलित बड़वे भाटों की ख्यातें और रासा आदि पुस्तकें कितनी अशुद्ध और कपोलकल्पित हैं। इस अध्याय में दिये हुए प्राचीन राजवंशों में से अधिकतर का तो नाम निशान भी उनमें नहीं मिलता और जिन वंशों की वंशावलियां और संवत् उनमें दिये हैं वे प्रायः कृत्रिम और मनमाने हैं। इतिहास के अंधकार में उन लोगों ने कैसी कैसी निराधार कथाओं को इतिहास के नाम से उनमें भर दी हैं और अब तक राजपूत जाति उन्हीं पर विश्वास करती चली आ रही है। वे देशी और विदेशी विद्वान् बड़े धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके शोध ने भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालकर उसे किसी प्रकार अंधकार में से निकाला है। प्राचीन शिलालेख और दानपत्र जो पहले केवल धन के बीजक समझे जाते, जिनके रहस्य प्रायः गुप्त और लुप्त ही से थे और जिनकी लिपि को देखकर लोग आश्चर्य के साथ नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाएं उनके विषय में करते थे, उन्हीं के द्वारा आज हमारा सच्चा इतिहास कितने एक अंश में प्राप्त हो गया है। प्राचीन शोध के पूर्व किसको मालूम था कि मौर्यवंशी महाराजा चन्द्रगुप्त और अशोक किस समय और कैसे प्रतापशाली हुए, गुप्तवंशी समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त (दूसरे) ने कहां कहां विजय प्राप्त की, हर्षवर्द्धन ने कैसे कैसे काम किये; प्रतिहारों ने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य कब लिया, उनका साम्राज्य कैसा बढ़ा चढ़ा रहा; और भारत के विविध राजवंशों में कौन कौन राजा कब कब हुए। केवल पौराणिक कथाओं और प्रचलित रिवायतों (दंतकथाओं) में कितने एक प्रसिद्ध राजाओं के जो नाम वंशपरंपरा से सुनते आते थे उनके साथ अनेक कल्पित नाम जोड़कर वि० सं० के प्रारंभ से लगाकर नवीं और दसवीं शताब्दी या उसके [illegible] होनेवाले राजाओं का समय हज़ारों वर्ष पहले का ठहरा दिया और [illegible] घटनाओं को सतयुग की बतलाकर कई पुराने महल, मंदिर, गुफा [illegible] को पांडवों, संप्रति, विक्रमादित्य, भर्तरी (भर्तृहरि) आदि [illegible] हुए प्रसिद्ध कर दिये।

हम ऊपर लिख आये हैं कि राजपूताने में प्राचीन शोध का काम अब तक नाममात्र को ही हुआ है। संभव है कि आगे विशेष रूप से खोज होने पर फिर अनेक नवीन वृत्त प्रकट होकर राजपूताने का प्राचीन इतिहास शुद्धता के साथ लिखे जाने में सहायक होंगे। आज तक जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई उसी के आधार पर हमने राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का नाम-मात्र का परिचय ही ऊपर दिया है।

चौथा अध्याय

मुसलमान, मरहटों और अंग्रेज़ों का राजपूताने से संबंध

मुसलमानों का संबंध

विक्रम संवत् की तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक राजपूताने के प्रत्येक विभाग पर प्रायः राजपूत राजा ही राज्य करते थे। यद्यपि उससे पूर्व ही मुसलमानों के हमले इस देश पर होने शुरू हो गये थे और उन्होंने सिंध तथा उत्तरी सीमान्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था तो भी वहां के राजपूत अवसर पाकर उनको अपने इलाक़ों में से निकाल भी देते थे। राजपूताने के साथ मुसलमानों के संबंध का वर्णन करने के पूर्व मुसलमानों की उत्पत्ति के विषय में थोड़ासा कथन करना अन्यथा न होगा।

अरब देश में भी पहले हिंदुस्तान के तुल्य ही भिन्न भिन्न जातियां थीं और उनमें धर्मभेद भी था। वहां के निवासी कई देवी देवताओं की मूर्तियों को पूजते और देश में कई छोटे बड़े राजा व सरदार थे जिनमें निरंतर लड़ाई झगड़े होते रहते थे। वहां की साधारण जनता प्रायः असभ्य और अशिक्षित थी। वि० सं० ६२८ (ई० स० ५७१) में कुरैश जाति में मुहम्मद नामक एक महापुरुष ने जन्म लिया। सयाने होने पर उन्होंने देखा कि मतभेद और लड़ाई झगड़े देश का नाश कर रहे हैं, परस्पर की फूट और वैरभाव ने देशवासियों के हृदय में घर कर रक्खा है और लोग यद्यपि वीरप्रकृति के हैं, परंतु अंधविश्वासों से पदाक्रांत हो रहे हैं। उन महात्मा ने बीड़ा उठाया कि मैं मूर्तिपूजन को उठा दूंगा, अपने देश-बांधवों को एकेश्वरवादी बनाकर उनके मतभेद को तोड़ दूंगा और दीन हीन दशा में डूबे हुए लोगों के लिये एक ही धर्म स्थापित कर उनकी दशा उन्नत कर दूंगा। ऐसा दृढ संकल्प कर उन्होंने वि० सं० ६६७ (ई० स० ६१०) में अपने तईं ईश्वर-प्रेरित पैग़ंबर प्रकट किया और क़ुरान को ईश्वरी आज्ञा बतलाकर किसी प्रकार के भेदभाव के बिना धनी व दीन सब को एक ही ईश्वर की प्रार्थना करने का उपदेश देने लगे। लोगों ने

पैगंबर मानकर उनकी बातों पर विश्वास किया और शनैः शनैः उनका प्रचार किया हुआ मत बढ़ने और ज़ोर पकड़ने लगा। स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के निमित्त अपने पक्षवालों को उकसा कर मुहम्मद साहब को नाना भांति के कष्ट पहुंचाने में कमी न की, यहां तक कि वैरभाव और आपत्ति के मारे उनको मक्का छोड़कर मदीने जाना पड़ा, तभी से अर्थात् वि० सं० ६७९ (ई० स० ६२२) से हिजरी सन्[1] का प्रारंभ हुआ। इतने पर भी वे अपने सिद्धांतों पर अटल बने रहे और अन्त में विजय प्राप्त कर उन्होंने अपने नाम का मुहम्मदी धर्म प्रचलित कर दिया। उनके अनुयायी परस्पर का वैरभाव छोड़ एकता के सूत्र में बंध गये, सहधर्मी भाई के नाते से उनमें परस्पर के प्रेम की वृद्धि हुई, उनका सामाजिक बल बढ़ा और अपने नेता के स्वर्गवास करने के पूर्व ही एकमत होकर उन्होंने अन्यान्य देशों में भी अपने धर्म को फैलाने के लिये उत्साह के साथ कार्यारम्भ किया। पैगंबर साहब के जीते जी ही इसलाम धर्म अरब के बहुत से विभाग में फैल चुका था और उनके अनुयायियों की एकता और धार्मिक दृढता के कारण उनका बल इतना बढ़ गया कि फिर तो वे खुल्लम खुल्ला तलवार के ज़ोर से अपने मत का प्रचार करने लगे और धर्म के नाम से अपना राजनैतिक बल बढ़ाकर अन्त में वे एक वीर जाति के स्वामी और देश के बड़े विभाग के शासक हो गये। उन्होंने अपने देशी भाइयों के साथ भी कई लड़ाइयां कीं और वे धन व ऐश्वर्य प्राप्त करने में सफल मनोरथ होकर हिजरी सन् ११ (वि० सं० ६८९=ई० स० ६३२) में ६२ बरस की उमर में स्वर्ग को सिधारे। उनके पीछे उनकी गद्दी पर बैठनेवाले खलीफा कहलाये। पहला खलीफा अबूबक्र सिद्दीक़ हुआ, जो मुहम्मद साहब की स्त्री आयशा का पिता था। वह हि० स० ११ से १३ (वि० सं० ६८९ से ६९१=ई० स० ६३२-३४) तक खलीफा रहा[2]।

(१) हिजरी सन् के लिये देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला; पृष्ठ १११-१२।

(२) अबूबक्र और उसके पीछे के तीन खलीफे, ये चारों (चहार) यार कहलाते थे—

उमर बिन खत्ताब (खत्ताब का बेटा उमर)-हि० स० १३ से २३ (वि० सं० ६९१ से ७०१=ई० स० ६३४-४४) तक।

उस्मान-हि० स० २४ से ३५ (वि० सं० ७०१ से ७१२=ई० स० ६४४-५५)

अली-हि० स० ३५ से ४० (वि० सं० ७१२ से ७१७=ई० स० ६५५-६१)।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार सीरिया, पैलेस्तान, मिसर और ईरान पर हो गया, जिसका मुख्य कारण उनके धर्म का यह आदेश था कि विधर्मियों को मारनेवाले को स्वर्ग मिलता है। ये लोग जहां पहुंचते वहां के लोगों को बलपूर्वक मुसलमान बनाते और जो अपना धर्म छोड़ना नहीं चाहते उनको मार डालने में ही सवाब (पुण्य) समझते थे। इसी से ईरान के कई कुटुंबों ने अपने धर्म की रक्षा के लिये समुद्र-मार्ग से भागकर हिन्दुस्तान में शरण ली जिनके वंशज यहां पारसी कहलाते हैं। ऐसे ही ये लोग जहां जहां पहुंचे वहां की प्राचीन सभ्यता को नष्ट कर वहां के महल, मंदिर, मूर्तियों आदि को तोड़कर मिटियामेल करते और बड़े बड़े पुस्तकालयों तक को जलाकर भस्म करते रहे[1]।

फिर तो खिलाफत की गद्दी के लिये आपस ही में लड़ाई झगड़े चलने लगे, सहधर्मी का नाता टूट गया और सांसारिक ऐश्वर्य तथा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन ने वही कार्य उनमें किया जो राज्यप्राप्ति के लिये संसार की अन्यान्य जातियों में होता आया है। खलीफा अली जब खिलाफत के तख्त पर बैठा तो

लोग उसको असली वारिस न समझकर उसके ख़िलाफ़ हुए। ख़ारिज़िन लोगों के साथ की लड़ाई में वह हारा और अंत में हि० स० ४० (वि० सं० ७१८=ई० स० ६६१) में मारा गया। उसकी मृत्यु के पीछे बहुतसे मुसलमानों ने उसका मत इख़्तियार किया और वे शिया नाम से प्रसिद्ध हुए। ईरान के मुसलमान और हिंदुस्तान के दाऊदी बोहरे इसी मत के माननेवाले हैं।

हम यहां मुहम्मदी मत का इतिहास नहीं लिखते कि जिससे उसमें होनेवाली घटनाओं का सविस्तर वर्णन करें; हमारा अभिप्राय राजपूताने के साथ मुसलमानों का संबंध बतलाने का है, तदनुसार अरब सेना का आगमन हिंदुस्तान में होने और वहां उनके राज्य स्थापित करने का संक्षेप रूप से वर्णन किया जाता है।

ख़लीफ़ा उमर के समय में अरब सेना समुद्र-मार्ग से बंबई के पास थाने तक आई जो उमान के हाकिम उस्मान बिन आसी ने बिना ख़लीफ़ा की आज्ञा के भेजी थी, इसलिये उमर ने उसे पीछी बुला ली और उस्मान को यह भी लिखा कि जो इस सेना ने हार खाई तो उसमें जितने सैनिक मारे जावेंगे उतने ही तेरी क़ौम के आदमियों को मैं मारूंगा[1]।

इसी अर्से में उस्मान के भाई ने भड़ौच पर सेना भेजी तो मार्ग में देवल (सिंध में) के पास चच (सिंध के राजा) ने उससे लड़ाई की। 'फ़तूहुल् बलदान' में तो लिखा है कि अरबों ने शत्रु को शिकस्त दी, परंतु 'चचनामे' में उल्लेख है कि इस युद्ध में अरब सेनापति मुग़ैरा अबुल् आसी मारा गया[2]।

फिर थोड़े ही समय पीछे इराक़ (बसरा) के हाकिम अबू मूसा अशाकी ने अपने एक अफ़सर को मकरान व किरमान में भेजा। ख़लीफ़ा ने अबू मूसा को हिन्द व सिंध का खुलासा हाल लिख भेजने की आज्ञा दी जिसपर उसने उत्तर लिखा कि हिंद व सिंध का राणा ज़बर्दस्त, अपने धर्म का पक्का, परंतु मन का मैला है। इसपर ख़लीफ़ा ने आज्ञा लिखी कि उसके साथ जिहाद (धर्म के लिये युद्ध) नहीं करना चाहिये[3]।

हि० स० २२ (वि० सं० ७००=ई० स० ६४३) में अब्दुल्ला बिन आमर ने किरमान

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० १, पृ० ४१५-१६।
(२) वही; पृ० ४१६।
(३) वही; पृ० ४१६।

और सिजिस्तान फतह कर सिंध में भी सेना भेजनी चाही, परंतु खलीफा ने उसे स्वीकार न किया[1]। खलीफा वलीद[2] के समय उसके एक सेनापति हारूं ने मकरान को विजय कर बहुतसे बिलोचों को मुसलमान बनाया। इस प्रकार हि० स० ८७ (वि० सं० ७६३=ई० स० ७०५-६) से वहां मुसलमानी धर्म का प्रचार हुआ और मुसलमान हिन्दुस्तान के निकट आ पहुंचे।

फिरिश्ता लिखता है कि पहले सरंदीप (सिंहलद्वीप, लंका) के व्यापारियों के जहाज़ अफ्रीका और लाल समुद्र (Red Sea) के तट पर तथा फारिस (ईरान) की खाड़ी में माल ले जाया करते थे और हिंदू यात्री भी मिसर और मक्का में अपने देवताओं की यात्रा के लिये जाया करते थे[3]। कहते हैं कि सरंदीप के निवासियों में से बहुतेरे शुरू ज़माने ही से मुहम्मदी मत के अनुयायी होकर मुसलमानों के मध्य (अरब में) उनका आना जाना जारी हो गया था। एक बार सरंदीप के राजा ने अपने देश की कई अमूल्य वस्तुओं से लदा हुआ एक जहाज़ बगदाद को, खलीफा वलीद के वास्ते, भेजा। देवल (सिंध में) पहुंचने पर वहां (ठट्टे) के राजा की आज्ञा से वह लूट लिया गया। उसके साथ सात जहाज़ और भी थे जिनमें कई मुसलमान कुटुम्ब थे जो कर्बला की यात्रा को जाते थे; वे भी कैद कर लिये गये। उनमें के कई कैदी किसी ढब से निकलकर हज्जाज[4] के पास अपनी फरियाद ले गये। उसने सिंध के राय सस्सा (चच) के पुत्र दाहिर को चिट्ठी लिखकर मकरान के हाकिम हारूं के द्वारा भेजी। दाहिर ने टालाटूली का उत्तर दिया, जिसपर हज्जाज ने इस्लाम के प्रचार के लिये हिंदुस्तान पर आक्रमण करने की आज्ञा खलीफा वलीद से लेकर बुद्मीन नामी एक अफसर को तीनसौ सवारों सहित रवाना किया और मकरान के हाकिम हारूं को लिख दिया कि इसकी सहायता के लिये एक सहस्र सेना देवल

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ इंडिया'; जि० १, पृ० ४१७।

(२) खलीफा वलीद ने हि० स० ८६ से ९६ (वि० सं० ७६२-७७१=ई० स० ७०५ से ७१४ तक शासन किया था।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०२।

(४) हज्जाज बड़ी वीरप्रकृति का अरब सेनापति था जिसको उम्मियाद वंश के पांचवें खलीफा अब्दुल मलिक ने अरब और ईरान का शासक नियत किया था। हज्जाज बड़ा ही निर्दयी था और कहते हैं कि अपने जीवनकाल में उसने १२०००० आदमियों को मरवाया था और उसकी मृत्यु के समय उसके यहां ५०००० आदमी कैद थे।

सहस्रों राजपूत योद्धाओं ने भेड़ बकरी की भांति अपने गले काटने दिये होंगे? बंधुओं में दाहिर की दो राजकन्याएं स्वरूपदेवी और वरीलदेवी (परिमलदेवी) भी हाथ आईं और मुहम्मद कासिम ने खलीफा के वास्ते उन्हें हज्जाज के पास भेज दीं। हि० स० ६६ (वि०सं० ७७२=ई० स० ७१५) में वे राजदुलारियां दमिश्क में पहुंचाई गईं, जो उस समय उम्मियाद खलीफों की राजधानी थी। एक दिन खलीफा ने उनको बुलाया और उनका रूप लावण्य देखते ही वह विह्वल हो गया और उनसे कामभिक्षा की याचना की। ये दोनों भी तो दाहिर जैसे वीर पुरुष और उस सती वीराङ्गना माता की पुत्रियां थीं। उनका विचार यह था कि किसी प्रकार अपने पिता के मारनेवाले से वैर लेकर कलेजा ठण्डा करें और साथ ही अपने सतीत्व की रक्षा भी करें। अपने संकल्प को पूरा करने का अच्छा अवसर जान उन्होंने खलीफा से प्रार्थना की कि हम आपकी शैय्या पर पैर रखने योग्य नहीं हैं, यहां भेजने के पहले ही कासिम ने हमारा कुमारिका-रूपी अमूल्य रत्न लूट लिया है। इतना सुनते ही खलीफा आग ववूला हो गया और तत्काल आज्ञापत्र लिखवाया कि इसके देखते ही मुहम्मद कासिम को बैल के चमड़े में जीता सीकर हमारे पास भेज दो। इस हुक्म के पहुंचते ही उसकी तामील हुई, मार्ग में तीसरे दिन कासिम मर गया और उसी अवस्था में खलीफा के पास पहुंचा। खलीफा ने उन दोनों राजकन्याओं को बुलवाया और उन्हीं के सामने बैल का चमड़ा खुलवाकर कासिम का शव उन्हें दिखलाया, और कहा कि खुदा के खलीफा का अपमान करनेवालों को मैं इस प्रकार दण्ड देता हूं। कासिम का मृत-शरीर देखते ही स्वरूपदेवी के मुख पर अपना मनोरथ सफल होने की प्रसन्नता छा गई, परंतु साथ ही मंद मुस्कुराहट और के साथ उसने निधड़क खलीफा को कह दिया कि 'ऐ खलीफा! ने हमारा सतीत्व नष्ट नहीं किया, वह सदा हमें अपनी सगी भगि- के तुल्य समझता रहा और कभी आंख उठाकर भी कुदृष्टि से नहीं देखा; परंतु उसने हमारे माता, पिता, भाई और देशबंधुओं को मारा था इसलिये उससे अपना वैर लेने को हमने यह मिथ्या दोष उसपर लगाया था। तू क्यों अंधा होकर हमारी बातों में आ गया और विना किसी प्रकार की छान-बीन के तूने अपने एक सच्चे स्वामिभक्त सेवक को मरवा डाला'। उन वीर

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० ४, पृ० ४१०-११।

बालिकाओं के ये वचन सुनते ही खलीफा सन्न हो गया और उनको अपने सामने से दूर कीं। कहते हैं कि फिर उन दोनों को जीती जलवा दीं।

खलीफा हशाम के समय (हि० स० १०५–२५ (वि० सं० ७८१–८००=ई० स० ७२४–४३) जुनैद हिन्दुस्तानी इलाकों का हाकिम मुकर्रर होकर आया। जब सिंधु नदी पर पहुंचा तो दाहिर के बेटे जैसिया (जेसा, जयसिंह) से, जो मुसलमान हो गया था, उसका मुकाबला एक झील पर नौकाओं द्वारा हुआ। उस लड़ाई में जैसिया की नौका डूब गई और वह क़ैद होकर मारा गया[1]।

इस तरह सिंध पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राजपूताने की पश्चिमी सीमा सिंध से मिली हुई थी, अतएव उधर से राजपूताने और विशेषकर मारवाड़ पर उनके हमले होने लगे। वहां के राजपूत भी उनसे बराबर लड़ते ही रहे। सिंध के मुसलमान राजपूताने के किसी अंश पर अपना अधिकार न जमा सके; वे केवल जहां मौक़ा मिलता वहां लूटमार करते और राजपूतों का प्रबल सामना होने पर पीछे भाग जाया करते थे। सिंध की ओर से राजपूताने पर कब कब और किन किन मुसलमान अफसरों ने चढ़ाइयां कीं इसका ब्यौरा न तो फारसी तवारीखों में और न यहां की ख्यातों में मिलता है। केवल 'फतूहुल् बलदान' में लिखा है कि सिंध के हाकिम जुनैद ने अपना सैन्य मरमाड़[2], मंडल, दालमज[3], बरूस[4], उज़ैन, मालिबा, बहरिमद (?), अल् बेलमाल[5] और जज्र[6] पर भेजा था[7]। बादामी के सोलंकियों के सामंत लाट देश पर भी शासन करते थे। लाट के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में लिखा है कि 'ताजिकों (अरबों) ने तलवार के बल से सैंधव (सिंध), कच्छेल्ल (कच्छ), सौराष्ट्र (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़), चावोटक (चावड़ों), मौर्य, गुर्जर आदि के राज्यों को नष्ट कर दक्षिण के समस्त राजाओं को

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० १, पृ० ४४१।
(२) मरमाड़=मारवाड़।
(३) शायद यह स्थान बंबई इहाते के सूरत ज़िले का कामरेज है।
(४) बरूस=भड़ौंच।
(५) अल् बेलमाल=भीनमाल।
(६) जज्र=गुजरात।
(७) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० [illegible]।

जीतने की इच्छा से दक्षिण में प्रवेश करते हुए प्रथम नवसारिका (नवसारी, गुजरात में) पर आक्रमण किया। उस समय उस (पुलकेशी) ने घोर संग्राम कर ताजिकों को विजय किया, जिसपर शौर्य के अनुरागी राजा वल्लभ ने उसको 'दक्षिणापथसाधार', 'चलुकिकुलालंकार', 'पृथ्वीवल्लभ' और 'अनिवर्त्तकनिवर्तयितृ' ये चार विरुद प्रदान किये[1]। इस कथन से अनुमान होता है कि अरबों ने एक या भिन्न भिन्न समय पर उक्त देशों आदि पर चढ़ाइयां की हों और नवसारी के पास पुलकेशी ने अरबों को परास्त किया हो। फतूहुल् बलदान और पुलकेशी के दानपत्र से पाया जाता है कि अरबों की ये चढ़ाइयां ख़लीफा हशाम के समय होनी चाहियें, क्योंकि उसका राजत्वकाल हि० स० १०५ से १२५ (वि० सं० ७८० से ७९९=ई० स० ७२४ से ७४३) तक का है और पुलकेशी वि० सं० ७८८ और ७९६ (ई० स० ७३१ और ७३९) के बीच अपनी जागीर का स्वामी बना था। प्राचीन शिलालेखों तथा दानपत्रों से सिंध की ओर से राजपूताने पर होनेवाली मुसलमानों की और भी चढ़ाइयों का पता लगता है (जिनका वर्णन फारसी तथा अरबी तवारीख़ों में नहीं मिलता), जैसे कि रघुवंशी प्रतिहार राजा नागभट (नागावलोक दूसरे) का[2] तथा मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह का[3] सिंध के मुसलमानों को परास्त करना उनके शिलालेखादि से जाना जाता है। सिंध की ओर से होनेवाली मुसलमानों की चढ़ाइयों का वर्णन आगे हम प्रसंगवशात् करेंगे।

ऊपर बतला चुके हैं कि 'मुहम्मद साहब के देहांत के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार ईरान तक हो गया था'। फिर वे लोग ईरान से पूर्व में बढ़ने लगे और ख़लीफा वलीद के समय ई० स० ७१२-१३ (वि० सं० ७६९-७०) में कुतैब की अध्यक्षता में समरकंद, फरग़ाना, ताशकंद और खोकंद पर अपना अधिकार जमाकर पूर्वी तुर्किस्तान में तुर्फान और चीन तक चढ़ गये[4]। इसी तरह सीस्तान (शकस्तान) और आर्कोशिया पर भी अमल जमाया[5]; काबुल पर भी हमले किये, परंतु उनमें उनको सफलता न

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० २१०-११। (२) देखो ऊपर पृ० १५९।

(३) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १३०-३१।

(४) 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'; जि० २३, पृ० ११।

(५) वही; जि० १; पृ० २३९।

हुई[1]। हि० स० ८३ (वि० सं० ७५६=ई० स० ७०२) में खलीफा वलीद के राज्य-समय हज्जाज ने इब्न इशअत पर विजय प्राप्त की जिससे वह काबुल के राजा की शरण में जा रहा। फिर वहां से खुरासान में जाकर उसने उपद्रव खड़ा किया। उस समय वहां खलीफा की तरफ से यज़ीद हाकिम था। उसने इब्न की सेना का संहार कर दिया जिससे वह भागकर पीछा काबुल में आया, परंतु वहां के राजा ने छल से उसको मरवा डाला[2]।

अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर में समरकंद, बुख़ारा आदि पर अरबों का राज्य स्थिर हो चुका था। ई० स० की नवीं शताब्दी से, जब कि बग़दाद के अब्बासिया वंश के खलीफों का बल घटने लगा, उनके कई सूबे स्वतंत्र बन गये। समरकंद, बुख़ारा आदि में एक स्वतंत्र मुसलमान राज्य स्थापित हो चुका था। वहां के अमीर अबुल् मलिक ने तुर्क अलप्तगीन को ई० स० ६७२ (वि० सं० १०२६) में खुरासान का शासक नियत किया, परंतु अबुल् मलिक के मरने पर अलप्तगीन ग़ज़नी का स्वतंत्र सुलतान बन बैठा। अलप्तगीन के पीछे उसका बेटा अबू इसहाक़ ग़ज़नी का स्वामी हुआ और अलप्तगीन का तुर्की गुलाम सुबुक्तगीन उसका नायब बनाया गया। इसहाक़ की मृत्यु के पीछे ई० स० ६७७ (वि० सं० १०३४) में सुबुक्तगीन ही ग़ज़नी का सुलतान बना[3]।

हि० सन् ३६७ (वि० सं० १०३४=ई० स० ६७७) में अमीर सुबुक्तगीन ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की उस समय लाहोर में भीम (भीमपाल[4]) का बेटा जयपाल राज्य करता था। सरहिंद से लमग़ान तक और मुल्तान से कश्मीर तक जयपाल के राज्य की सीमा थी। इस चढ़ाई में सुलतान महमूद भी अपने पिता सुबुक्तगीन के साथ था। राजा भटिण्डा के दुर्ग में रहता था। उसने भी मुसलमानों का खूब मुक़ाबला किया। जब जयपाल ने देखा कि मेरी सेना की दशा बिगड़ रही है, तो कई हाथी और सोना देकर संधि का प्रस्ताव उपस्थित किया और ख़िराज भी देना स्वीकारा। महमूद ने अपने पिता से कहा कि

(१) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० १, पृ० २३६।

(२) वही; जि० १६, पृ० ५७२।

(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० १२-१३।

(४) फिरिश्ता में भीमपाल के स्थान पर हितपाल नाम मिलता है (ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० १५) जो अशुद्ध है।

संधि नहीं की जाय; परंतु जयपाल ने फिर कहलाया कि राजपूत जब निराश हो जाते हैं तो वे अपने बाल-बच्चों और स्त्रियों को जौहर की आग में जलाकर प्राणों का भय न करते हुए केश खोलकर शत्रु पर टूट पड़ते हैं। सुबुक्तगीन ने इसको सही समझकर संधि कर ली। राजा ने बहुतसा द्रव्य और ५० हाथी देने का वचन देकर कहा कि इस वक़्त इतना ही द्रव्य यहां मेरे पास है अतएव आप अपने आदमी मेरे साथ लाहोर भेज दीजिये, वहां से बाक़ी का दे दिया जायगा, और विश्वास दिलाने को अपने कुछ सेवक ओल में रख दिये। लाहोर पहुंचकर ब्राह्मणों के कहने से उसने अपने वचन का पालन न करके सुबुक्तगीन के अफ़सरों को क़ैद में डाल दिया। उस समय राजाओं में यह दस्तूर था कि वे ऐसे विषयों का विचार करने के वास्ते सभा एकत्रित कर उसकी सम्मति के अनुसार कार्य करते थे। ब्राह्मण अधिकारी राज्यसिंहासन की दाहिनी तरफ़ और क्षत्रिय सामंत बाईं ओर बैठते थे। क्षत्रियों ने जयपाल की इस कार्रवाई का विरोध किया और कहा कि सुबुक्तगीन इसका बदला लिये बिना नहीं छोड़ेगा, परंतु जयपाल ने उनकी बात पर ध्यान न दिया। जब ये समाचार ग़ज़नी पहुंचे तो सुबुक्तगीन तुरंत चढ़ आया। जयपाल भी युद्ध करने को उपस्थित हुआ। इस समय दिल्ली, कालिंजर व कन्नौज के राजा भी अपनी अपनी सेना सहित जयपाल की सहायता को आये थे। सुबुक्तगीन ने अपनी सेना की पांच पांच सौ सवारों की टुकड़ियां बनाकर उन्हें बारी बारी से हमला करने की आज्ञा दी और जब देखा कि हिन्दू सेना कुछ विचलित होने को है तो सब ने मिलकर एक साथ हल्ला बोल दिया। जयपाल की फौज भागी और मुसलमानों ने सिंधु नदी तक उसका पीछा किया। लूट में बहुतसा माल असबाब उसके हाथ लगा और सिंधु के पश्चिमी प्रदेशों पर उसका अधिकार हो गया। दस सहस्र सेना सहित अपना एक अफ़सर पेशावर में छोड़कर सुबुक्तगीन ग़ज़नी को लौट गया[1]।

सुबुक्तगीन के मरने पर उसका पुत्र महमूद ग़ज़नी का स्वामी हुआ। उस समय बग़दाद के ख़लीफ़ा तो शिथिल हो ही गये थे, बुख़ारे के अमीरों का अधिकार भी ग़ज़नी के राज्य पर नाममात्र को रह गया था और प्रायः सारे अफ़ग़ानिस्तान पर महमूद का राज्य स्थापित हो गया था। इसपर भी महमूद

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० १६-१८।

ने अपना बल इतना बढ़ाया कि अरबस्तान और मध्य एशिया के सारे मुसलमानी राज्य भी उसकी मैत्री के इच्छुक रहने लगे। हिन्द के पंजाब प्रांत में सुबुक्तगीन अपना सिक्का जमा ही चुका था और महमूद को भी भारत के क्षत्रिय राजाओं की पारस्परिक फूट और वैर-विरोध का परिचय भली भांति था, इसलिये उसने सहज में हाथ आनेवाली इस सोने की चिड़िया को हाथ में लेकर अपने देश को मालामाल करने का विचार कर हि० स० ३६० (वि० सं० १०५७=ई० स० १०००) से अपने लश्कर की बाग हिंदुस्तान पर उठाना शुरू किया और १७ चढ़ाइयां कीं, जिनमें से यहां केवल उन्हीं का उल्लेख करेंगे जिनका संबंध राजपूताने से है।

लाहोर के राजा जयपाल ने अवसर पाकर अधीनता से सिर फेर लिया था, इसलिये हि० स० ३६१ (वि० सं० १०५८=ई० स० १००१) में महमूद उस पर चढ़ आया। राजा भी तीस हज़ार पैदल, १२ हज़ार सवार और ३०० हाथियों की सेना लेकर पेशावर के पास आ भिड़ा, परंतु दैव उसके प्रतिकूल था जिससे घोर युद्ध के पीछे उसके ५००० योद्धा खेत पड़े और अपने १५ भाई बेटों सहित वंधुआ बना लिया गया। लूट का बहुतसा माल सुलतान के हाथ लगा जिसमें रत्नजटित १६ कंठे भी थे जिनमें से एक का मूल्य जौहरियों ने १८०००० सुवर्ण दीनार आंका था। भटिंडे का गढ़ हाथ आया और तीन मास तक अपना वंधुआ रखने उपरांत बहुतसा दंड लेकर महमूद ने जयपाल को मुक्त किया। उस समय प्रायः क्षत्रिय राजाओं में यह प्रथा प्रचलित थी कि जो राजा दो बार विदेशियों से युद्ध हार जाता, वह फिर राज्य करने योग्य न ठहरता था, तदनुसार राज्य अपने पुत्र अनंदपाल को देकर जयपाल जीता अग्नि में जल मरा[1]।

हि० स० ३६६ (वि० सं० १०६६=ई० स० १००६) में दाउद[2] की सहायता करने के अपराध में सुलतान ने अनंदपाल पर चढ़ाई की। उसने भारत के दूसरे राजाओं के पास अपने दूत भेजकर सहायता चाही और उन्होंने भी मुसलमानों को हिंदुस्तान में से निकाल देने के निमित्त अपनी अपनी सेना सहित

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ३६–३८।

(२) अबुल् फ़तह दाउद मुलतान का स्वामी था। उसने महमूद को ख़िराज देना बंद कर दिया और जब महमूद उसपर चढ़ आया तो अनंदपाल ने दाउद को सहायता दी थी।

अनंदपाल का हाथ बटाना उचित समझा। उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राजा अपने अपने दलबल सहित आ मिले और पेशावर के पास ४० दिन तक पड़ाव डाले रहे। हिंदू महिलाओं ने भी दूर देशान्तरों से अपने आभूषण बेचकर विपुल धन लड़ाई के खर्च के लिये भेजा और गक्खर योद्धा भी साथ देने को आ गये। सुलतान ने पहले राजपूतों के बल और उत्तेजना की परीक्षा करने के लिये अपने ६ हज़ार धनुर्धारियों को इस अभिप्राय से तीर चलाने की आज्ञा दी, कि राजपूत इससे चिढ़कर शत्रु पर हमला कर देवें। गक्खर उनके सम्मुख हुए और उन्होंने ऐसी वीरता के साथ हाथ बताये कि महमूद के बहुत कुछ उत्तेजित करने पर भी उसके तीरंदाज़ों के पैर उखड़ गये। तब तो ३० सहस्र गक्खर वीर सिर खोलकर शस्त्र पकड़े शत्रुसेना में घुस पड़े, घोर संग्राम हुआ और थोड़ी ही देर में उन्होंने ५००० मुसलमानों को काट डाला। संयोगवशात् एक नफ्थे के गोले के लगने से अनंदपाल का हाथी भड़का और भाग निकला। हिंदू सेना ने जाना कि राजा ने पीठ दिखाई है, अतएव सब सैनिक उसके अनुगामी हो गये। असंख्य द्रव्य और ३० हाथी सुलतान के हाथ लगे।

हि० स० ४०६ (वि० सं० १०७५=ई० स० १०१८) में रघुवंशी प्रतिहार राजा राज्यपाल के समय, सुलतान ने कन्नौज पर चढ़ाई की जिसका वर्णन हम ऊपर लिख आये हैं (पृ० १६५)। कन्नौज से मेरठ होता हुआ सुलतान जमना के तट पर बसे हुए महावन में आया। वहां का राजा ससैन्य सुलतान के पास आता था, परंतु मार्ग में कुछ मुसलमानों के साथ उसके सैनिकों की तकरार हो जाने के कारण कई हिंदुओं को उन्होंने नदी के पूर में फेंक दिया और वहां का राजा कुलचंद्र अपनी राणी तथा कुंवरों को मारकर आप भी मर गया। गढ़ सुलतान के हाथ आया और ८० हाथी तथा विपुल धन उसको वहां मिला[1]।

महावन में अपनी फौज को थोड़ा आराम देकर महमूद मथुरा में आया। उस समय यह नगर बारण (बुलंदशहर) के राजा हरदत्त डोड (डोडिये) के राज्य के अंतर्गत था और थोड़ीसी लड़ाई ही में विजय होकर लूटा गया, वहां की सब मूर्तियां तोड़ दी गई, जिनसे सोने-चांदी का ढेर लग गया। मंदिरों को भी सुलतान तोड़ देता, परंतु एक तो उसमें परिश्रम अधिक था

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ५८।

और दूसरी उनकी बनावट की सुंदरता व शिल्पकौशल देखकर उनको न गिराया। इन मंदिरों की सुंदरता और भव्यता का वर्णन सुलतान ने अपने हाकिम को पत्र द्वारा लिख भेजा था (देखो ऊपर पृ० २३)। इन मंदिरों में ५ सोने की मूर्तियां मिलीं जिनके नेत्रों में जड़े हुए लाल पचास हज़ार दीनार के आंके गये थे। एक मूर्ति में जड़ा हुआ एक पन्ना चार सौ मिस्काल का था। जब वह मूर्ति गलाई गई तो उसमें से ६८३०० मिस्काल (क़रीब १०२४ तोले) सोना निकला। एक सौ से अधिक चांदी की मूर्तियां भी उसके हाथ लगीं। बीस दिन वह मथुरा में ठहरा और लूटमार करके नगर को जलाया। फिर उस नदी (जमना) के किनारे किनारे चला जिसपर सात गढ़ बने हुए थे। इन सब का नाश किया और वहां भी कई मंदिरों को तोड़ा[1]।

हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) में[2] सुलतान महमूद ने सोमनाथ (काठियावाड़ में) पर चढ़ाई की। 'कामिलुत्तवारीख़' में लिखा है कि "ता० १० शाबान को तीस हज़ार सवारों के साथ सुलतान ने ग़ज़नी से कूच किया और रमज़ान के बीच मुलतान पहुंचा। वहां से मार्ग जनशून्य रेगिस्तान में होकर गुज़रता था, जहां ख़ुराक भी नहीं मिल सकती थी। इसलिये उसने ३०००० ऊंटों पर अन्न और जल लादकर अणहिलवाड़े की ओर प्रस्थान किया। रेगिस्तान पार करने पर उसने एक तरफ़ मनुष्यों से परिपूर्ण एक क़िला[3] देखा जहां पर बहुत से कुए थे। वहां के मुखिये लोग सुलतान को समझाने आये

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता जि० १, पृ० ५८-५९।

(२) कामिलुत्तवारीख़ के अंगरेज़ी अनुवाद में हिजरी सन् ४१४ (मूल लेखक के दोष से) छपा है, जिसके स्थान में हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) होना चाहिए; क्योंकि उसी पुस्तक से पाया जाता है कि शाबान महीने में सुलतान ग़ज़नी से चला। रमज़ान में मुल्तान, ज़िल्काद के प्रारंभ में अणहिलवाड़े और ज़िल्काद के मध्य में सोमनाथ पहुंचा। फिर हि० स० ४१७ (वि० सं० १०८३=ई० स० १०२६) के सफ़र में ग़ज़नी को लौटा। इस चढ़ाई में कुल ६ महीने लगे थे। इसलिये ग़ज़नी से उसका प्रयाण हि० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) ता० १० शाबान को होना चाहिए। तारीख़ फ़िरिश्ता में सुलतान का हिंदुस्तान में ढाई वर्ष रहना लिखा है, जिसका कारण भी वही दो वर्ष की मूल पुस्तक की अशुद्धि है।

(३) यह स्थान नाडौल (जोधपुर राज्य में) होना चाहिये, क्योंकि रेगिस्तान पार करने के बाद अणहिलवाड़े के मार्ग में यही पुराना स्थान

परंतु उसने उनको घेरकर जीत लिया। उनको इस्लामी हुकूमत में लाकर वहां के लोगों को क़त्ल किया तथा मूर्तियां तोड़ डालीं। वहां से फिर जल भरकर वह आगे बढ़ा और ज़िल्काद के प्रारंभ (पौष) में अणहिलवाड़े पहुंचा।

अणहिलवाड़े का राजा भीम[1] (भीमदेव) वहां से भागा और अपनी रक्षा के लिये एक क़िले में जाकर रहा। महमूद सोमनाथ की तरफ़ चला। मार्ग में बहुतसे क़िले आए, जिनमें सोमनाथ के दूत-रूप बहुतेरी मूर्तियां थीं, जिनको वह शैतान कहता था। उसने वहां के लोगों को मारा, क़िले तोड़े और मूर्तियां नष्ट कीं। फिर वह निर्जल रेगिस्तान के मार्ग से सोमनाथ की ओर बढ़ा। उस रेगिस्तान में उसको २००० वीर पुरुष मिले। उनके सरदारों ने उसकी अधीनता स्वीकार न की इसपर उसने अपनी कुछ सेना उनपर चढ़ाई के लिये भेजी। उस सेना ने उनको हराकर भगा दिया और उनका माल असबाब लूट लिया। वहां से वह देवलवाड़े[2] पहुंचा, जो सोमनाथ से दो मंज़िल दूर था। वहां के लोगों को यह विश्वास था कि सोमनाथ शत्रु को भगा देंगे, जिससे वे शहर ही में रहे; परन्तु महमूद ने उसे जीतकर लोगों को क़त्ल किया और उनका माल लूटने के बाद सोमनाथ की ओर प्रस्थान किया।

"ज़िल्काद के बीच (पौष शुक्ल के अंत में) गुरुवार के दिन सोमनाथ पहुंचने पर उसने समुद्र-तट पर एक सुदृढ क़िला देखा जिसकी दीवारों के साथ समुद्र की लहरें टकराती थीं। क़िले की दीवारों पर से लोग मुसलमानों की हंसी उड़ाते थे कि हमारा देवता तुम सब को नष्ट कर देगा। दूसरे दिन अर्थात् शुक्रवार को मुसलमान हमला करने के लिये आगे बढ़े। उनको वीरता से लड़ते देखकर हिंदू क़िले की दीवारों पर से हट गए। मुसलमान सीढ़ियां लगाकर उनपर चढ़ गए। वहां से उन्होंने दीन की पुकार कर इस्लाम की

(१) 'मिराते अहमदी' तथा 'आईने अकबरी' में महमूद की चढ़ाई के समय चामुंड का अणहिलवाड़े का राजा होना लिखा है, जो भूल है; क्योंकि चामुंड (चामुंडराज) के राज्य की समाप्ति वि० सं० १०६६ में हुई, और महमूद की चढ़ाई वि० सं० १०८२ में। उस समय वहां का राजा भीमदेव ही था।

(२) देवलवाड़ा—यह प्रभासपाटन के पूर्व का ऊना गांव के पास का देलवाड़ा होना चाहिए। इससे अनुमान होता है कि महमूद अणहिलवाड़े से मोढेरा होता हुआ पाटड़ी के पास रण (रेगिस्तान) को पारकर झालावाड़, गोहिलवाड़ और बाबरियावाड़ होकर देलवाड़े पहुंचा होगा।

ताकत बतलाई, तो भी उनके इतने सैनिक मारे गये[1] कि लड़ाई का परिणाम संदेहयुक्त प्रतीत हुआ। कितने ही हिन्दुओं ने सोमनाथ के मंदिर में जाकर दंडवत् प्रणाम कर विजय के लिये प्रार्थना की। फिर रात्रि होने पर युद्ध बंद रहा।

"दूसरे दिन प्रातःकाल ही से महमूद ने फिर लड़ाई शुरू कर दी, हिंदुओं का अधिक संहार कर उनको शहर से सोमनाथ के मंदिर में भगा दिया और मंदिर के द्वार पर भयंकर युद्ध होने लगा। मंदिर की रक्षा करनेवालों के झुंड के झुंड मंदिर में जाने और रो रोकर प्रार्थना करने लगे। फिर बाहर आकर उन्होंने लड़ाई ठान दी और प्राणांत तक वे लड़ते रहे। थोड़े से जो बचे, वे नावों पर चढ़कर समुद्र में चले गये, परंतु मुसलमानों ने उनका पीछा किया, कितनों ही को मार डाला तथा औरों को पानी में डुबो दिया। सोमनाथ के मंदिर में सीसे से मढ़े हुए सागवान के ५६ स्तंभ थे। मूर्ति एक अंधेरे कमरे में थी। मूर्ति की ऊंचाई ५ हाथ और परिधि ३ हाथ थी। इतनी तो बाहर थी, इसके सिवा दो हाथ ज़मीन के भीतर और थी। उसपर किसी प्रकार का खुदाई का काम नहीं दीख पड़ता था। महमूद ने उस मूर्ति को हस्तगत कर उसका एक हिस्सा जलवा दिया और दूसरा हिस्सा वह अपने साथ ग़ज़नी ले गया, जिससे वहां की जामे-मसजिद के दरवाज़े की एक सीढ़ी बनवाई। मूर्तिवाले कमरे में रत्न-जटित दीपकों की रोशनी रहती थी। मूर्ति के निकट सोने की सांकल में घंटे लटकते थे। उस सांकल का तोल २०० मन[2] था। रात्रि में पहर पहर पर उस सांकल को हिलाकर घंटे बजाए जाते थे, जिससे पूजन करनेवाले दूसरे ब्राह्मण जग जाते थे। पास ही भंडार था, जिसमें सोने-चांदी की मूर्त्तियां रक्खी हुई थीं। भंडार में रत्नजटित वस्त्र थे और प्रत्येक रत्न बहुमूल्य था। मंदिर से २०००००० दीनार[3] से अधिक मूल्य का माल हाथ लगा और ५०००० से

---

(१) सोमनाथ के मंदिर की रक्षा के लिये भीमदेव तथा उसके कई सामंत आए थे। तारीख़ फिरिश्ता में लिखा है कि भीमदेव ने ३००० मुसलमानों को सोमनाथ की लड़ाई में मारा था (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ७४)।

(२) दो सौ मन अर्थात् ४०० पाउंड (४० तोले का १ पाउंड) था, ऐसा फिरिश्ता के अंग्रेज़ी अनुवादक ब्रिग का कथन है (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ७३ का टिप्पण)।

(३) दीनार एक सोने का सिक्का था जिसका तोल ३२ रत्ती होता था (द्वात्रिंश-

अधिक हिंदू मारे गये।

"सोमनाथ की विजय के बाद महमूद को खबर मिली कि अणहिलवाड़े का राजा भीम (भीमदेव) कंदहत[1] के क़िले में चला गया है, जो वहां से ४० फरसंग (२४० मील) की दूरी पर सोमनाथ और रण के बीच है। उसने वहां पहुंचने पर कितने ही मनुष्यों से, जो वहां पर शिकार कर रहे थे, ज्वारभाटे के विषय में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि पानी उतरने लायक है, परन्तु थोड़ीसी भी हवा चली तो उतरना कठिन होगा। महमूद ईश्वर से प्रार्थना कर पानी में उतरा और उसने अपनी सेना सहित वहां पहुंचकर शत्रु को भगा दिया। फिर वहां से लौटकर उसने मंसूर[2] की तरफ जाने का विचार किया[3], जहां के राजा ने इस्लाम धर्म का परित्याग किया था। महमूद के आने की ख़बर पाकर वह राजा खजूर के जंगल में भाग गया। सुलतान ने उसका पीछा कर उसके साथियों में से बहुतेरों को मार डाला और कइयों को डुबो दिया। थोड़ेसे भाग भी निकले। वहां से वह भाटिया पहुंचा। वहां के लोगों को अपने अधीन कर ग़ज़नी की ओर चला और तारीख़ १० सफर सन् ४१७ हिजरी (वि० सं० १०८३=ई० स० १०२६) को वहां पहुंचा[4]"।

कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों ने अपनी पुस्तकों में कई बेसिर-पैर की कल्पित बातें भी लिखी हैं, जिनको प्रामाणिक मानकर बड़े बड़े यूरोपियन विद्वानों ने भी भूल की है। ऐसी कपोलकल्पित बातों में सोमनाथ की मूर्ति की कथा भी है। उक्त मूर्ति के संबंध में प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास-लेखक फिरिश्ता ने लिखा है कि "मंदिर के बीच सोमनाथ की पाषाण की मूर्ति थी। महमूद ने उसके पास जाते ही अपने गुर्ज़ से उसकी नाक तोड़ डाली। फिर उसके टुकड़े करवा कर उनमें से दो ग़ज़नी पहुंचाए, और दो मक्का-मदीना भेजने के लिये

द्रत्तिकापरिमितं कांचनं इति भरतः)। 'शब्दकल्पद्रुम'; जि० २, पृ० ७१७।

(१) कंदहत शायद कच्छ का कंथकोट नामक किला हो।

(२) मंसूर—सिंध का उक्त नाम का स्थान।

(३) महमूद को सिंध के रास्ते से जाने में जल का बड़ा कष्ट हुआ था, ऐसा फ़िरिश्ता के लेख से पाया जाता है। उस विकट मार्ग से जाने का कारण यह माना जाता है कि सांभर के चौहान आदि राजपूताने के राजा सोमनाथ के मंदिर को तोड़ने के कारण उसका मार्ग रोकने के लिये खड़े थे, जिससे उसको सिंध के रास्ते से जाना पड़ा था।

(४) इलियट्, 'हिस्टरी आफ़ इंडिया'; जि० २, पृ० ४०८-४७१ और २४९।

रक्खे। जब महमूद उस मूर्ति को तोड़ने चला उस समय बहुतसे ब्राह्मणों ने उसके सरदारों से यह निवेदन किया कि यदि यह मूर्ति न तोड़ी जाय, तो हम उसके बदले में बहुतसा द्रव्य देने को तैयार हैं। इसपर उन्होंने सुलतान से अर्ज़ की कि इस एक मूर्ति के तोड़ने से मूर्तिपूजा तो नष्ट होगी ही नहीं, अतएव इसके तोड़ने से कुछ लाभ न होगा, किंतु इतना द्रव्य यदि मुसलमानों को दान किया जाय, तो लाभदायक होगा। इसपर सुलतान ने कहा कि ऐसा करने से तो मैं 'मूर्ति बेचनेवाला' कहलाऊंगा; मेरी इच्छा तो यह है कि मैं 'मूर्ति तोड़नेवाला' कहलाऊं। फिर उसने उस मूर्ति को तोड़ने की आज्ञा दे दी। दूसरे प्रहार से सोमनाथ के पेट का हिस्सा टूटा जो भीतर से पोला था। उसमें से हीरे, मानिक और मोतियों का संग्रह निकला, जिसका मूल्य जितना द्रव्य ब्राह्मण देते थे उससे कहीं अधिक था[1]। ऐसा ही वृत्तांत 'तारीख़-अल्फ़ी' में भी मिलता है[2]। इन लेखकों के कथन से ज्ञात होता है कि सोमनाथ की मूर्ति गोल आकृति का ठोस लिंग नहीं, किंतु हाथ-पैर वाली पोली मूर्ति थी, जिसके पेट में रत्न भरे हुए थे। इन्हीं लेखकों के कथन को विश्वसनीय मानकर हिंदुस्तान का इतिहास लिखनेवाले यूरोपियन विद्वानों में से कर्नल डो[3], गिब्बन[4], मॉरिस[5], जेम्स मिल[6], प्राइस[7], एलफिन्स्टन[8] आदि विद्वानों ने भी अपनी पुस्तकों में वैसा ही लिखा है, और कुछ हिंदी पुस्तकों में भी, जो उन्हीं के आधार पर लिखी गई हैं, वैसा ही उल्लेख पाया जाता है[9]; परंतु

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ७२–७३।

(२) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० २, पृ० ४७२।

(३) कर्नल डो; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; पृ० ५५–५६।

(४) 'डिक्लाइन ऐंड फ़ॉल ऑफ़ दी रोमन् ऐंपायर'; जिल्द ७, पृ० १४६ (ई० स० १८८७ का संस्करण)।

(५) 'मॉडर्न हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० १, भाग १, पृ० २६६।

(६) 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० १, पृ० ३३३।

(७) 'रिट्रॉस्पेक्ट ऑफ़ मोहोमेडन् हिस्टरी'; जि० २, पृ० २८६ ([illegible] संस्करण)।

यह सारा कथन कल्पित है, क्योंकि प्रसिद्ध मुसलमान ज्योतिषी अबुरिहां अल्‌बेरूनी, जो सुलतान महमूद ग़ज़नवी के समय में कई बरसों तक हिंदुस्तान में रहा और जिसने सोमनाथ की टूटी हुई मूर्ति को देखा था, अपनी अरबी पुस्तक 'तहकीके हिंद' में लिखता है कि सोमनाथ गोल आकृति का एक ठोस लिंग था, जिसका शिरोभाग सुलतान ने तुड़वा डाला और बाक़ी का हिस्सा उसपर के रत्न-जटित सोने के ज़ेवर तथा जरदोज़ी कपड़ों सहित ग़ज़नी पहुंचा दिया। उसका एक टुकड़ा, थाणेश्वर से लाई हुई पीतल की चक्रवर्ती (चक्रस्वामी, विष्णु) की मूर्ति के साथ, शहर (ग़ज़नी) में घुड़दौड़ की जगह पड़ा हुआ है और दूसरा मसजिद के पास इस अभिप्राय से रक्खा गया है कि लोग उसपर पैर रगड़ें[1]। इसी तरह फिरिश्ता से पहले की बनी हुई 'कामिलुत्तवारीख,' 'हबिबुस्सिअर,' 'रोज़ेतुस्सफ़ा' आदि फारसी तवारीखों में, जिनसे फिरिश्ता ने बहुत कुछ वृत्तांत उद्धृत किया है, उक्त मूर्ति के हाथ-पैर आदि होना या उसके पेट में से रत्नों का निकलना कहीं नहीं लिखा।

इस प्रकार सुलतान महमूद ने हिंदुस्तान के अलग अलग हिस्सों पर चढ़ाइयां कीं और वहां से वह बहुतसा द्रव्य ले गया। उसका विचार हिंदुस्तान

(१) एडवर्ड साचू; 'अल्बेरूनीज़ इंडिया'; जि० २, पृ० १०३। अल्बेरूनी ने सोमनाथ के लिंग को ठोस पत्थर का बना हुआ बतलाया है इतना ही नहीं, किंतु उसने लिंगों के बनाने की रीति तथा उनकी बनावट के अनुसार होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से वर्णन किया है। 'मेडिएवल इंडिया' के कर्ता स्टैनली लेनपूल ने लिखा है कि फिरिश्ता का यह कथन कि महमूद के प्रहार करने पर उक्त मूर्ति के भीतर से रत्नों का बड़ा संग्रह निकल आया, बिलकुल मिथ्या है; परंतु साथ ही यह कल्पना भी की गई है कि शायद मूर्ति के नीचे छिपाए हुए रत्न खोदकर निकाले गए हों (पृ० २६ का टिप्पण)। यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ऐसी मूर्तियों के नीचे कभी रत्नों का संग्रह छिपाया नहीं जाता था, और न कोई आज तक ऐसा प्रत्यक्ष उदाहरण मिला है। फिरिश्ता तथा उसी के आधार पर लिखे हुए अंग्रेज़ी तथा हिंदी ग्रंथों में लिखी हुई इस कपोलकल्पित बात को पढ़कर कितने ही हिंदुओं को भी ऐसा विश्वास हो गया है कि जिनको ज्योतिर्लिंग कहते हैं, वे भीतर से पोले होते हैं और उनमें ज्योतिर्मय रत्न भरे रहने के कारण ही उनको ज्योतिर्लिंग कहते हैं। मेरा एक बड़े इतिहासवेत्ता मित्र से इस विषय पर विवाद हुआ, और उन्होंने इसके प्रमाण में फिरिश्ता की फारसी पुस्तक बतलाई; इसपर मैंने अल्बेरूनी की पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद उनको सुनाया। तब उनकी भ्रांति निवृत्त हुई और उन्होंने स्वीकार किया कि फिरिश्ता और उसके आधार पर लिखनेवाले विद्वानों का यह कथन सरासर कल्पित है।

में अपना राज्य स्थिर करने का नहीं था, वह केवल धर्म स्थापन करने के बहाने से धन संग्रह करने की अपनी भूख मिटाने के लिये लूटमार करके गज़नी को लौट जाया करता था, तो भी उसने अफगानिस्तान से मिला हुआ हिंदुस्तान का लाहोर तक का अंश अपने राज्य में मिला लिया था। हि० स० ४२१ (वि० सं० १०८७=ई० स० १०३०) में महमूद की मृत्यु हुई। फिर उसके बेटे पोते आदि वंशधर आपस में लड़भिड़ कर बलहीन होते गये जिससे उनमें अन्य देशों को विजय करने की शक्ति न रही, इतना ही नहीं, किंतु महमूद के जमाए हुए राज्य को भी वे सम्हाल न सके, जिसका बहुत ही संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है—

सुलतान महमूद की मृत्यु के पीछे उसका बड़ा बेटा मुहम्मद गज़नी के तख़्त पर बैठा, परंतु उसके छोटे भाई मसूद ने उससे राज्य छीनकर उसको अंधा कर दिया। मसूद मध्य एशिया की (सलजुकियों के साथ की) लड़ाइयों से निर्बल होकर लौटा और नई सेना एकत्र करने को हिंदुस्तान में आया, परंतु उसकी सेना ने उसे पदच्युत कर उसके अंधे भाई मुहम्मद को फिर सुलतान बनाया[1]। हि० स० ४३३ (वि० सं० १०९९=ई० स० १०४२) में अपने भतीजे अहमद (मुहम्मद के बेटे) के हाथ से मसूद मारा गया, जिसपर उसके बेटे मौदूद ने उसी वर्ष मुहम्मद को मारकर उसका राज्य छीन लिया[2]। हि० स० ४३५ (वि० सं० ११०१=ई० स० १०४४) में दिल्ली के हिंदू राजा ने हांसी, थाणेश्वर और सिंध मुसलमानों से छीनकर नगरकोट भी छुड़ा लिया। वहां के मंदिरों में नई मूर्तियां बिठलाई जाकर पूजी जाने लगीं। पंजाब के राजा भी १०००० सवार और बड़ी पैदल सेना लेकर लाहोर पर चढ़ आये। सात मास तक मुसलमानों से लड़े, परंतु अंत में उनकी हार हुई[3]। हि० स० ४४० (वि० सं० ११०५=ई० स० १०४८) में मौदूद मरा और उसका बेटा मसूद (दूसरा) गज़नी का स्वामी हुआ। और हि० सन् ४४० से ५११ (वि० सं० ११०५ से ११७४) तक ७० वर्ष में गज़नी की गद्दी पर ८ सुलतान हो गये फिर बहरामशाह वहां की गद्दी पर बैठा। उसके समय में सैफ़ुद्दीन गोरी के भाई अलाउद्दीन हुसेन गोरी ने

(१) रावर्टी; 'तबकाते नासिरी'; (अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ९५–९६।
(२) सी० मोबेल डफ़; 'दी क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० ११०-१११।
(३) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ११८–१९।

ग़ज़नी पर हमला कर उसको ले लिया जिससे बहराम भागकर लाहोर में आ रहा और हि० स० ५४४ (वि० सं० १२०६=ई० स० ११४६) में मर गया। इस प्रकार ग़ज़नी के तुर्कराज्य की समाप्ति हुई और ग़ज़नवियों के अधिकार में केवल लाहोर की तरफ़ का हिंदुस्तान का हिस्सा ही रह गया। बहरामशाह का पुत्र खुसरोशाह लाहोर के तख़्त पर बैठा और उसके बेटे खुसरोमलिक से शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने लाहोर छीनकर हि० स० ५७६ (वि० सं० १२३७=ई० स० ११८०) में वहां से भी ग़ज़नवियों के रहे सहे राज्य का अंत कर दिया।

ग़ज़नी और हिरात के बीच ग़ोर का एक छोटासा राज्य था जिसकी राजधानी फीरोज़कोह थी। वहां के मलिक सैफुद्दीन के पीछे उसके चचेरे भाई गयासुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने, जो बाहुद्दीन साम का बेटा था, ग़ोर का राज्य पाया। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन ग़ोरी था, जिसको उसने प्रथम अपना सेनापति और पीछे ग़ज़नी का हाकिम बनाया[१]। उसने वहां से महमूद ग़ज़नवी के समान हिंदुस्तान पर चढ़ाइयां करना शुरू किया।

उस समय भारत के बड़े विभाग पर चौहानों का प्रबल राज्य जम चुका था जिसके अधीन अजमेर के इलाक़े के अतिरिक्त दिल्ली और दूर दूर के प्रदेश थे। राजपूताने में दूसरा बड़ा राज्य मेवाड़ के गुहिलोतों (सीसोदियों) का था। मालवे में परमारों का, गुजरात में सोलंकियों का, पूर्व में कन्नौज, काशी आदि पर गाहड़वालों (गहरवारों) का और वहां से पूर्व में बंगाल के सेनवंशियों का राज्य था।

लाहोर में ग़ज़नवी वंश के सुलतानों का हाकिम रहा करता था और वहां से लूटमार के लिये राजपूताने पर चढ़ाइयां हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फ़ारसी तवारीख़ों में नहीं मिलता, परंतु कभी कभी संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रंथों में मिल आता है, जैसे कि सांभर का चौहान राजा दुर्लभराज दूसरा (चामुंडराज का उत्तराधिकारी) मुसलमानों के साथ की लड़ाई में मारा गया था[२]। अजमेर बसानेवाले अजयदेव (पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र) ने

(१) ना० प्र० प; भाग १, पृ० ४०७।

(२) वही; भाग १, पृ० १२६।

मुसलमानों को परास्त किया[1]। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानों की सेना फिर इधर आई, पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ वढ़ी और पुष्कर की घाटी को उल्लंघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुंची, जहां अर्णोराज ने उसका संहार कर बड़ी विजय प्राप्त की। यहां मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से उसकी शुद्धि करने के लिये उसने वहां आनासागर तालाव बनवाया[2]। आना के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चौथे) के समय वर्तमान किशनगढ़ राज्य के वव्वेरा (रूपनगर) तक मुसलमानों का सैन्य पहुंच गया[3] जिसको परास्त कर वीसलदेव आर्यावर्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की तरफ वढ़ा। उसने दिल्ली और हांसी के इलाके अपने राज्य में मिलाये[4] और आर्यावर्त (के बड़े विभाग) से मुसलमानों को निकाल दिया, ऐसा दिल्ली के अशोक के लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए वीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है[5]। शहाबुद्दीन गोरी के साथ सम्राट् पृथ्वीराज की पहली लड़ाई होने के पूर्व गोरियों की सेना ने नाडौल पर भी हमला किया था, परंतु हारकर उसे वहां से लौटना पड़ा था[6]। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं जो आगे भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास में प्रसंगवशात् उद्धृत किये जायेंगे।

---

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० १६०।

(२) वही; भाग १, पृ० १६२–६४।

(३) अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव चौथे) के राजकवि सोमदेव रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक, अंक ४; इं० ऐं; जि० २०, पृ० २०२। इस नाटक का कितना एक अंश बड़ी बड़ी २ शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है, जो राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

(४) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ४०५ और टिप्पण ४३।

(५) आविंध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः॥
ब्र(ब्रू)ते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः

इं. ऐं;।

(६) ना. प्र. प; भाग १, पृ० १३३–३८।

सिंध पर अरबों का अधिकार होने के समय से लगाकर ग़ज़नवी ख़ानदान की समाप्ति तक राजपूताने पर मुसलमानों के कभी कभी हमले होते रहे और राजपूत लोग उनको पराजित कर निकालते रहे। उस समय तक राजपूताने के किसी अंश पर मुसलमानों का अधिकार होने न पाया था, परंतु शहाबुद्दीन गोरी से स्थिति पलट गई। ग़ज़नी का शासक नियत होने पर उसने पहला हमला मुल्तान पर किया[1] और उसके बाद तबरहिंद (भटिंडे) का क़िला लिया[2]। अजमेर का चौहान सम्राट् पृथ्वीराज शहाबुद्दीन से लड़ने के लिये कई हिंदू राजाओं को साथ लिये अजमेर से चला और थाणेश्वर के निकट तराइन के पास शहाबुद्दीन से लड़ाई हुई जिसमें वह (शहाबुद्दीन) बुरी तरह घायल होकर भागा और लाहोर में अपने घावों का इलाज कराकर ग़ज़नी को लौट गया। यह घटना हि० सन् ५८७ (वि० सं० १२४८=ई० स० ११६१) में हुई[3]। दूसरे वर्ष पृथ्वीराज ने तबरहिंद के क़िले को जा घेरा और वहां के हाकिम ज़ियाउद्दीन को १३ महीने की लड़ाई के पीछे क़िला खाली करना पड़ा। शहाबुद्दीन दूसरे साल फिर चढ़ आया और थाणेश्वर के पास पृथ्वीराज से लड़ाई हुई, पृथ्वीराज क़ैद होकर कुछ महीनों बाद मारा गया और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को शहाबुद्दीन ने अजमेर की गद्दी[4] पर बिठाया और आप स्वदेश को लौट गया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने शहाबुद्दीन की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविन्दराज से अजमेर छीन लिया जिससे वह रणथंभोर में जा रहा।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने, जो शहाबुद्दीन का तुर्क जाति का गुलाम और सेनापति था, वि० सं० १२५० (ई० स० ११६३) में दिल्ली[5] (जो अजमेर का एक सूबा था) छीन ली। तभी से दिल्ली हिंदुस्तान के मुसलमान राज्य की राजधानी हुई। इसपर हरिराज ने कुतुबुद्दीन से दिल्ली ख़ाली कराने के लिये अपने सेनापति

---

(१) ना. प्र. प; भाग १, पृ० ४०७।

(२) सी. मोयेल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० १६७।

(३) वही; पृ० १६७।

(४) वही; पृ० १६८।

(५) वही; पृ० १६८।

(चतरराय) को भेजा परंतु वह हारकर अजमेर को लौट आया। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को हराकर वि० सं० १२५२ (ई० स० ११६५) में अजमेर पर अपना अधिकार किया और वहां मुसलमान हाकिम नियत कर दिया।

इस प्रकार अजमेर के प्रतापी चौहान राज्य का अंत हुआ और राजपूताने के ठीक मध्य (अजमेर) में मुसलमानों का अधिकार हो गया। मेवाड़ का मांडलगढ़ से पूर्व का सारा हिस्सा पृथ्वीराज के समय तक चौहानों के अधिकार में था जिसपर भी उक्त संवत् में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया[1]। फिर तो वे राजपूताने और उसके आसपास के प्रदेशों पर अपना अधिकार बढ़ाने लगे। उक्त संवत् से एक वर्ष पूर्व शहाबुद्दीन ने कन्नौज और बनारस के गहरवार राजा जयचंद से उसका राज्य छीन लिया था[2]। अब गुजरात की बारी आई, वि० सं० १२५२ (ई० स० ११६५) में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई कर उधर लूटमार करना शुरू किया जिसका बदला लेने के लिये गुजरातवालों ने मेरों को अपने सहायक बनाकर कुतुबुद्दीन पर हमला किया जिससे उसको अजमेर के गढ़ में शरण लेनी पड़ी। कई मास तक वह गढ़ घिरा रहा, अंत में शहाबुद्दीन ने ग़ज़नी से नई सेना भेजकर घेरा उठवाया[3]। इसी वर्ष शहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन ने तहनगढ़ (तवनगढ़, करौली राज्य में) पर हमला कर उसे ले लिया[4]। फिर शहाबुद्दीन ने गुजरातवालों को सज़ा देने के लिये गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे कायद्रां गांव के पास बड़ी लड़ाई हुई जिसमें घायल होकर शहाबुद्दीन को लौट आना पड़ा[5]। इस हार का बदला लेने के लिये दूसरे वर्ष कुतुबुद्दीन गुजरात पर चढ़ा और उसी कायद्रां गांव के पास लड़ाई में विजय पाकर गुजरात को लूटता हुआ लौट आया[6]। वि० सं० १२६३ (ई० स० १२०६) में शहाबुद्दीन लाहोर से ग़ज़नी को लौटते समय गक्खरों के हाथ से धमेक के पास मारा गया और उसका भतीजा ग़यासुद्दीन महमूद ग़ोर का सुलतान हुआ। उसी साल ग़या-

(१) देखो ऊपर पृ० १६६।
(२) सी. मोबेल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० १६८।
(३) वही; पृ० १७०।
(४) वही; पृ० १७०।
(५) देखो ऊपर पृ० १३६, [illegible]
(६) देखो ऊपर पृ० [illegible]

सुद्दीन से सब राज्यचिह्न प्राप्त कर कुतुबुद्दीन, जो पहले शहाबुद्दीन का सेनापति और प्रतिनिधि था, हिंदुस्तान का प्रथम मुसलमान सुलतान बनकर दिल्ली के तख़्त पर बैठा। वि० सं० १२६७ (ई० स० १२१०) में वह घोड़े से गिरकर लाहोर में मरा[1] और उसका पुत्र आरामशाह तख़्त पर आया, परन्तु उसी वर्ष उसको निकाल कर कुतुबुद्दीन का गुलाम शमशुद्दीन अल्तमश दिल्ली का सुलतान बन गया। शमशुद्दीन अल्तमश ने जालोर, रणथंभोर, मंडोर, सवालक और सांभर पर चढ़ाइयां कर विजय प्राप्त की[2] तथा वहां के राजाओं को अधीन किया। उसने मेवाड़ पर भी चढ़ाई की परंतु नागदा शहर तोड़ने के बाद वहां के राजा जैत्रसिंह से परास्त होकर उसको भागना पड़ा[3], इसीलिये मुसलमान इतिहास-लेखकों ने इस लड़ाई का वृत्तान्त अपनी पुस्तकों में छोड़ दिया है, परंतु उसी समय के निकट के शिलालेखों आदि में उसका उल्लेख मिलता है। फिर कुतुबुद्दीन के उत्तराधिकारियों ने राजपूताने में विशेष छेड़छाड़ न की और न कोई राज्य छीना, परंतु दिल्ली के खिलजी ख़ानदान के समय में अलाउद्दीन खिलजी ने राजपूतों के राज्य छीनने का निश्चय कर वि० सं० १३५७ (ई० स० १३००) में राजा हंमीर चौहान से रणथंभोर का क़िला लेकर वहां के चौहान राज्य की समाप्ति की[4]। वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में उसने चित्तोड़ पर चढ़ाई की और छः महीने तक लड़ने के बाद वह क़िला फतह कर अपने बेटे ख़िज़रख़ां को दिया। इस लड़ाई में रावल रत्नसिंह और उसके कई सरदार मारे गये और रत्नसिंह की राणी पद्मिनी (पद्मावती) ने कई राजपूत रमणियों के साथ जौहर की अग्नि में प्रवेश कर अपने सतीत्व की रक्षा की। वि० सं० १३८२ (ई० स० १३२५) के आसपास महाराणा हंमीर ने चित्तोड़गढ़ पीछा ले लिया। वि० सं० १३६५ (ई० स० १३०८) में[5] अलाउद्दीन ने सिवाने का क़िला (जोधपुर राज्य में) वहां के चौहान शीतलदेव को मारकर लिया और वि० सं० १३६८ में[6] उसने

(१) बील; 'ओरिएंटल् बायोग्राफिकल् डिक्शनेरी'; पृ० ३२०।

(२) ना. प्र. प; भाग ३, पृ० १२१।

(३) वही; पृ० १२१–२७।

(४) सी. मॉबेल डफ; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० २१०।

(५) वही; पृ० २१२।

(६) फिरिश्ता ने अलाउद्दीन का जालोर लेना हि० स० ७०६ (वि० सं० १३६६)

जालोर पर चढ़ाई की। वहां का चौहान राजा कान्हड़देव और उसका कुंवर वीरमदेव बड़ी वीरता से लड़कर काम आये और जालोर के चौहान-राज्य की भी समाप्ति हो गई।

तुग़लकों के समय में दिल्ली का मुसलमानी राज्य कमज़ोर होने पर राजपूताने के राजाओं ने मुसलमानों के हस्तगत हुए राजपूताने के कई एक विभागों को पीछा अपने राज्यों में मिला लिया। तुग़लकों के पिछले समय में तो उनके राज्य की दशा ऐसी बिगड़ी कि दिल्ली के पश्चिमी दरवाज़े दोपहर की नमाज़ के समय से बंद कर दिये जाते थे और उस तरफ से कोई बाहर न जाने पाता था क्योंकि मेवाती लोग उधर से जल के कुण्ड पर पानी भरनेवाले मर्द और औरतों के कपड़े तक छीनकर ले जाते थे[1]।

फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने अमीशाह को, जिसको दिलावरखां ग़ोरी भी कहते थे, मालवे का हाकिम बनाया, जो फ़ीरोज़शाह के बेटे तुग़लक शाह (मुहम्मद शाह) के समय में मालवे का स्वतंत्र सुलतान बन गया। उसने मेवाड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह पर चढ़ाई की, परंतु उसमें हारकर अपना ख़ज़ाना आदि छोड़ उसे भागना पड़ा[2]। फिर महाराणा कुंभा, रायमल और सांगा (संग्रामसिंह) ने मांडू (मालवे) के सुलतानों से बहुतसी लड़ाइयां लड़ीं।

दिल्ली के सुलतान मुहम्मद तुग़लक ने ज़फरखां को गुजरात का हाकिम बनाया जो तुग़लक बादशाहत की कमज़ोरी देखकर हि० स० ७९९ (वि० सं० १४५३=ई० स० १३९६) में गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन गया। गुजरात के सुलतानों के एक वंशधर ने नागोर (जोधपुर राज्य में) में अपना अधिकार जमाया। मेवाड़ के महाराणा मोकल, कुंभा, सांगा, विक्रमादित्य आदि ने गुजरात के सुलतानों तथा नागोरवालों से कई लड़ाइयां लड़ीं, और सिरोही, डूंगरपुर एवं बांसवाड़े से भी उनका वैसा ही संबंध रहा।

तुग़लकों के समय वि० सं० १४५५ (ई० स० १३९८) में अमीर तैमूर ने

दिया है, परंतु मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में इस घटना का वि० सं० १३६८ वैशाख सुदि ५ को होना माना है, जो अधिक विश्वास के योग्य है। फिरिश्ता ने निश्चित संवत् नहीं दिया।

(१) इलियट्; 'हिस्टरी ऑफ़ इंडिया'; जि० ३, पृ० १०५।

(२) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १९-२१।

हिंदुस्तान पर चढ़ाई कर भटनेर (वीकानेर राज्य में) का क़िला लिया[1], फिर दिल्ली फ़तह कर उसको लूटा और वहां क़त्ले आम किया। इससे तुग़लक बिल्कुल कमज़ोर हो गये और सैयदों ने उनसे राज्य छीन लिया। वे भी थोड़े ही वर्ष राज्य करने पाये थे कि लोदी पठानों ने उनसे तख़्त छीन लिया। इस ख़ानदान के वहलोल और सिकंदर लोदी ने राजपूताने पर हमले किये, परंतु उनका यहां विशेष प्रभाव न पड़ा। उक्त वंश के अंतिम सुलतान इब्राहीम लोदी को वि० सं० १५८३ में पानीपत की लड़ाई में हराकर वावर ने दिल्ली की वादशाहत छीन पठान-राज्य की समाप्ति की।

वावर के हिंदुस्तान में आने के समय हिंदू राजाओं में सब से प्रबल राजा मेवाड़ के महाराणा सांगा (संग्रामसिंह) थे जिनके राज्य की सीमा वयाने तक पहुंच गई थी। उक्त महाराणा ने भारत में पीछा हिंदू राज्य स्थापन करने के लिये वि० सं० १५८४ में वावर से खानवा (वयाने के पास) के मैदान में युद्ध किया; पहली लड़ाइयों में तो उनकी विजय हुई, परंतु अंत की वड़ी लड़ाई में वावर ने विजय प्राप्त की। वावर के पीछे उसका वेटा हुमायूं तख़्त पर वैठा जिसको शेरशाह सूर (पठान) ने, जो चुनारगढ़ का हाकिम था, पराजित कर दिल्ली का तख़्त छीन लिया। शेरशाह के समय भी राजपूताने पर चढ़ाइयां हुईं और उनमें वड़ी लड़ाई जोधपुर के राजा मालदेव के साथ हुई जिसमें छल कपट के कारण शेरशाह की विजय हुई, परंतु अंत में उसे यह कहना पड़ा कि 'मैंने एक मुट्ठी भर वाजरे के लिये हिंदुस्तान की सल्तनत खोई होती'। हुमायूं वड़ी आपत्ति के साथ मारवाड़ और जैसलमेर राज्य में होता हुआ उमरकोट (सिंध में) पहुंचा जहां वि० सं० १५९९ (ई० स० १५४२) में अकवर का जन्म हुआ। उमरकोट से हुमायूं ईरान के वादशाह तहमास्प की शरण में जा रहा। एक दिन शाह तहमास्प ने हुमायूं से पूछा कि कभी तुमने भारतवर्ष के हिंदू राजाओं से संबंध जोड़कर उनको अपना सहायक बनाया या अपने भाइयों पर ही विश्वास कर राज्य करते रहे? हुमायूं ने उत्तर में यही कहा कि भाइयों पर भरोसा करने से ही मेरा राज्य गया। फिर शाह ने उसे समझाया और कहा, 'यदि हिंदू राजाओं को अपने अधीन कर उनसे संबंध जोड़ लेते तो वे तुम्हें अवश्य सहायता देते और तुम्हारी ऐसी दशा कभी न

(१) सी. मोवेल डफ़; 'क्रॉनॉलॉजी ऑफ़ इंडिया'; पृ० २३१।

होती। हुमायूं इस नीति को अच्छी तरह समझ गया और ईरान से सहायता प्राप्त कर भारत की तरफ लौटा तब उसकी यही इच्छा रही कि इस बार अपना राज्य फिर जमने पर हिंदू राजाओं से अवश्य संबंध स्थापित कर उनको अपना सहायक बना लूंगा जिससे मेरे राज्य की नींव सुदृढ हो जायगी। हुमायूं ने जब भारत का कुछ भाग पीछा जीत लिया तब उसने उक्त विचारानुसार अपना कार्यक्रम आरंभ करना चाहा, परंतु दैवगति से वि० सं० १६१२ (ई० स० १५५६) में उसका देहान्त हो गया और उसका पुत्र अकबर १२ वर्ष की अवस्था में उसका उत्तराधिकारी हुआ। उस समय उसके अधिकार में पंजाब से आगरे तक का देश और राजपूताने में तो बयाना और मेवात का इलाक़ा मात्र था। संभव है कि अकबर को उसके पिता ने शाह तहमास्प की शिक्षा से परिचित किया हो। होनहार पुरुषों में बुद्धि-बल और असाधारण ज्ञानशक्ति होना प्राकृतिक नियम है। तदनुसार ये सब गुण अकबर में भी, चाहे वह अधिक पढ़ा-लिखा न हो, विद्यमान थे। सब से पहले वह बड़े बड़े विद्वान् और नीतिनिपुण मंत्रियों आदि को अपने पास रखकर अपने अधीनस्थ राज्य को सुदृढ, शांतिमय और उन्नत बनाने तथा अन्य देशों को अपने अधिकार में लाने के विचार से बिना किसी भेदभाव के सब प्रजाहितकारी कार्यों के प्रचार का प्रयत्न करता रहा। अकबर से पूर्व साढ़े तीनसौ से अधिक वर्ष की तुर्क और पठानों की बादशाहत में उनके सूबेदार, सामंतगण तथा क्षत्रिय (राजपूत) राजाओं के साथ लड़ाई झगड़े निरंतर चला ही करते थे। भारत के हिंदू राजाओं को उन्होंने सैनिक बल से कुचलकर या तो उनके राज्य छीन लिये या उनको अपने अधीन किया और धर्मद्वेष के विचार से वे हिंदुओं को सदा तुच्छ दृष्टि से देखते रहे थे। इसीलिये राजा तथा प्रजा में परस्पर की प्रीति कभी स्थापित न हुई। इन्हीं आंतरिक उपद्रवों से लाभ उठाकर भिन्न भिन्न मुसलमान राजवंश इस देश के स्वामी बन गये और सीमांत बाहरी प्रदेशों से भी चढ़ाइयां होने का भय सदा लगा ही रहता था। यद्यपि मुग़ल और पठान आदि एक ही धर्म के माननेवाले थे तो भी राज्यव्यवहार में धर्म के नाते का कभी विचार नहीं रहता था। अपना राज्य भारत के अधिकांश से उठ जाने के कारण पठान आदि, पहले के सुलतान, मुग़लों के शत्रु बने हुए ही थे। इस भय को मिटाने के लिये अकबर जैसे नीतिनिपुण बादशाह ने समझ लिया कि यदि मैं हिंदुस्तान को अपना ही देश

समझूं, हिंदुओं को भी प्रसन्न रक्खूं और राजपूतों को अपना सहायक बना लूं तो मेरे राज्य की नींव सुदृढ हो जायगी और इसी से अन्य देशों को भी विजय कर सकूंगा। राजपूताने में उस समय ११ राज्य—उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, आंबेर, बूंदी, सिरोही, करौली और जैसलमेर—थे। उनमें मुख्य मेवाड़ (उदयपुर) और जोधपुर थे। आंबेर के कछवाहे उन्नत दशा में न थे और अजमेर का मुसलमान सूबेदार उनको सताया भी करता था। अकबर ने सब से पहले आंबेर के राजा भारमल कछवाहे को अपनी अधीनता में लिया और उसकी तथा उसके पुत्रों आदि की मान-मर्यादा बढ़ाई। भारमल ने भी राज्य के लोभ में आकर अपनी राजकुमारी का विवाह अकबर के साथ कर दिया। राजपूताने के राजाओं में बादशाहों को अपनी लड़की ब्याहने का यह पहला ही उदाहरण है। इस प्रकार अकबर की राजपूतों के साथ की नीति का बीजारोपण हुआ। बादशाह अकबर जानता था कि राजपूत राजाओं के नेता मेवाड़ के महाराणा हैं, इसलिये जब तक उनको अपने अधीन न कर लूं तब तक मेरा मनोरथ सफल न होगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये बादशाह ने वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में महाराणा उदयसिंह के समय चित्तोड़ पर चढ़ाई कर उस किले को ले लिया, परंतु महाराणा ने उसकी अधीनता स्वीकार न की जिससे उनके साथ लड़ाइयां होती रहीं। महाराणा उदयसिंह का देहांत होने पर प्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ के स्वामी हुए। उनके साथ भी अकबर की सेनाएं लड़ती रहीं, परंतु उस दृढ़-व्रती महाराणा ने अकबर की अधीनता स्वीकार न की। अकबर के पीछे जहांगीर दिल्ली का बादशाह हुआ और महाराणा प्रताप के पीछे महाराणा अमरसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। जहांगीर के समय भी उक्त महाराणा से कई लड़ाइयां हुईं और अंत में महाराणा ने अपने कुल-गौरव के अनुसार शर्तें हो जाने पर बादशाह की अधीनता स्वीकार करली जिसको जहांगीर ने अपने लिये बड़े गौरव का विषय समझा। इस प्रकार मेवाड़ के राज्य की स्वतंत्रता का भी अंत हुआ।

अकबर राजपूतों को अधीन करने में अपनी कृपा की बेड़ी से उनको जकड़ने तथा उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ने के अतिरिक्त भेदनीति के द्वारा उनमें परस्पर का विरोध फैलाकर उनको निर्बल करने का उद्योग भी करता

रहा; जैसे कि मेवाड़ का बल तोड़ने के लिये वि० सं० १६२६ (ई० स० १५६९) में बूंदी के राव सुर्जन हाड़ा ने आंबेर के राजा भगवानदास की सलाह से बादशाही सेवा स्वीकार कर राणा की अधीनता से मुख मोड़ा और राणा का रणथंभोर का गढ़ बादशाह को सौंप नई जागीर स्वीकार की। ऐसे ही अकबर ने रामपुरे के चंद्रावत सीसोदिया राव दुर्गा को मेवाड़ से स्वतंत्र कर वि० सं० १६३८ (ई० स० १५८१) में अपना सेवक बनाया। जब वह महाराणा प्रताप को अपने वश में न ला सका तो उनके भाई जगमाल को अपना सेवक बनाकर सिरोही का आधा राज्य उसको दे दिया। इसी प्रकार जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, करौली आदि के राजाओं को भी अपने अधीन कर उसने राजपूताने पर अपना आतंक जमाया। बादशाह अकबर कालिंजर, गुजरात, मालवा, बिहार, बंगाल, कश्मीर आदि प्रदेश अपने राज्य में मिलाकर एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया। इन देशों को विजय करने में राजपूतों से उसको बड़ी सहायता मिली थी।

जहांगीर और शाहजहां का बर्ताव भी राजपूतों के साथ बहुधा वैसा ही रहा जैसा कि अकबर का था। जहांगीर ने जोधपुर के मोटे राजा उदयसिंह के पुत्र कृष्णसिंह को सेठोलाव की जागीर दी। कृष्णसिंह ने अपने नाम से कृष्णगढ़ बसाकर वहां राजधानी स्थापित की। इसी से उसके राज्य का नाम कृष्णगढ़ (किशनगढ़) प्रसिद्ध हुआ। शाहजहां ने अपने सन् जुलूस (राज्यवर्ष) तीसरे (वि० सं० १६८६-८७) में बूंदी के राव रतन हाड़ा के पुत्र माधवसिंह को कोटा और पलायता के परगने जागीर में देकर बूंदी से स्वतंत्र किया। इस प्रकार कोटे का अलग राज्य स्थिर हुआ।

वि० सं० १७१५ (ई० स० १६५८) में शाहजहां को क़ैद कर उसका बेटा औरंगज़ेब दिल्ली का बादशाह बना और अपने भाई भतीजों को मारकर उसने अपना मार्ग निष्कंटक किया। उसने दक्षिण को विजय कर अकबर से भी अपना राज्य अधिक बढ़ाया, परंतु धर्मद्वेष और कुटिल व्यवहार से राजपूत एवं हिंदूमात्र उसके विरोधी हो गये। दक्षिण में शिवाजी का उपद्रव मचा। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु होने पर औरंगज़ेब ने जोधपुर खालसे कर लिया और कुछ समय के लिये जयपुर के साथ भी वैसा ही बर्ताव किया। उदयपुर के महाराणा राजसिंह की कार्रवाइयों से अप्रसन्न होकर मेवाड़ पर भी उसने चढ़ाई कर दी। उसके साथ लड़ते समय राजसिंह का देहांत हो गया और

वि० सं० १७३८ (ई० स० १६८१) में महाराणा जयसिंह ने बादशाह से सुलह कर ली। महाराणा से सुलह होने पर बादशाह दक्षिण को चला गया और जोधपुर तथा जयपुर के राजाओं ने अपने अपने राज्यों पर पीछा अधिकार कर लिया। औरंगज़ेब का देहांत वि० सं० १७६३ (ई० स० १७०७) में अहमदनगर (दक्षिण में) में हुआ। जिस मुग़ल साम्राज्य की इमारत बादशाह अकबर ने खड़ी की थी, उसकी नींव औरंगज़ेब ने हिला दी और उसके मरते ही बादशाहत के लिये उसके पुत्रों में लड़ाइयां हुईं। शाहज़ादे मुअज़्ज़म ने अपने भाई आज़म को लड़ाई में मारा और बहादुरशाह नाम धारण कर वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा। उसने जयपुर और जोधपुर के राजाओं को बादशाह की आज्ञा के बिना अपने राज्यों पर अधिकार कर लेने के लिये सज़ा देने का विचार किया था, परन्तु पंजाब में सिक्खों का उपद्रव मच जाने से वह कुछ न कर सका और उधर चला गया।

बहादुरशाह के पीछे ११ बादशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठे जो नाममात्र के बादशाह रहे। उनमें से शाहआलम (दूसरे) ने माचेड़ी के स्वामी नरूका प्रतापसिंह को राव राजा का ख़िताब और पांच हज़ारी मनसब आदि देकर वि० सं० १८३१ में स्वतंत्र राजा बनाया। इस प्रकार अलवर का नया राज्य स्थिर हुआ। मुग़ल साम्राज्य की इस अवनत दशा में अवध, बंगाल, दक्षिण आदि के बड़े बड़े सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे, मरहटों का बल प्रतिदिन बढ़ता गया, यहां तक कि दिल्ली की सल्तनत का कुल काम सिंधिया के हाथ में रहा और बादशाह को सालियाना ख़र्च भी उसी से मिलने लगा। उधर अंग्रेज़ों का प्रताप भी दिन दिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८६० (ई० स० १८०३) में मरहटों को शिकस्त देकर लॉर्ड लेक दिल्ली पहुंचा और शाहआलम को महरटों के पंजे से छुड़ाकर अपनी रक्षा में लिया। शाहआलम के पीछे अकबर (दूसरा) और बहादुरशाह (दूसरा) नाममात्र के लिये दिल्ली के तख़्त पर बिठलाये गये। ई० स० १८५७ (वि० सं० १९१४) के ग़दर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध होने के कारण बहादुरशाह को उन्होंने क़ैद कर रंगून भेज दिया। इस प्रकार ३३० वर्ष के बाद हिंदुस्तान के मुग़ल-साम्राज्य का अंत हो गया।

मरहटों का संबंध

मरहटों[1] का संबंध राजपूताने के साथ बहुत रहा है अतएव हम यहां

(१) दक्षिण के महाराष्ट्र देश के रहनेवाले लोग सामान्य रूप से 'महाराष्ट्र' या मरहटे

बहुत ही संक्षेप रूप से उनका परिचय देना उचित समझते हैं।

मरहटा जाति दक्षिणी हिन्दुस्तान की रहनेवाली है। उसके प्रथम राजा छत्रपति शिवाजी के वंश का मूल पुरुष मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश में से माना जाता है[1]। कर्नल टॉड ने उसको महाराणा अजयसिंह के पुत्र सज्जनसिंह का वंशज बतलाया है[2]। मुंहणोत नैणसी उसको महाराणा क्षेत्रसिंह के पासवानिये (अनौरस) पुत्र चाचा की सन्तान कहता[3] है, और खफ़ीखां की फारसी

कहलाये, जैसे कि कश्मीर से कश्मीरी, मारवाड़ से मारवाड़ी आदि। दक्षिण में भी पहले भारतवर्ष के अन्य विभागों के समान चारों वर्ण थे ऐसा पुराने शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से पाया जाता है। वि० सं० की १४वीं शताब्दी के आसपास वहां के ब्राह्मणों ने पुराणों के इस कथन पर कि 'नंदवंशी तथा उनसे पीछे के राजा शूद्र होंगे' विश्वास कर दक्षिण में केवल दो वर्ण ब्राह्मण और शूद्र स्थिर कर दिये और ब्राह्मणों की प्रबलता तथा मुख्यता के कारण उनका आदेश चल निकला, परंतु वास्तव में देखा जाय तो मरहटों में क्षत्रिय जाति अब तक विद्यमान है जैसा कि उनके उपनाम मोरे (मौर्य, मौरी), गुप्ते (गुप्तवंशी), पंवार (परमार), चाळके (चालुक्य, सोलंकी), जादव आदि से पाया जाता है। पीछे से ब्राह्मणों ने वहां के क्षत्रियों को भी शूद्र मानकर उनकी धर्म-क्रियाएं वैदिक रीति से नहीं, किंतु पौराणिक पद्धति से कराना शुरू कर दिया और वही रीति उनके यजमानों के अज्ञान के कारण चल गई। कमलाकर पंडित ने 'शूद्रकमलाकर' (शूद्रधर्मतत्त्व) नामक ग्रंथ लिखकर उनकी धर्मक्रियाओं की पौराणिक विधि भी स्थिर कर दी। जब दक्षिण के क्षत्रिय (राजपूत) इस प्रकार शूद्रों की गणना में आने लगे तो राजपूताना आदि अन्य प्रदेशों के राजपूतों से उनका विवाह-संबंध छूट गया।

(१) उदयपुर राज्य के 'वीरविनोद' नामक वृहत् इतिहास में शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश में होना लिखा है ('वीरविनोद'; खंड २, पृ० १४८१-८२)। शिवाजी और उनके वंशज मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश से निकले हुए होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई संतान न होने से उसने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिये दत्तक लेना चाहा था, परंतु इसके पूर्व ही राजपूतों का विवाह-संबंध उनके साथ होना छूट गया था इसलिये महाराणा ने उसे स्वीकार न किया।

(२) टॉ. रा.; जि० १, पृ० ३१४। कर्नल टॉड ने जहां शिवाजी के वंश का परिचय और वंशावली दी है वहां तो उसका महाराणा अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह के वंश में होना लिखा है, परंतु आगे (पृ० ३७१ में) वणवीर (बनवीर) के वृत्तांत में लिखा है कि नागपुर के भोंसले उस (वणवीर) के वंश में हैं जो विश्वास के योग्य नहीं है।

(३) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पत्र ४। १।

नैणसी का कथन विश्वसनीय नहीं है और समय के हिसाब से भी उसको ठीक नहीं कह सकते।

तवारीख़ 'मुन्तख़बुल्लुबाब' में उसका चित्तोड़ के राजाओं की शाखा में होना लिखा है। शिवाजी के पूर्वजों की जो वंशावली मिलती है उसमें ये नाम हैं—

१–महाराणा अजयसिंह, २–सज्जनसिंह, ३–दुलीसिंह, ४–सिंह, ५–भोंसला, ६–देवराज, ७–इन्द्रसेन, ८–शुभकर्ण, ९–रूपसिंह, १०–भूमीन्द्र, ११–रापा, १२–बरहट, १३–खेला, १४–कर्णसिंह, १५–शंभा, १६–बाबा, १७–मालू, १८–शाहजी, १९–शिवाजी, २०–शंभा (दूसरा), २१–साहू, २२–रामराजा (दत्तक), २३–साहू दूसरा (दत्तक) और २४–प्रतापसिंह।

कर्नल टॉड ने वंशावली इस प्रकार दी है[1]—

१–अजयसी, २–सजनसी, ३–दलीपजी, ४–शीओजी, ५–भोरजी, ६–देवराज, ७–उगरसेन, ८–माहलजी, ९–खेलूजी, १०–जनकोजी, ११–सत्तूजी, १२–संभाजी, १३–सिवाजी (मरहटों के राज्य का स्थापक), १४–संभाजी (दूसरा) और १५–रामराजा, जिससे पेशवा ने राज्य छीन लिया।

पहले के सोलह व्यक्तियों का कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता अतएव हम यहां शिवाजी के दादा मालूजी भोंसला से मरहटों के राज्य का सिलसिला शुरू करते हैं। मालूजी वि० सं० १६५७ (ई० स० १६००) में अहमदनगर के सुलतान का नौकर हुआ। वि० सं० १६५० (ई० स० १५९३) में उसके शाहजी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। लूटमार के द्वारा मालूजी ने बहुतसी संपत्ति जोड़कर अपना बल बढ़ाया तथा अहमदनगर के सुलतान ने भी उसको पूना और सोपारा की जागीर प्रदान की। उसने अपने पुत्र शाहजी का विवाह एक मरहटे सरदार जादूराव की कन्या के साथ किया। वि० सं० १६७६ (ई० स० १६१९) में मालूजी का देहान्त होने पर शाहजी उसका उत्तराधिकारी हुआ। पहले तो वह मुग़ल सम्राट् शाहजहां के विरुद्ध होकर खानेजहां लोदी का तरफ़दार हो गया था, परंतु फिर उसने शाहजहां की सेवा स्वीकार कर ली। अंत में किसी कारण से वह उसकी सेवा छोड़कर दौलताबाद की तरफ़ चला गया। वि० सं० १६९० (ई० स० १६३३) में शाहजहां ने बीजापुर पर चढ़ाई की उस वक़्त शाहजी ९००० सवारों की सेना सहित बीजापुर के पक्ष में रहकर बादशाही फ़ौज से लड़ा था। दक्खन के सूबेदार खानेजहां लोदी ने जब बाग़ी सरदार निज़ामुल्मुल्क को क़ैद कर दिल्ली भेजा तब शाहजी ने दूसरे निज़ाम को

(१) टॉ; रा.; जि० १, पृ० ३१४, टिप्पण ३।

उसके स्थान में बैठा दिया, तथा उसके भी क़ैद हो जाने पर तीसरे को स्थपित किया और बीजापुर व अहमदनगर के राज्यों की सम्मिलित सेना के साथ बादशाही फौज पर कई हमले कर उसको परास्त कर दिया। फिर अवसर पाकर आप निज़ाम के राज्य पर हाथ बढ़ाने लगा। जब शाहजहां के साथ अहमदनगर और बीजापुरवालों की संधि हो गई और शाहज़ादा औरंगज़ेब वि० सं० १६९३ (ई० स० १६३६) में दक्षिण के सूबों पर नियत हुआ तब शाहजी भी बीजापुर में जा रहा और अपने पिता की जागीर के परगने पूना और सूपा, जो बीच में बीजापुरवालों ने छीन लिये थे, पीछे उसको मिल गये। कर्णाटक की लड़ाई में शाहजी ने बीजापुर की सेना के साथ अच्छी सेवा बजाई इसलिए उधर कोल्हार, बंगलोर और बालापुर आदि परगने भी उसको जागीर में दिये गये और उनके सिवा सतारे के दक्षिणी ज़िले कराड़ में २२ गांवों की देशमुखी भी प्रदान हुई। शाहजी की एक स्त्री से शंभा और शिवाजी तथा दूसरी से व्यंका नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था।

शिवाजी का जन्म वि० सं० १६८४ (ई० स० १६२७) में हुआ था। जब वे बालक थे तब उनकी माता जीजीबाई बादशाह शाहजहां की सेना में क़ैद होकर आई थी, परंतु अपने पीहरवालों की सिफ़ारिश से छूट गई, जो उस समय बादशाही नौकर थे। वि० सं० १६९३ (ई० स० १६३६) तक छः वर्ष तो शिवाजी व उनकी माता शाहजी से पृथक् रहे, परंतु अंत में वे उनके पास बीजापुर चले गये। शिवाजी का पहला विवाह निम्बालकर की कन्या सईबाई के साथ हुआ। जब शाहजी कर्णाटक की तरफ गया तो उसने शिवाजी व उनकी माता को पूने भेजकर दादा कोणदेव पंडित को शिवाजी का शिक्षक और अपनी जागीर का निरीक्षक बनाया। उस पंडित के श्रम तथा उद्योग से सैनिक शिक्षा में तो शिवाजी प्रवीण हो गये, परंतु पढ़ने-लिखने पर उन्होंने बहुत थोड़ा ध्यान दिया। हां, महाभारत, रामायण और पुराणादि धर्मग्रंथों की कथावार्ताओं को श्रवण करते रहने से विधर्मियों (मुसलमानों) के साथ उनको घृणा-सी हो गई थी। अपनी जागीर के पर्वतीय भाग के निवासी मावली लोगों के समागम से उन्होंने देश की विकट घाटियों और विषम पर्वतमार्गों का ज्ञान भलीभांति प्राप्त कर लिया था। शिकार और वनविहार ही में वे अपना बहुत-सा समय बिताने लगे। दादा कोणदेव ने उनकी युद्ध-

बहुत समझाया, परंतु शिवाजी के मन में यही धुन समा रही थी कि मैं किसी प्रकार स्वतंत्र राजा बन जाऊं। सर्दी, गर्मी और मेह-पानी की कुछ भी परवाह न करके स्वामिभक्त मावलियों को साथ लिये वे दूर दूर के जंगल व पहाड़ों में जाने लगे और अपने मिलनसार स्वभाव के कारण उन्होंने मुसलमान अधिकारियों और मरहटे सरदारों से भी मेलजोल पैदा कर लिया। वे बातचीत करने में चतुर, स्वभाव के वीर और राज-दरबार की रीति-भांति को भी भली प्रकार जानते थे।

मरहटों के प्रताप को भारतवर्ष में चमकानेवाले शिवाजी दक्षिण के मुसलमानी राज्य बीजापुर, गोलकुंडा आदि की दुर्व्यवस्था से लाभ उठाकर अपने पुरुषार्थ और पराक्रम के द्वारा कई गढ़ गढ़ी बनाते और परगने दबाते रहे। उन्होंने कई नगर लूटकर उनकी संपत्ति से अपने सैन्यबल में वृद्धि की और एक ज़मींदार से महाराजा बन गये। अपना बल उन्होंने इतना बढ़ाया कि केवल दक्षिण के सुलतानों ही से नहीं, किंतु औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली और कट्टर मुग़ल बादशाह से भी भय न खाकर दिल्ली के दक्षिणी इलाक़ों पर भी हाथ बढ़ाने लगे और उधर के सूबेदारों से कई लड़ाइयां लड़ीं। यद्यपि औरंगज़ेब शिवाजी को पहाड़ी चूहा और मरहटों को जंगली लुटेरे कहा करता था, परंतु जब उसने देखा कि उस चूहे का उपद्रव प्रतिदिन बढ़ता जाता है तो पहले उसने शायस्ताख़ां को उसका उत्पात मिटाने के वास्ते भेजा। जब उक्त ख़ां को उस उपद्रव के शमन करने में असमर्थ पाया और शिवाजी ने धोखे के साथ उसके पुत्र व साथियों को मारकर उसकी उंगलियां ही नहीं उड़ा दीं, किंतु बादशाही फौज को भी बुरी तरह परास्त करके भगा दिया तब शाहज़ादा मुअज़्ज़म और जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह दक्खन में भेजे गये। इनसे भी बादशाह को सन्तोषजनक सफलता होने की सूरत नज़र न आई तब आंबेर के कछवाहे मिर्ज़ा राजा जयसिंह और दिलेरख़ां को वि० सं० १७२१ (ई० स० १६६५) में रवाना किया। मिर्ज़ा राजा ने अपनी क्रियाकुशलता और बल-बुद्धि द्वारा शिवाजी से बहुतसे गढ़-गढ़ी छीनकर अंत में उन्हें बादशाही सेवा स्वीकार कर लेने को बाध्य किया और उनके पुत्र शंभा सहित उन्हें शाही दरबार में आगरे भेज दिया। वहां पहुंचने पर जब शिवाजी ने देखा कि बादशाह की नीयत मेरी तरफ साफ़ नहीं है तो वे बड़ी चतुराई के साथ अपने पुत्र सहित भागकर कई कठिनाइयां सहते हुए पीछे

दक्षिण में पहुंच गये। मिर्ज़ा राजा जब दक्षिण में आया और अपनी फौजी कार्रवाई करने लगा उस वक्त शिवाजी ने एक पत्र लिखवाकर राजा को भेजा था जिसमें अन्यान्य विषयों का वर्णन करते हुए यह भी जतला दिया कि 'आप और हम मिलकर बातचीत कर लें। इससे आप यह कदापि न समझें कि अफ़ज़लखां की तरह आपके साथ व्यवहार किया जायगा। अफ़ज़लखां ने तो धोखे के साथ मुझे मारने या कैद करने का प्रबंध कर बारह सौ सवार गुप्त रीति से घात में लगा रक्खे थे। यदि उस वक्त मैं अपने बचाव के वास्ते उसे न मार लेता तो आज की चिट्ठी आपको कौन लिखता" इत्यादि।

जब मिर्ज़ा राजा के पास यह खबर पहुंची कि शिवाजी भाग गये हैं और उसने यह भी सुना कि बादशाह को मेरे बेटे रामसिंह पर उसके भगा देने का संदेह होगया है तो वह बड़े विचार में पड़ा और शिवाजी को पीछा काबू में लाने के लिये उसने अनेक उपाय रचे, परंतु कुछ भी सफलता न हुई। शिवाजी का संबंध राजपूताने के साथ कुछ भी न रहा इसलिये उनकी कार्रवाइयों का विशेष वृत्तान्त यहां देना उपयोगी न समझकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वि० सं० १७३१ (ई० स० १६७४) में शिवाजी बड़ी धूमधाम के साथ रायगढ़ में राज्यसिंहासन पर बैठे, 'राजा' पदवी धारण की, अपनी मोहर छाप में 'क्षत्रियकुलावतंस श्री राजा शिवा छत्रपति[2]' शब्द अंकित करवाये और अपने नाम के सिक्के भी चलाये[3]। अपने राज्य की अच्छी व्यवस्था की और बुद्धिमान् तथा योग्य मंत्रियों एवं शूरवीर रणपरिचित सेनापतियों की सहायता से राजकाज करने लगे, परंतु इस पद का उपभोग वे बहुत काल तक न कर सके, क्योंकि गद्दी बैठने के छः वर्ष पीछे ही वि० सं० १७३७ (ई० स० १६८०) में मृत्यु के दूत ने उनको आ सम्हाला और ५३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। अपनी नीतिनिपुणता और उत्तम बर्ताव से शिवाजी ने मरहटेमात्र के

---

(१) ना. प्र. प; भा० ३, पृ० १४६–६३।

(२) ग्रैंट डफ; 'हिस्टरी ऑफ़ दी मराठाज़'; जि० १, पृ० २०७, टिप्पण २ (ऑक्सफर्ड संस्करण)।

(३) शिवाजी का सोने का सिक्का भी मिला है जिसपर 'छत्रपति महाराजा शिवाजी' लेख है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्कियालॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्कल; ई० स० १६१६, पृ० ६ और ४८।

अंतःकरण में एक प्रकार का जोश और जातीय भाव उत्पन्न कर दिया था, जिसके द्वारा पीछे उनकी उन्नति का नक्षत्र थोड़ासा चमका, परंतु फिर परस्पर की ईर्षा, द्वेष, फूट और लूटमार का बाज़ार गरम रखने से राष्ट्रीय संगठन की रक्षा करने के बदले उन्होंने उसका विध्वंस कर दिया और उस उन्नति के नवांकुरित पौधे का शीघ्र ही नाश हो गया। शिवाजी ने चार विवाह किये थे उनमें से सईबाई और एक दूसरी स्त्री तो उनके जीतेजी ही मर गई, तीसरी पुत्तलबाई पति के देहांत से थोड़े दिन पीछे सती हो गई और चौथी सोयराबाई राजाराम[1] की माता थी, जिसपर शिवाजी का बड़ा प्रेम था। सईबाई के गर्भ से शंभा ने जन्म लिया था।

शंभा—यद्यपि पाटवी होने से शिवाजी के पीछे गद्दी का हक़ उसी का था, परंतु उसके दुश्चरित्र होने और किसी ब्राह्मण की स्त्री पर बलात्कार करने के दंड में शिवाजी ने उसको क़ैद कर रक्खा था, जहां से किसी ढब से निकलकर वह बादशाही सूबेदार दिलेरख़ां के पास चला गया, किंतु जब औरंगज़ेब ने दिलेरख़ां को लिखा कि शंभा को हमारे पास भेज दो तो उसने उसको अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के वास्ते चुपके से भगा दिया, क्योंकि वह अपने स्वामी की नीति को जानता था। लाचार शंभा पीछा पिता की शरण में आया और पन्हाले के गढ़ में क़ैद किया गया। शिवाजी का देहांत होने पर सरदारों ने बालक राजाराम को गद्दी पर बिठा दिया। जब शिवाजी की मृत्यु के समाचार शंभा ने सुने तब उसने उक्त गढ़ पर अधिकार कर लिया और वह अपनी सेना सहित रायगढ़ पहुंचा। दूसरे सरदार भी उससे मिल गये और वह अपने पिता की गद्दी पर बैठा। उसने राजाराम की माता को गढ़ से नीचे गिराकर मरवा दिया, राजाराम को भी क़ैद कर लिया और अपने पिता के स्वामिभक्त सरदार और सेनापतियों में से कितनों ही को तो मरवा डाला और कई एक को क़ैद किया। आगरे से भागते वक़्त शिवाजी ने जिस कवि कलश नामक ब्राह्मण के पास शंभा को छोड़ा था उसी को शंभा ने पंडितराज की पदवी देकर अपना मंत्री बनाया। शिवाजी के गुरु स्वामी रामदास ने शंभा को बहुत समझाया, परंतु उनकी शिक्षा का कुछ भी प्रभाव उसपर न पड़ा। औरंगज़ेब का शाहज़ादा अकबर अपने पिता के कोप से भयभीत होकर कुछ काल तक शंभा के पास रहा जिससे घबराकर बादशाह

(१) राजाराम के स्थान पर रामराजा भी लिखा मिलता है।

राजपूताने में महाराणा जयसिंह के साथ की लड़ाई को जैसे तैसे समाप्त कर औरंगाबाद पहुंचा और ग़ाज़ीउद्दीनखां को बड़ी सेना देकर शंभा पर भेजा। जब औरंगज़ेब बीजापुर और गोलकुंडे को विजय करने में लगा था उस समय शंभा भी कभी कभी बादशाही सेना के साथ थोड़ी बहुत लड़ाई करता रहा, परंतु जब उसने उन दोनों राज्यों को जीतकर दिल्ली की बादशाहत में मिला लिया तब वि० सं० १७४४ (ई० स० १६८७) में शंभा का नाश करने पर कमर बांधी और शाहज़ादे मुहम्मद आज़म को ४०००० सेना देकर उसपर भेजा। वि० सं० १७४५ (ई० स० १६८९) में बादशाही सेनापति मुकर्रबखां पन्हाले की तरफ भेजा गया। उस समय शंभा पन्हाले को छोड़कर संगमनेर तीर्थ के एक बाग़ में प्रेमपात्रिकाओं को साथ लिए आनन्द उड़ा रहा था। वह यह समझे हुए था कि ऐसे विकट मार्ग को पार कर इस सुरक्षित स्थान में शत्रु नहीं पहुंच सकेगा। मुकर्रबखां अपनी चुनी हुई सेना सहित वहां जा पहुंचा। शंभा शराब के नशे में चूर हो रहा था, जब उसके सेवक ने शत्रु की सेना सिर पर आ जाने की सूचना उसे दी तो उसने क्रोध में आकर उस बिचारे को बहुत कुछ भला बुरा कहा। इतने में तो मुकर्रबखां आ पहुंचा; शंभा ने उससे युद्ध किया, परंतु वह घायल होकर पकड़ा गया। कवि कलश भी, जो उसके साथ था, शत्रु से लड़कर सख़्त घायल हुआ। मुकर्रबखां ने दोनों को क़ैद कर बादशाह के पास पहुंचा दिया। जब शंभा दरबार में लाया गया तो औरंगज़ेब तख़्त से उतरकर खुदा का शुक्रिया करते हुए नमाज़ पढ़ने लगा; उस समय कवि कलश ने शंभा को कहा कि देख, तेरा प्रताप कैसा है कि तुझको मान देने के वास्ते बादशाह तख़्त छोड़कर तेरे सामने सिर झुकाता है। औरंगज़ेब ने चाहा कि शंभा मुसलमान हो जाय, परंतु उसने कई अपशब्दों के साथ बादशाह का अनादर किया जिसपर क्रोध में आकर बादशाह ने शंभा और कवि कलश दोनों को उनके कई साथियों सहित मरवा डाला।

शंभा के मारे जाने पर बादशाही सेनापति ऐतक़ादखां ने रायगढ़ फतह कर लिया। शंभा की राणी यीशूबाई अपने बालक पुत्र शाहू समेत क़ैद की जाकर बादशाह के पास पहुंचाई गई, और शिवाजी का दूसरा पुत्र राजाराम किसी ढब से भाग निकला। राजाराम ने गद्दी पर बैठकर बादशाही सेना से कई लड़ाइयां कीं, परंतु अन्त में ज़ुल्फ़िक़ारखां से हार खाकर वि० सं० १७५४ (ई० स० १६९७) में वह सतारे चला गया और उस नगर को अपनी

राजधानी बनाया। राजाराम के मरने पर उसका बालक पुत्र शिवाजी (दूसरा) गद्दी पर बैठा और राज्य का काम उसकी माता ताराबाई सम्हालने लगी। इसके समय में मरहटों ने अपने खोए हुए बहुतसे गढ़-गढ़ी पीछे ले लिये थे। वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में जब बादशाह औरंगज़ेब अहमदनगर में मर गया, तब शाहज़ादे आज़म ने शंभा के पुत्र शाहू को कैद से छोड़ दिया। उसने वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में ताराबाई से सतारे का राज्य छीन लिया और वह अपने बालक पुत्र को लेकर कोल्हापुर चली गई, जहां उसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

शाहू राजा ने बालाजी विश्वनाथ को अपना पेशवा (प्रधान) बनाया था। यह पहला ही पेशवा था जिसने अवसर पाकर राज्य का सारा काम अपने हस्तगत कर लिया, इसलिये धन्ना यादव के पुत्र चंद्रसेन और उसके बीच परस्पर शत्रुता हो गई। वि० सं० १७७० (ई० स० १७१३) में उन दोनों में लड़ाई हुई। शाहू राजा ने पेशवा की सहायता के लिये हैबतराव निंबालकर को भेजा, जिससे हार खाकर चन्द्रसेन पहले तो कोल्हापुर चला गया; फिर निज़ाम के पास जा रहा। पेशवा की सत्ता प्रतिदिन बढ़ने लगी और वि० सं० १७७५ (ई० स० १७१८) में दिल्ली जाकर उसने बादशाह फ़र्रुखसियर से कई जागीरों की सनदें, दक्खन की चौथ[1] और सरदेशमुखी[2] के हक हासिल किये। फिर वहां से पीछा आने बाद वि० सं० १७७८ (ई० स० १७२१) में वह मर गया। यहीं से पेशवों का राज्य शुरू होकर शाहू केवल नाममात्र का राजा रह गया।

बाजीराव (बालाजी विश्वनाथ का पुत्र)–यह वि० सं० १७७८ (ई० स० १७२१) में पेशवा बना और उसका प्रताप इतना बढ़ा कि सारे हिन्दुस्तान का राज्य अपने अधिकार में कर लेने की नीयत से उसने जहां तहां अपने नायब भेजे। फिर तो शिवाजी के वंश के राजा नाममात्र के राजा कहलाते रहे। उसने मल्हारराव होल्कर, राणोजी सिंधिया और पीलाजी गायकवाड़ आदि मरहटे सरदारों को बड़े बड़े ओहदे देकर मालवे और गुजरात पर अपने नायब के तौर नियत किया। जिस समय मालवे की सूबेदारी

(१) आमद का चौथा हिस्सा।

(२) सरदेशमुखी एक कर था जिसमें आमद का १०वां हिस्सा लिया जाता था और यह कर चौथ से अलग लगता था।

पर बादशाह मुहम्मदशाह की तरफ से आंबेर का महाराजा सवाई जयसिंह था तब मरहटों ने नर्मदा को पार कर अपनी बाग उत्तर भारत की ओर उठाई। महाराजा जयसिंह ने कुछ शर्तों पर मालवा बाजीराव के सुपुर्द कर दिया।

वि० सं० १७९७ (ई० स० १७४०) में बाजीराव पेशवा के मरने पर उसका पुत्र बालाजीराव (बालाजी बाजीराव) तीसरा पेशवा हुआ। वि० सं० १८०६ (ई० स० १७४९) में राजा शाहू का देहान्त हुआ। शाहू की राणी सकरबाई (सकवारबाई) ने कोल्हापुर से राजा शंभा को गोद लेना चाहा, परंतु दूसरी राणी ताराबाई के प्रयत्न से शिवाजी (दूसरा, रामराजा का पुत्र) नाममात्र के लिये सतारे की गद्दी पर बिठलाया गया। शाहू राजा के समय से ही राज्य की सारी सत्ता पेशवा के हाथ में थी, तो भी वह प्रधान कहलाता था। शाहू के मरते ही बालाजी महाराजाधिराज बन गया और उसने वि० सं० १८०७ में पूने में अपनी राजधानी स्थापित की तथा अपने सैनिक अफ़सर होल्कर, सिंधिया और पंवार में मालवे का देश बांट दिया।

वि० सं० १८१८ (ई० स० १७६१) में अहमदशाह अब्दाली, जो पहले हमले में पेशवा के भाई रघुनाथराव से परास्त होकर लौट गया था, फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। इस बार सदाशिवराव की बातों में आकर पेशवा ने युद्धकुशल रघुनाथराव को सेनापति के पद से अलग कर सदाशिवराव को उसके स्थान पर नियत किया और समग्र मरहटा दलबल सहित उसको अहमदशाह से लड़ने के लिये भेजा। पानीपत के घोर युद्ध में मरहटे परास्त हुए, उनके सहस्रों सैनिक खेत रहे और कई बड़े बड़े अफ़सर, पेशवा के पुत्र विश्वासराव और सेनापति सदाशिवराव सहित, मारे गये। अपने पुत्र की मृत्यु एवं इस पराजय की खबर सुनकर बालाजीराव पेशवा का भी उसी वर्ष देहान्त हो गया।

बालाजी बाजीराव के पीछे उसका पुत्र माधोराव गद्दी पर बैठा और उसका चचा रघुनाथराव पेशवा बनने का उद्योग करने लगा। वि० सं० १८२९ (ई० स० १७७२) में माधोराव भी काल-कवलित हो गया और पेशवा की गद्दी उसके छोटे भाई नारायणराव को मिली। एक वर्ष के भीतर ही वह रघुनाथराव (राघोबा) के यत्न से मारा गया और रघुनाथराव ने अपने को पेशवा मान लिया, परंतु नारायणराव की स्त्री के गर्भ था और पुत्र उत्पन्न होने पर

वही बालक माधोराव दूसरे के नाम से गद्दी पर बिठलाया गया। राज्य का कार्य्य सखाराम बापू और नाना फड़नवीस आदि करने लगे। उधर रघुनाथराव सरकार अंग्रेज़ी की सहायता से पेशवा बनने का उद्योग करने लगा, परन्तु उसमें उसको सफलता प्राप्त न हुई। रघुनाथराव के दो पुत्र बाजीराव और चिमनाजी थे।

माधोराव (दूसरे) को नाना फड़नवीस का दबाव दुःखदायक प्रतीत हुआ जिससे उसने हताश होकर वि० सं० १८५२ (ई० स० १७९५) में महल पर से गिरकर आत्मघात कर लिया। तब नाना ने रघुनाथराव के पुत्र बाजीराव को पेशवा बनाया।

रामराजा के दत्तक पुत्र शाहू ने स्वतंत्रता धारण कर सतारे पर अधिकार कर लिया था, परंतु अन्त में वह भी क़ैद हुआ। वि० सं० १८५९ (ई० स० १८०२) में बाजीराव, जसवन्तराव होल्कर से पराजित होकर, पूने से भाग आया। फिर उसी साल उसने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामा किया।

इधर होल्कर, सिंधिया और धार के परमार आदि सरदारों का बल बढ़ने लगा और पेशवा की सत्ता घटती ही गई। उधर अंग्रेज़ों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८७४ (ई० स० १८१७) में बाजीराव के साथ अंग्रेज़ों की लड़ाई हुई, जिसमें वह पराजित होकर भागा, पूने पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया और कोरेगांव के पास जनरल स्मिथ ने मरहटों की सेना को हराकर सतारे पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में पेशवा (बाजीराव दूसरा) सर जॉन माल्कम की शरण में चला गया और उसको सरकार ने ८००००० रुपये वार्षिक पेंशन पर बिठूर भेज दिया।

राजा शाहू की जगह उसके बेटे प्रतापसिंह को गद्दी पर बिठाकर राज-काज की देखरेख के लिये कप्तान ग्रैंट डफ नियत किया गया। सयाने होने पर प्रतापसिंह को राज्य के अधिकार दिये गये, परन्तु स्वतंत्र होने का प्रपंच करने पर अंग्रेज़ सरकार ने उसे गद्दी से उतारकर वि० सं० १८९६ (ई० स० १८३९) में उसको नज़रक़ैदी के तौर बनारस भेज दिया और उसके भाई शाहजी को सतारे का मालिक बनाया। वि० सं० १९०५ (ई० स० १८४८) में उसके निःसंतान मरने से उसके राज्य पर अंग्रेज़ों ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार शिवाजी के वंश और पेशवा के राज्य दोनों की समाप्ति हो गई और केवल कोल्हापुर का राज्य अब शिवाजी के वंश में अवशेष रह गया है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि मालवा मुसलमानों के अधिकार से निकलकर दूसरे पेशवा बाजीराव के अधिकार में आया। बाजीराव का प्रताप दिन दिन बढ़ा और उसने मालवे का मुल्क होल्कर, सिंधिया और परमार (पंवार) वंशों के अपने सैनिक अफसरों को बांट दिया। फिर होल्कर के वंश में इंदौर का, सिंधिया के वंश में ग्वालियर का और परमार के वंश में धार का राज्य स्थिर हुआ। इन तीनों में भी ग्वालियरवालों का प्रताप खूब बढ़ा। इन मरहटों ने मुग़ल बादशाहों की अवनति के समय राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने में कुछ भी कसर न रक्खी। मुग़लों के समय में तो राजपूत राज्यों की दशा खराब न हुई, परंतु मरहटों ने तो उनको जर्जरित कर दिया और सब-से अधिक हानि मेवाड़ (उदयपुर राज्य) को पहुंचाई। मरहटों के अत्याचारों तथा आक्रमणों का वर्णन आगे भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास में विस्तार से लिखा जायगा, यहां तो उनका नाममात्र को परिचय दिया जाता है।

सिंधिया (सिंदे) घेराने के मूल पुरुष कन्नेरखेड़ा (सतारे से १६ मील पूर्व) गांव के वंशपरंपरागत पटेल (मुखिया) थे। और इस घराने की एक कन्या का विवाह राजा शाहू (शंभा के पुत्र) के साथ भी हुआ था। राणोजी सिंधिया, जो ग्वालियर राज्य का संस्थापक हुआ, पेशवा बाजीराव की सेवा में रहता था। बाजीराव ने उसकी वीरता और सेवा से प्रसन्न होकर उसको उच्च पद पर नियत कर दिया। मालवे पर पेशवा का अधिकार होने पर उसने मल्हारराव होल्कर और पुंआर (परमार, धारवालों का पूर्वज) के साथ उसको मालवे में चौथ और सरदेशमुखी लेने का अधिकार दिया और उसी को अपना प्रतिनिधि बना-कर बादशाही दरबार में दिल्ली भेजा। उसी ने पेशवा की तरफ से अहदनामे पर दस्तख़त किये। राणोजी ने अपना निवासस्थान उज्जैन में रक्खा। वि० सं० १८०२ (ई० स० १७४५) में शुजालपुर में राणोजी का देहांत हुआ, तब से उस गांव का नाम राणूगंज पड़ा। अंत समय में ६५००००० रुपये वार्षिक आय का मुल्क राणोजी सिंधिया के अधिकार में था। उसके दो स्त्रियों से पांच पुत्र जयआपा, दत्ता, जट्टोबा (जोतिबा), तुका और माधोराव (महादजी) उत्पन्न हुए। जयआपा अपने पिता का उत्तराधिकारी बना, परंतु वह शीघ्र ही नागोर (मारवाड़ में) में महाराजा विजयसिंह के इशारे से दो राजपूतों के हाथ से छलपूर्वक मारा गया। दत्ता दिल्ली के पास की एक लड़ाई में काम आया और

अट्टोवा डीग के पास के युद्ध में मारा गया था। फिर जब आपा का पुत्र जनकूजी राज्य का स्वामी हुआ। पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में जनकूजी के खेत रहने पर राणोजी का सबसे छोटा पुत्र माधोराव सिंधिया उसका क्रमानुयायी हुआ। उसकी विभूति और सैन्यबल बहुत बढ़ गया और उसने फ्रेंच अफसरों को नौकर रखकर अपनी सेना की सजावट नये ढंग से की। मल्हारराव होल्कर के मरने पर माधोराव का प्रभाव बहुत बढ़ा और मालवा तथा राजपूताना आदि प्रदेश होल्कर व सिंधिया के अधिकार में समझे जाने लगे। वहां के कई राज्यों पर कर लगाकर माधोराव एक स्वतंत्र महाराज्य का स्वामी हो गया। केवल नाममात्र के वास्ते वह पेशवा का अधीनस्थ कहलाता और उसी के नाम से अपनी मुल्की व फौजी कार्रवाइयां करता था, परंतु वास्तव में उसे हिन्दुस्तान का शासक कहना चाहिये। उसने दिल्ली के बादशाह को अपनी रक्षा में लिया। जयआपा की मूंडकटी (मारने के एवज़) में जोधपुरवालों को अजमेर उसे देना पड़ा। फिर वह राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने लगा। मुग़लों की निर्बलता के कारण राजपूताने के राजा भी निरंकुश होकर परस्पर लड़ने लगे तथा कई राज्यों में उनके सामन्तों ने सिर उठाकर राज्य की भूमि दबाना और राजा की आज्ञा को टालना शुरू किया। इन लड़ाई-झगड़ों में उभय पक्षवाले अपना अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिये होल्कर, सिंधिया अथवा अन्य मरहटे सरदारों को सहायतार्थ बुलाने लगे। ये लोग राजाओं से ठहराया हुआ फौज-खर्च लेने के अतिरिक्त उनके देश को भी लूटते और धनाढ्य लोगों को क़ैद करके ले जाते तथा उनको मुक्त करने के बदले में बहुतसा धन लेते थे। सरकार अंग्रेज़ी का बढ़ता हुआ प्रताप देखकर वह उनसे द्वेषभाव रखता था। वि० सं० १८५१ (ई० स० १७६४) में उसका देहांत पूने में हो गया। उसके कोई पुत्र न होने से, उसके भाई तुकाजी के तीसरे पुत्र आनंदराव का बेटा दौलतराव दत्तक लिया जाकर उसका उत्तराधिकारी बनाया गया। सरकार अंग्रेज़ी के साथ उसने लड़ाइयां कीं, परन्तु अंत में हार खाकर अहदनामा कर लिया। फिर तो राजपूताने से सिंधिया का अधिकार उठ गया और अंग्रेज़ों का हो गया।

होल्कर—मरहटों के राज्य का दूसरा सुदृढ स्तंभ होल्कर का वंश था, जिसकी राजधानी मालवे में इन्दौर का नगर है। इस राज्य के स्थापनकर्ता मल्हारराव का पिता खंडोजी होल गांव (पूने से ४० मील) का रहनेवाला था। वि० सं०

१७५० (ई० स०१६९३) के लगभग मल्हारराव का जन्म हुआ। अपने पिता के मर जाने पर वह माता सहित अपने ननिहाल खानदेश में जा रहा। साहसी और वीर प्रकृति का पुरुष होने के कारण बाजीराव पेशवा ने उसे अपनी नौकरी में लिया और एक बड़ी सेना का नायक बना दिया। निज़ाम के साथ की, और कौंकण की लड़ाइयों में अच्छा काम कर दिखाने से वह पेशवा के बड़े सामंतों में गिना गया। उसकी मातहती में जो सेना थी उसके ख़र्च के लिये इन्दौर का बड़ा ज़िला उसको दिया गया, जो अब तक उसके खान्दान में चला आता है। उसने कई बार दिल्ली व आगरे तक पहुंचकर बादशाही मुल्क लूटा। पानीपत की प्रसिद्ध लड़ाई में घायल होकर भागने के बाद वह अपने राज्य का प्रबंध करने में लगा। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के पीछे उनके दूसरे पुत्र माधोसिंह को जयपुर का राज्य दिलाने के वास्ते उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) ने मल्हारराव की मदद ली। उस समय उसने मेवाड़ से बहुतसे रुपये फौज-खर्च के लेकर कुछ इलाक़ा भी दबा लिया। इस प्रकार राजपूताने के राज्यों पर दबाव डालता और अपना भंडार भरता हुआ मल्हारराव वि० सं० १८२५ (ई० स० १७६८) में परलोक को सिधारा। उसका पुत्र खंडेराव भरतपुर के जाटों के मुकाबले में पहले ही मारा गया था जिससे उसका बालक पुत्र मालेराव राजा बना और उसकी माता अहिल्याबाई राज्य का काम चलाती रही। अहिल्याबाई ने उत्तमता से राज्य का काम चलाया और अपनी धर्मनिष्ठा, बुद्धिमानी, दया, दान और परोपकार के कार्यों से वह भारतवर्ष में एक प्रसिद्ध महिला हो गई। अहिल्याबाई के मरने पर होल्कर के वंश के तुकाजीराव ने दो एक वर्ष तक राज्य किया। उसके पीछे उसका चौथा पुत्र जसवन्तराव अपने भाई मल्हारराव दूसरे को मारकर इन्दौर-राज्य का स्वामी हो गया। उसने अमीरख़ां पठान को अपनी सेवा में रखकर राजपूताने पर बहुत कुछ अत्याचार कराया और अंग्रेज़ों से भी कई लड़ाइयां लड़ीं। अन्त में उसके पागल होकर मर जाने पर उसकी स्त्री तुलसीबाई ने कुछ अर्से तक राज्य का काम चलाया, परंतु अंत में सैनिकों ने उपद्रव खड़ाकर उसे मार डाला और जसवंतराव के पुत्र मल्हारराव को गद्दी पर बिठाया। जसवंतराव के समय में होल्कर और सिंधिया के बीच भी कई लड़ाइयां हुई थीं। ये दोनों अपना अपना अवसर देखकर राजपूताने में आते और यहां के राज्यों में लूटमार कर चले जाते

थे। पिंडारियों के सरदार अमीरखां के साथी निर्दयी पठानों ने भी राजपूताने की प्रजा को सताने में कसर न रक्खी। अमीरखां ने अपना सैनिक बल बढ़ाकर मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर के राज्यों में अपनी धाक जमा ली थी। परस्पर की फूट और निर्बलता के कारण कोई भी राजा अकेला लुटेरे पठान और मरहटों का मुकाबला न कर सकता था और मिलकर शत्रु को मारने के बदले उलटे वे लोग अपने घरेलू झगड़ों में मरहटों को मदद के लिये बुलाते, जो बिल्ली बन्दर के जैसा न्याय कर उन राज्यों पर आपत्ति लाते और उनके इलाक़े भी छीन लेते थे। सिंधिया ने राजपूताने में अपने प्रतिनिधि अंबाजी इंगलिया को रक्खा और वह मानो राजपूत राज्यों के भाग्य का निर्णय करने में धाता विधाता सा बन गया। सिंधिया, होल्कर और धार आदि के राजाओं ने राजपूताने के राज्यों से ख़िराज ठहराये, फौज-खर्च में उनसे कई परगने ले लिये और जगह जगह अपने अधिकारी रखकर राजा व प्रजा दोनों को पीड़ा पहुंचाने में कमी न रक्खी। देश ऊजड़ होता गया, खेती-बाड़ी व व्यापार बंदसा हो गया और चारों ओर लुटेरों एवं डाकुओं के झुण्ड फिरते रहते थे। वे लोग जहां जहां पहुंचते वहां नगरों तथा गाँवों को लूटते और उनको जला देते थे। इसी से लोगों के धन और प्राण प्रतिक्षण संकट में रहने लगे। उनके अत्याचार से राजपूताने के राज्यों की नाक में दम गया और दीनता एवं दरिद्रता चारों ओर से मुंह फाड़े उनको भक्षण करने के निमित्त संमुख आकर उपस्थित हुई, जिससे लाचार अपने बचाव के लिये राजपूताने के राज्यों को सरकार अंग्रेज़ी की रक्षा में जाना पड़ा।

शिवाजी ने मुसलमानी राज्य को भारत में से ग़ारत कर देने के वास्ते हिन्दुओं में एकता का भाव उत्पन्न कर उनके जातीय संगठन द्वारा पीछा हिन्दू राज्य स्थापित कर देना ही अपना मुख्य अभिप्राय प्रकट किया और मरहटा जाति में एक प्रकार का जोश उत्पन्न कर दिया, परंतु शिवाजी ने जिस महाराज्य की नींव डाली थी वह राष्ट्रीय भावों की सुदृढ चट्टान पर नहीं, किंतु बालू की पोली भूमि में खड़ी की जाने से मरहटों के विराट् राज्यरूपी अंग प्रत्यंग में शीघ्र ही परस्पर की फूट और वैरभाव की बीमारी फैल गई। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखकर एक दूसरे को कुचल देने में प्रवृत्त हुआ। साम्राज्य स्थिर करने के उदार और उत्कृष्ट भावों से अनभिज्ञ होने के कारण मरहटा जाति ने लूट-खसोट, अन्याय और अनर्थ के द्वारा स्वार्थ सिद्ध करलेना

ही राज्य बढ़ाने का मूलमंत्र समझा, जिसका परिणाम यह हुआ कि समुद्र-पार से आई हुई तीसरी बुद्धिमान् और नीतिकुशल जाति ने उनके बल का विध्वंस कर भारत का राज्य उनसे छीन लिया।

अंग्रेज़ों का संबंध

प्राचीन काल में भारत के बने हुए छींट, मलमल इत्यादि वस्त्र तथा गरम मसाला आदि अनेक दूसरे पदार्थों का व्यापार यूरोपवालों के साथ मिसर और अरब के निवासियों द्वारा होता था जिससे हिन्दुस्तान के माल का मुनाफ़ा वे लोग उठाते थे। यूरोप के लोग चाहते थे कि भारत को जाने के लिये कोई जल-मार्ग मालूम हो जाय और वहां जाकर वहां की वस्तुएं स्वयं खरीद लावें तो विशेष लाभ हो, क्योंकि कई व्यापारियों के द्वारा माल के पहुंचने से क्रमशः उसका मूल्य बढ़ता जाता था और उसका लाभ बीचवाले लोग ही उठाते थे। इसी विचार से यूरोप के साहसिक पुरुष अपने अपने अनुमान के अनुसार हिन्दुस्तान का समुद्र-मार्ग ढूंढने लगे, परन्तु यहां का पूरा हाल मालूम न होने के कारण उस मार्ग से यहां पहुंचना भी कठिन कार्य्य था। सुप्रसिद्ध कोलंबस भारत की तलाश में रवाना हुआ, परंतु मार्ग से परिचित न होने के कारण अमेरिका में जा निकला। पुर्तगाल का बार्थो-लोमियो नामक नाविक हिन्दुस्तान को आफ्रिका के पूर्व में मानकर ई० स० १४८६ (वि० सं० १५४३) में लिस्बन नगर से निकला और आफ्रिका के दक्षिणी अंतरीप (Cape of Good Hope) तक पहुंच गया, परन्तु समुद्र में तूफान अधिक होने के कारण आगे न बढ़ सका। ई० स० १४६८ (वि० सं० १५५५) में उसी देश का एक दूसरा नाविक वास्कोडिगामा अपने बादशाह की आज्ञा से तीन जहाज़ों सहित पुर्तगाल से आफ्रिका की परिक्रमा करता हुआ मलबार के कालीकट नामक बंदरगाह में पहुंच गया, जहां के राजा ने सत्कार के साथ व्यापार करने की आज्ञा उसे दे दी, परन्तु मुसलमान व्यापारियों (अरबों) ने राजा को बहकाकर पुर्तगालवालों के साथ उसकी अनबन करा दी, जिससे वास्कोडिगामा अपने देश को लौट गया। इस पर पुर्तगाल के बादशाह ने पेड्रो केब्रल नामक सेनापति की अध्यक्षता में १२०० सैनिकों सहित तेरह जहाज़ कालीकट भेजे। केब्रल को व्यापार के लिये कोठी बनाने की आज्ञा राजा की तरफ से मिल गई, किन्तु मुसलमानों के साथ उस-का द्वेष यहां तक बढ़ा कि वह कोठी उड़ा दी गई और केब्रल ने मुसलमानों के

दस जहाज़ लूटकर उनको जला दिया। इससे पुर्तगालवालों को यह निश्चय हो गया कि हिन्दुस्तान में व्यापार की उन्नति सैनिक बल से ही हो सकती है। इस प्रकार हिन्दुस्तान का जल-मार्ग ज्ञात हो जाने से डच, फ्रेंच, अंग्रेज़ आदि व्यापारियों के लिये भारत के व्यापार का मार्ग खुल गया।

ई० स० १६०२ (वि० सं० १६५६) में हिन्दुस्तान के व्यापार के लिये 'डच ईस्ट इंडिया कंपनी' बनी और ५० वर्ष के भीतर ही इस कंपनी ने हिन्दुस्तान, सीलोन (लंका), सुमात्रा, ईरान की खाड़ी और लाल समुद्र आदि के कई स्थानों में अपनी कोठियां बना लीं और कुछ समय तक उनकी उन्नति होती रही।

फ्रेंच लोगों ने भी हिन्दुस्तान में व्यापार करने के लिये कंपनी स्थापित की। फिर चार कंपनियां और बनीं तथा अन्त में वे पांचों मिलकर एक कंपनी हो गई। फ्रेंचों को कुछ समय बाद कलकत्ते के पास चंद्रनगर मिल गया और दक्षिण में इनका ज़ोर बढ़ता गया जिससे वे अपने पीछे आनेवाले अंग्रेज़ों के प्रतिद्वंद्वी बन गये।

ई० स० १६०० (वि० सं० १६५७) में इंगलिस्तान में भी 'ईस्ट इंडिया कंपनी' बनी जिसने वहां की महाराणी एलिज़ाबेथ से इस आशय की सनद प्राप्त की कि इस कंपनी की आज्ञा के बिना इंगलिस्तान का कोई भी पुरुष पूर्वी देशों में न करे। ई० स० १६०६ (वि० सं० १६६६) में सर हेनरी मिडल्टन तीन जहाज़ लेकर सूरत में आया, परन्तु वहां के हाकिम से अनबन हो जाने के कारण उसको वहां कोठी खोलने की आज्ञा न मिली। तब कप्तान हॉकिन्स इंग्लैंड के बादशाह जेम्स (प्रथम) और ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ़ से वकील के तौर पर दिल्ली के बादशाह जहांगीर के पास पहुंचा। ई० स० १६१३ (वि० सं० १६७०) में हेनरी मिडल्टन को सूरत, घोघा, खंभात और अहमदाबाद में व्यापार करने की आज्ञा मिली। सूरत की कोठी के निरीक्षण में अजमेर में भी अंग्रेज़ों की कोठी खुली। ई० स० १६१५ (वि० सं० १६७२) में इंगलिस्तान के बादशाह की तरफ़ से सर टॉमस रो जहांगीर के दरबार में वकील बनकर आया और उसके द्वारा बादशाही मुल्क में व्यापार करने का मार्ग किसी प्रकार खुल गया। फिर मछलीपट्टन, आरगांव (कोरोमंडल के किनारे) आदि स्थानों में भी कोठियां खुलीं और ई० स० १६३६ (वि० सं० १६९६) में अंग्रेज़ों ने चंद्रगिरि के राजा से भूमि मोल लेकर मद्रास बसाया और पास ही सेंट जॉर्ज नामक क़िला

बनाया। ई० स० १६३३ (वि० सं १६६०) में राल्फ़ कार्टराइट ने बंगाल में सर्वप्रथम हरिहरपुर और बालासोर आदि स्थानों में कोठियां स्थापित कीं और डाक्टर गेब्रियल बॉग्टन् के प्रयत्न से ई० स० १६५१ (वि० सं० १७०८) में अंग्रेज़ ने हुगली में, जो व्यापार के लिये उपयुक्त स्थान था, जम गये । ई० स० १६६८ (वि० सं० १७२५) में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स (दूसरे) ने बंबई का टापू, जो उसको पुर्तगालवालों से दहेज में मिला था, १०० रुपये वार्षिक पर कंपनी को दे दिया। कंपनी ने इस टापू को पश्चिमी हिन्दुस्तान में अपने व्यापार का मुख्य स्थान बनाया। इसके बाद कलकत्ते को विशेष रूप से आबाद कर अंग्रेज़ों ने वहां फ़ोर्ट विलियम् नामक क़िला बनाया। ई० स० १७१५ (वि० सं० १७७२) में कलकत्ते के प्रेसिडेण्ट ने दो अंग्रेज़ वकीलों को दिल्ली के बादशाह फर्रुख़सियर के पास भेजा । उस समय बादशाह बीमार था, जिसको उन वकीलों के साथ के डाक्टर ने आराम किया। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने डाक्टर से कहा कि जो तुम्हारी इच्छा हो वह मांगो। इसपर उस देशभक्त डाक्टर ने अपने लिये कुछ न मांगा और कंपनी का लाभ विचार कर दो बातों की याचना की, अर्थात् एक तो कंपनी को बंगाल में ३८ गांव खरीदने की आज्ञा मिले और दूसरी यह कि जो माल कलकत्ते के प्रेसिडेण्ट के हस्ताक्षर होकर रवाना हो उसका महसूल न लिया जाय। बादशाह ने ये दोनों बातें स्वीकार कर लीं, परन्तु बंगाल के सूबेदार ने ज़मींदारों को रोक दिया जिससे ज़मींदारी तो हाथ न लगी किन्तु महसूल माफ हो गया।

बादशाह औरंगज़ेब के देहान्त होने पर दक्षिण के प्रदेश स्वतंत्र हो गये, निज़ामुल्मुल्क हैदराबाद का स्वामी बना और कर्नाटक का नव्वाब हैदराबाद की अधीनता में राज्य करने लगा। ई० स० १६७४ (वि० सं० १७३१) से पांडिचरी पर फ्रेंचों का अधिकार चला आता था; जब यूरोप में अंग्रेज़ और फ्रेंचों के बीच लड़ाई छिड़ी तो ईसवी सन् १७४६ (वि० सं० १८०३) में फ्रेंच लोगों ने पांडिचरी से फौज लेजाकर मद्रास को जा घेरा तथा उस नगर को अंग्रेज़ों से खाली करवा लिया, जिससे क्लाइव आदि अंग्रेज़ वहां से निकलकर फ़ोर्ट सेंट डेविड में जा ठहरे। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच ई० स० १७४८ (वि० सं० १८०५) में संधि होने पर मद्रास पीछा अंग्रेज़ों को मिल गया। भारत के फ्रेंच स्थानों का गवर्नर डुपले फ्रेंच-राज्य की जड़ दक्षिण भारत में जमाकर अंग्रेज़ों को वहां से

निकालना चाहता था। उधर तंजोर के बालक राजा प्रतापसिंह को उसका भाई शाहूजी वहां से अलग करना चाहता था। उसने इसके लिये देवीकोटे का इलाक़ा देना स्वीकार कर अंग्रेज़ों से मदद चाही तो क्लाइव ने सहायता देकर शाहूजी को तंजोर का स्वामी बना दिया। इस प्रकार देवीकोटे का इलाक़ा अंग्रेज़ों के हाथ आया। जब दक्षिण के सूबेदार आसिफ़जाह की मृत्यु हुई उस समय उसके बेटे-पोते राज्य के लिये लड़ने लगे तो डुपले ने उसके पोते मुज़फ्फरजंग को गद्दी पर बिठाकर कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक का देश उससे ले लिया। इसी तरह जब आरकट की गद्दी के लिये झगड़ा होने लगा तो डुपले ने चंदा साहब को वहां की गद्दी पर बिठला दिया, परन्तु अंग्रेज़ों ने चंदा साहब के विरोधी मुहम्मदअली (वालाजाह) की सहायता कर आरकट ले लिया और कुछ समय तक लड़ाई रहने के बाद उसको आरकट का नव्वाब बना दिया। इस प्रकार दक्षिण भारत में अंग्रेज़ और फ्रेंच देशी राजाओं की सहायता कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। फ्रेंचों ने 'उत्तरी सरकार' पर अपना अधिकार जमाया, परन्तु फ्रांसवालों ने डुपले को पीछा बुला लिया जिससे अंग्रेज़ों के लिये सुबीता हो गया। ई० स० १७६० (वि० सं० १८१७) में कर्नल (सर आयर) कूट ने वांडीवाश की लड़ाई में फ्रेंच जनरल लाली को परास्त कर जिंजी का क़िला ले लिया।

ई० स० १७५६ (वि० सं० १८१३) में बंगाल के नव्वाब अलीवर्दीख़ां के मरने पर उसके भतीजे का पुत्र सिराजुद्दौला बंगाल, बिहार और उड़ीसे का स्वामी बना। उसने अंग्रेज़ों से अप्रसन्न होकर कासिम बाज़ार की कोठी उनसे छीन ली और कलकत्ते के क़िले को जा घेरा। बहुत से अंग्रेज़ किश्तियों में बैठकर निकल भागे और शेष को उसने क़ैद कर लिया। इसकी सूचना मद्रास पहुंचने पर ९०० अंग्रेज़ और १५०० सिपाही लेकर क्लाइव कलकत्ते पहुंचा। सिराजुद्दौला बड़ी सेना सहित कलकत्ते पर चढ़ा और अन्त में सुलह हो गई, परन्तु सिराजुद्दौला फ्रेंचों को नौकर रखने लगा। इसपर अंग्रेज़ों ने अप्रसन्न होकर अलीवर्दीख़ां के बहनोई मीरजाफ़र को सिराजुद्दौला की गद्दी पर बिठलाना चाहा। उसके साथ एक गुप्त अहदनामा हुआ जिसमें एक शर्त यह भी थी कि फ्रेंच लोग बंगाल से निकाल दिये जावें। फिर क्लाइव बड़ी सेना के साथ कलकत्ते से चला; उधर सिराजुद्दौला भी लड़ने को आया और पलासी के मैदान में

ई० स० १७५७ (वि० सं० १८१४) में घोर युद्ध हुआ, जिसमें सिराजुद्दौला हारकर भागा। मीर जाफ़र उसके राज्य का स्वामी बनाया गया, और क्लाइव कलकत्ते का गवर्नर नियत हुआ। इसी लड़ाई के समय से भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के राज्य का प्रारंभ समझना चाहिये।

फिर मीर जाफ़र के दामाद मीर क़ासिम ने बर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के ज़िले तथा कई लाख रुपये देना स्वीकार कर यह चाहा कि मीर जाफ़र के स्थान पर वह बंगाल का नव्वाब बनाया जाय, जिसपर अंग्रेज़ों ने वैसा ही किया। फिर महसूल के मामले में अंग्रेज़ों से अनबन होने पर मीर क़ासिम मुंगेर में जा रहा। मिस्टर एलिस ने नव्वाब की कार्रवाई का घोर विरोध किया जिससे उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पटने में २०० अंग्रेज़ों को क़त्ल करवा दिया। तदनंतर कुछ लड़ाइयों में परास्त होकर मीर क़ासिम ने अवध में शरण ली और उसके स्थान पर वृद्ध मीर जाफ़र पीछा नव्वाब बनाया गया। ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२१) में मीर जाफ़र का देहान्त होने पर उसका पुत्र नजमुद्दौला नाममात्र के लिये बंगाल का नव्वाब हुआ।

ई० स० १७६४ (वि० सं० १८२१) में बक्सर में मीर क़ासिम से अंग्रेज़ों का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें अवध का नव्वाब-वज़ीर शुजाउद्दौला उसका सहायक हुआ था। इस युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय हुई और पलासी के युद्ध के बाद इतिहास में यही एक घटना ऐसी हुई जिससे अंग्रेज़ों के राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के चिह्न भारत के अन्य राजाओं को स्पष्ट दीखने लगे। इस युद्ध के बाद ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२२) में इलाहाबाद में संधि हुई जिससे बादशाह शाहआलम को अवध के इलाहाबाद और कोड़ा ज़िले मिले और उसको २६००००० रुपये वार्षिक देना नियत हुआ, जिसके बदले में कंपनी को शाहआलम से समस्त बंगाल, बिहार एवं उड़ीसे की दीवानी मिली अर्थात् एक तरह से इन प्रदेशों पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। इसी समय से शाहआलम इलाहाबाद में रहने लगा, परन्तु ई० स० १७७१ (वि० सं० १८२८) में सिंधिया के बुलाने पर उसने दिल्ली जाकर उसकी अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया।

इस समय मरहटों का ज़ोर बहुत बढ़ रहा था और दिल्ली पर भी उनका प्रभाव पड़ा जिससे शाहआलम नाममात्र का बादशाह रह गया। ई० स० १७७१ (वि० सं० १८२८) में वॉरन हेस्टिंग्ज़ हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी इलाक़े का

गवर्नर होकर आया और दो वर्ष बाद वह गवर्नर-जनरल बना दिया गया। बादशाह के दिल्ली चले जाने के कारण वॉरन हेस्टिंग्ज़ ने इलाहाबाद और कोड़ा के इलाके अवध के नव्वाब शुजाउद्दौला को बेच दिये।

दक्षिण भारत में इस समय हैदरअली का बल बढ़ता जा रहा था। अंग्रेज़ों ने हैदरअली तथा उसके पुत्र टीपू सुलतान की ताक़त तोड़ने के लिये मरहटों और निज़ाम से मैत्री जोड़ी। हैदरअली और टीपू के साथ अंग्रेज़ों की अलग अलग समय में चार लड़ाइयां हुईं जिन में भी इनको कुछ न कुछ भूमि मिलती ही गई। ई० स० १७९९ (वि० सं० १८५५) में चौथी लड़ाई में टीपू लड़ता हुआ मारा गया और माइसोर का राज्य वहां के पुराने हिन्दू राजवंशियों को दे दिया गया।

जब लॉर्ड वेलेज़ली ई० स० १७९८ (वि० सं० १८५५) में ब्रिटिश भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया तो उसने यह देखा कि उसके पूर्व के गवर्नर-जनरल सर जॉन शोर ने देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की जिस नीति का अवलंबन किया था उससे अंग्रेज़ों के राज्य को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुंचेगी, क्योंकि इस समय तक अंग्रेज़ों ने भारत की इतनी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था कि अब उनके लिये चुपचाप बैठे रहना सर्वथा असंभवसा था। इस गवर्नर-जनरल ने भारत के देशी राजाओं से संबंध जोड़ने के लिये एक नई नीति का प्रारंभ किया। उसके अनुसार राजाओं को कंपनी से अहदनामे करने पड़ते और अपने अपने देश से फ्रेंच लोगों को निकालकर अंग्रेज़ी सेना रखनी पड़ती, जिसका ख़र्च भी उन राजाओं को उठाना होता था और यदि वे सेना के ख़र्च के रुपये न दे सकें तो उनको उसके बदले उतनी ही आय का कोई ज़िला कंपनी को देना पड़ता था। लॉर्ड वेलेज़ली ने देशी राजाओं से मैत्री करने की इस नीति का प्रयोग सर्वप्रथम ई० स० १७९८ में हैदराबाद के निज़ाम पर किया। ई० स० १७९५ (वि० सं० १८५२) में निज़ाम ने मरहटों के संयुक्त बल का सामना कुर्दला में किया, जिससे उसकी सेना का सर्वनाश होने के साथ ही उसका बल भी बिल्कुल टूट गया। ऐसी कमज़ोर हालत होने से निज़ाम ने ई० स० १७९८ (वि० सं० १८५५) में गवर्नर-जनरल की सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और सेना के ख़र्च के बदले में अंग्रेज़ों को बिलारी और कुडप्पा के ज़िले दिये। उसी समय से आज तक निज़ाम सदैव

अंग्रेज़ सरकार का मित्र बना हुआ है। इस प्रकार निज़ाम को अंग्रेज़ों ने अपने अधीन किया।

पेशवा बाजीराव ने लॉर्ड वेलेज़ली की सब शर्तों को ई० स० १८०२ (वि० सं० १८५६) में बसीन की संधि से स्वीकार कर लीं और पेशवा का राज्य किस प्रकार अंग्रेज़ों के हस्तगत हुआ, यह ऊपर (पृ० २८८ में) बतलाया जा चुका है। जब पेशवा बाजीराव ने अंग्रेज़ों से बसीन की संधि कर ली उस समय दौलतराव सिंधिया और राघोजी भोंसला (नागपुर का) अंग्रेज़ों से यह कहते हुए कि तुमने हमारे सिर से पगड़ी उतार ली है, बहुत क्रुद्ध हुए और लॉर्ड वेलेज़ली की शर्तों को अस्वीकार कर उन्होंने युद्ध का निश्चय कर लिया। अंग्रेज़ों की सेनाएं दो तरफ से भेजी गई थीं—एक दक्षिण की तरफ से जिसका सेनापति आर्थर वेलेज़ली था और दूसरी जनरल लेक की अध्यक्षता में उत्तर से भेजी गई थी। दक्षिण में आर्थर वेलेज़ली ने असई और अरगांव आदि स्थानों में विजय प्राप्त की और उत्तर भारत में जनरल लेक ने सिंधिया की फ्रेंच सेनापतियों द्वारा तैयार की हुई सेना को तितर-बितर कर दिया; अलीगढ़ और अलवर राज्य के लसवारी गांव में सिंधिया की सेना से जमकर लड़ाइयां लड़ीं तथा दिल्ली और आगरे को ले लिया (ई० स० १८०३)। दिल्ली लेने पर बूढ़े शाह-आलम ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली और ई० स० १८०३ (वि० सं० १८६०) में सिंधिया और भोंसला ने भी क्रमशः सुरजी अर्जुनगांव तथा देवगांव में अंग्रेज़ों से संधियां कर लीं। सिंधिया ने जमना नदी से उत्तर का अपना समस्त राज्य, ग्वालियर का गढ़ तथा गोहद का इलाका अंग्रेज़ों को दिया। देवगांव की संधि से अंग्रेज़ सरकार को कटक का प्रदेश मिला। इस प्रकार सिंधिया और भोंसला ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर उनसे मैत्री जोड़ ली।

अब मरहटों में एक होल्कर (जसवंतराव) ही ऐसा रहा जो पूर्ण स्वतंत्रता धारण किये हुए अंग्रेज़ों की अधीनता से बाहर था। इस समय होल्कर का ज़ोर राजपूताना आदि प्रदेशों पर बढ़ रहा था और मरहटों में सबसे बलवान राजा भी वही रह गया था। होल्कर ने, जो इस समय तक मरहटों की लड़ाइयों से अलग ही रहा था, अंग्रेज़ों से युद्ध करने का विचार किया और इधर लॉर्ड वेलेज़ली ने भी उसके साथ लड़ाई छेड़ दी। गवर्नर-जनरल ने चाहा था कि होल्कर की सेना चारों ओर से घिर जाय, इसलिये जनरल लेक तो उत्तर में [illegible]

गया, आर्थर वेलेज़ली को दक्षिण से बढ़ने की आज्ञा दी गई और कर्नल मरे गुजरात से होल्कर की सेना पर हमला करने को मुक़र्रर हुआ। लेक ने कर्नल मॉन्सन को कई सवारों सहित होल्कर की सेना को रोकने के लिये भेजा। मॉन्सन और मरे, इन दोनों सेनापतियों ने आज्ञा का यथेष्टरूप से पालन न कर लड़ाई के कार्य्य में उलटी गड़बड़ी मचा दी। राजपूताने में कोटे से तीन मील दक्षिण मुकुंद्रा की घाटी में कर्नल मॉन्सन की सेना ने बुरी तरह शिकस्त खाई और बची हुई सेना तितर-बितर होकर किसी प्रकार आगरे पहुंची। मॉन्सन की सेना को इस तरह पराजित हुई देखकर कंपनी के शत्रुवर्ग में हिम्मत बढ़ी और भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह ने अंग्रेज़ों से मैत्री तोड़कर होल्कर को दिल्ली पर हमला करने में सहायता दी, परन्तु ऑक्टरलोनी और बर्न नामक दो अंग्रेज़ सेनापतियों ने नौ दिन तक वहां के क़िले की रक्षा की और आक्रमणकारियों को पीछा लौटना पड़ा। १३ नवंबर सन् १८०४ को डीग के युद्ध में होल्कर की पराजय हुई और दूसरे महीने में १०० तोपों सहित डीग का दुर्ग अंग्रेज़ों के हस्तगत हुआ। इसके बाद ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) के प्रारंभ में जनरल लेक ने भरतपुर के दुर्ग का घेरा डाला। सुयोग्य सेना से भली भांति रक्षित होने के कारण जनरल लेक के चार बार आक्रमण करने पर भी यह क़िला न लिया जा सका और अंग्रेज़ों की तरफ़ ३००० से अधिक मनुष्यों की हानि हुई। अन्त में भरतपुर का राजा भी थक गया था इसलिये उसने बीस लाख रुपये हरजाने के देकर अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली।

इतने ही में लॉर्ड वेलेज़ली इंग्लैंड चला गया और नये गवर्नर-जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस का भारत में आने के कुछ ही महीने बाद देहान्त हो जाने पर सर जॉर्ज बार्लो गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। इस समय जनरल लेक ने होल्कर का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पीछा करते हुए उसको व्यास नदी के तट पर भगा दिया और दिसंबर सन् १८०५ (वि० सं० १८६२) में इसी नदी पर के राजपुरघाट नामक स्थान में अंग्रेज़ों से उसकी संधि हुई, जो अंग्रेज़ सरकार का होल्कर के साथ प्रथम ही संबंध जोड़ना बतलाती है। इस संधि के अनुसार होल्कर को राजपूताने के कुछ इलाके छोड़ने पड़े। इधर सर जॉर्ज बार्लो ने इस बात पर ज़ोर दिया कि होल्कर का बल किसी प्रकार न तोड़ा

जाय और उसको इस बात का यक़ीन दिलाया कि वह अपनी इच्छानुसार राजपूत रियासतों में लूटमार कर उनसे कर आदि ले सके। इस प्रकार यहां तो होल्कर को अधीन करने का कार्य्य अपूर्ण ही रहा। फिर ई० स० १८११ (वि० सं० १८६८) में जसवन्तराव होल्कर का देहान्त हुआ और उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य की दशा बिगड़ने लगी, राज्यसत्ता लूटमार करनेवाले लोगों के हाथ में चली गई तथा उन सब पर एक स्त्री (तुलसीबाई) का शासन हुआ। ई० स० १८१७ (वि० सं० १८७४) में पेशवा से अंग्रेज़ों का युद्ध छिड़ जाने पर इन्दौर दरबार ने भी अपना रुख बदला। सर थॉमस हिस्लोप ने महीदपुर में इंदौर की सेना को हराया और होल्कर ने विवश ६ जनवरी १८१८ को मंदसोर में अंग्रेज़ों से संधि कर ली, जिसके अनुसार आज तक अंग्रेज़ सरकार और इन्दौर के बीच संबंध जारी रहा है।

ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) में लॉर्ड कॉर्नवालिस की नीति के अनुसार गोहद और ग्वालियर सिंधिया को पीछे दे दिये गये और चंबल नदी उसके राज्य की उत्तरी सीमा मानी गई। राजपूताने के राज्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप न करने का भी सरकार अंग्रेज़ी ने इक़रार किया, इसलिये अंग्रेज़ सरकार से इन राज्यों की संधि होने तक यह देश मरहटों के अन्याय और अत्याचार का घर बना रहा। जब मरहटों को उत्तर, दक्षिण और दूसरी दिशाओं में भी कहीं अंग्रेज़ी फौज ने दम न लेने दिया तब उन्होंने राजपूताने में अपना पड़ाव डाला और यहीं रहकर इस देश को लूटने तथा दूसरे देशों में भी छापे मारने लगे। पिंडारियों के सरदार अमीरखां पठान ने भी, जिसको जसवंतराव होल्कर ने अपनी सेवा में रखकर उसके द्वारा लूटमार का बाज़ार गरम करवाया था, मारवाड़ के राज्य में अपनी छावनी डाल दी। इसी प्रकार सिंधिया के नायब अंबाजी इंगलिया ने मेवाड़ में अपना सदर मुक़ाम स्थापित किया और पिंडारियों के दल चारों ओर लूटमार करते हुए फिरने लगे। ई० स० १८१६ (वि० सं० १८७३) में अंग्रेज़ों ने पिंडारियों का उपद्रव शान्त करने के लिये सिंधिया से मदद चाही और उसने ई० स० १८१७ में एक नया अहदनामा कर अजमेर का इलाक़ा अंग्रेज़ सरकार के सुपुर्द कर दिया। उस समय राजपूताने की दशा बहुत ही बिगड़ी हुई थी जिससे यहां के रईसों ने देखा कि अब सरकार अंग्रेज़ी की शरण लिये बिना इन लुटेरों से पिंड छुड़ाना दुस्तर

है और साथ ही अंग्रेज़ों ने भी जान लिया कि देश से इन डाकूदलों का उपद्रव मिटा देने के लिये देशी राज्यों की सहायता करना आवश्यक है और उनसे संधि किये विना सुख-शांति स्थापित नहीं हो सकती, अतएव ई० स० १८११ में दिल्ली के रेज़िडेंट सर चार्ल्स मेटकाफ ने अपनी सरकार से इस विषय में मंजूरी लेकर अंग्रेज़ी फौज राजपूताने में भेजने का निश्चय कर लिया। ई० स० १८१७ व १८१८ में कई राज्यों के साथ अहदनामे होकर वे अंग्रेज़ों की रक्षा में आ गये। मरहटों ने राजपूताने के राजाओं से जो इलाके ज़बर्दस्ती छीन लिये थे उनमें से बहुतसे पीछे दिलवाये गये। राजाओं तथा सामन्तों के पारस्परिक झगड़े भी मिटा दिये गये और देश में शांति स्थापित हो जाने से राजपूताने के उजड़े हुए घर पीछे बसे[1]। खेती-वाड़ी तथा व्यापार की प्रतिदिन उन्नति होने से राज्यों की वार्षिक आय बढ़ने लगी और प्रजा की आर्थिक दशा भी सुधरने लगी। राजपूताने में पिछले सैंकड़ों वर्षों से शिक्षा का प्रायः अभावसा हो गया था और देश में से कला-कौशल भी जाते रहे थे, परन्तु अब सैंकड़ों स्कूल और कितने एक कॉलेज बन जाने से सहस्रों छात्र वहां विद्याध्ययन करते हैं। धन एवं प्राणों की रक्षा के भी सारे साधन उपस्थित हैं; मार्ग में ठग, चोर और डाकुओं का भय भी जाता रहा, रेल भी कोसों तक फैल गई है और शिक्षा के प्रभाव से लोगों के हृदय में अपनी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा सुधारने के उन्नत भाव भी जागृत होते जाते हैं।

(१) जोधपुर के रेज़िडेंट कर्नल पाउलैट साहब बड़े लोकप्रिय और मिलनसार सज्जन थे। एक बार दौरा करते हुए वे एक किसान के खेत पर पहुंचे और उसकी खटिया पर बैठकर बड़ी प्रीति से उससे पूछने लगे कि कहो भाई, तुम लोग मरहटों के राज्य में सुखी थे या अब अंग्रेज़ सरकार के राज्य में सुखी हो। किसान ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि हज़ूर, और सब तरह से तो अब सुख है, परन्तु मरहटों के समय में एक बात में हम बहुत सुखी थे। चकित होकर उक्त साहब ने पूछा कि पटेल, वह कौनसी बात है। उसने उत्तर में कहा कि मरहटों के समय उनके दल ५–७ वर्षों में एक बार लूटमार के लिये आ जाया करते थे और धन के लोभ से गांवों में महाजनों के घर लूटने के उपरान्त वे उनमें आग भी लगा देते थे, जिससे उनके बहीखाते आदि जलकर नष्ट हो जाते और उस समय तक के उनके ऋण से हम लोग सहज ही मुक्त हो जाते थे, परन्तु अब तो वे महाजन पुश्तों तक हमारा पीछा नहीं छोड़ते हैं। जोधपुर के महामहोपाध्याय कविराजा मुरारीदानजी (स्वर्गवासी) ने, जो पाउलैट साहब के मित्रवर्ग में से थे, यह बात मुझे कही थी।

इस इतिहास के पहले चार अध्याय सारे राजपूताने से संबंध रखते हैं। उनमें राजपूताने का भूगोलसंबंधी वृत्तान्त संक्षिप्त रूप में लिखने के उपरान्त राजपूत जाति को क्षत्रिय न माननेवाले विद्वानों की तद्विषयक दलीलों की जांच कर सप्रमाण यह बतलाया है कि जो आर्य क्षत्रिय लोग हज़ारों वर्ष पूर्व भारतभूमि पर शासन करते थे उन्हीं के वंशधर आजकल के राजपूत हैं। आर्य क्षत्रिय जाति के राज्य भारत में ही नहीं, किंतु सारे मध्य और पश्चिमी एशिया में तथा उससे परे, एवं पूर्व में भी स्थापित हुए थे और वहां भी आर्य सभ्यता का प्रचार था। वही आर्य क्षत्रिय जाति महाभारत से पूर्व तथा उसके पीछे आज तक राजपूताने पर शासन करती रही है। समय के परिवर्तन और देशकालानुसार राजपूतों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों में कुछ अंतर पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक बात है, तो भी उनमें आर्यों के बहुत से प्राचीन रीतिरिवाज अब तक पाये जाते हैं। उनकी प्राचीन शासनपद्धति, युद्ध-प्रणाली, स्वामिभक्ति एवं वीरता के परिचय के साथ ही यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि राजपूत जाति में स्त्रियों का कितना आदर होता था और वे वीरपत्नी तथा वीरमाता कहलाने में ही अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं के पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस आदि का भी कुछ उल्लेख कर राजपूत जाति के अधःपतन के मुख्य मुख्य कारण बतलाये गये हैं।

तदुपरान्त वर्तमान समय में राजपूताने पर राज्य करनेवाले क्षत्रिय राजवंशों के अतिरिक्त पहले जिन जिन राजवंशों का संबंध इस देश के साथ रहा उनका बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे पाठकों को विदित हो जाय कि सिकंदर तथा उसके यूनानी साथी भारत में आये और मौर्यवंशी महाराज चंद्रगुप्त ने उनको यहां से कैसे निकाला; शक, कुशन और हूण नामक मध्य एशिया की आर्य जातियों का आगमन यहां कैसे हुआ और उनके साथ यहां के क्षत्रिय राजवंशियों का बर्ताव किस ढंग का रहा; गुप्तवंशियों का प्रताप किस प्रकार बढ़ा; श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने अपना साम्राज्य कैसे स्थापित किया; राजपूताने के भीनमाल नगर के प्रतिहार राजपूतों ने कन्नौज का साम्राज्य विजय कर भारत के दूरवर्ती प्रदेशों में कहां तक अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया और राजपूताने से ही जाकर आबू के परमारों ने मालवे में अपना साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया, इत्यादि। उन राजवंशों का

चय देते हुए यह भी दिखलाया गया है कि राजपूत जाति अपना प्राचीन इतिहास यहां तक भूल गई कि भाटों ने अपनी पुस्तकों में यहां के राजाओं के मनमाने कृत्रिम नाम और झूठे संवत् भी धर दिये। जहां तक हो सका उन राजवंशों की वंशावलियां शुद्ध कर कितने ही राजाओं के निश्चित संवत् भी, जो प्राचीन शोध से ज्ञात हुए, दिये गये हैं।

तदनन्तर अनेक देवी-देवताओं को माननेवाली अरब की विभिन्न जातियों में एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म की उत्पत्ति और प्रचार होकर एक ही धर्म एवं जातीयता के सूत्र में बंधी हुई मुसलमान जाति ने-क्रमशः अपना बल बढ़ाकर बड़े बड़े प्राचीन राज्यों तथा वहां की सभ्यता को नष्ट करते और उन देशों में बलात् अपना धर्म फैलाते हुए-कितने थोड़े समय में भारत पर आक्रमण किया; फिर यहां के राजाओं को, जिनमें परस्पर की फूट और ईर्ष्या ने घर कर रक्खा था, परास्त कर राजपूताने में मुसलमानों ने किस तरह अपना आधिपत्य जमाया, इसका बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त दिया गया है। मुसलमानों के अधःपतन के पीछे मरहटों के उदय और राजपूताने में उनका प्रवेश होने पर यहां किये जानेवाले उनके अत्याचारों का दिग्दर्शनमात्र कराकर, इंग्लैंड जैसे सुदूर देश से भारत में व्यापार के निमित्त आई हुई बुद्धिमान् और नीतिनिपुण अंग्रेज़ जाति ने यहां के हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं में घर की फूट और राज्य का लोभ देखकर उनके झगड़ों में कभी एक, और कभी दूसरे पक्ष की सहायता करने के बदले में धीरे धीरे उनसे इलाके लेकर किस प्रकार अपने राज्य की नींव इस देश में डाली उसका थोड़ासा परिचय दिया गया है। कई लड़ाइयां लड़ने के पश्चात् अंग्रेज़ों ने दिल्ली के राज्य को अपने हस्तगत किया और,मरहटों के अत्याचारों से बहुत ही तंग आकर राजपूताने के समस्त राज्यों ने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामे कर उसकी शरण ली, जिससे राजपूताने में शान्ति की स्थापना हुई।

अब आगे क्रमशः प्रत्येक राज्य का इतिहास लिखा जाता है।

उदयपुर राज्य का इतिहास

पहला अध्याय

भूगोलसंबंधी वर्णन

संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में उदयपुर राज्य का नाम 'मेदपाट'[1] मिलता है और भाषा में उसको 'मेवाड़' कहते हैं। जब से राजधानी उदयपुर नगर में हुई तब से मेवाड़ के स्थान में 'उदयपुर राज्य' का भी प्रयोग होने लगा है।

---

(१) इस देश पर पहले मेद अर्थात् मेव या मेर जाति का अधिकार रहने से इसका नाम मेदपाट (मेवाड़) पड़ा। मेवाड़ का एक हिस्सा अब तक मेवल कहलाता है, जो मेवों के राज्य का स्मरण दिलाता है। मेवाड़ के देवगढ़ की तरफ के इलाक़े में और अजमेर-मेरवाड़े के मेरवाड़ा प्रदेश में, जिसका अधिकतर अंश मेवाड़ से ही लिया गया है, अब तक मेरों की आबादी अधिक है। कितने एक विद्वान् मेर (मेव, मेद) लोगों की गणना हूणों में करते हैं, परंतु मेर लोग शाकद्वीपी ब्राह्मणों की नाईं अपना निकास ईरान की तरफ के शाकद्वीप (शकस्तान) से बतलाते हैं और मेर (मिहिर) नाम भी यही सूचित करता है, अतएव संभव है कि वे लोग पश्चिमी क्षत्रपों के अनुयायी या वंशज हों (ना. प्र. प.; भाग २, पृ० ३३९)।

चित्तोड़ के क़िले से ७ मील उत्तर में मध्यमिका नाम की प्राचीन नगरी के खंडहर हैं और उसको इस समय 'नगरी' कहते हैं। वहां से मिलनेवाले कई तांबे के सिक्कों पर वि० सं० के पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास की ब्राह्मी लिपि में 'मझिमिकाय शिबिजनपदस' (शिबिदेश की मध्यमिका का—सिक्का) लेख है। इससे अनुमान होता है कि उस समय मेवाड़ (या उसका चित्तोड़ के आसपास का अंश) शिबि नाम से प्रसिद्ध था। पीछे से वही देश मेदपाट या मेवाड़ कहलाया और उसका प्राचीन नाम (शिबि) लोग भूल गये (ना. प्र, प.; भाग २, पृ० ३३४–३९)।

करनबेल (जबलपुर के निकट) के एक शिलालेख में प्रसंगवशात् मेवाड़ के गुहिल-वंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंह का वर्णन आया है जिसमें उनको 'प्राग्वाट' के राजा कहे हैं। अतएव प्राग्वाट मेवाड़ का ही दूसरा नाम होना चाहिये। संस्कृत शिला

उदयपुर राज्य राजपूताने के दक्षिणी विभाग में २३° ४९′ से २५° २८′ उत्तर अक्षांश और ७३° १′ से ७५° ४९′ पूर्व देशांतर के बीच फैला हुआ है। उसका क्षेत्रफल १२६९१ वर्ग मील है।

स्थान और क्षेत्रफल

उदयपुर राज्य के उत्तर में अजमेर-मेरवाड़ा और शाहपुरे (फूलिये) का इलाक़ा; पश्चिम में जोधपुर और सिरोही राज्य; नैर्ऋत्य कोण में ईडर; दक्षिण में डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य; पूर्व में सिंधिया का परगना नीमच, टोंक का परगना, नींबाहेड़ा और बूंदी तथा कोटा राज्य हैं; और ईशान कोण में देवली के निकट जयपुर का इलाक़ा आ गया है। इस राज्य के भीतर ग्वालियर का परगना गंगापुर, जिसमें १० गांव हैं, और आगे पूर्व में इंदौर का परगना नंदवास (नंदवाय) आ गया है[1] जिसमें २९ गांव हैं।

सीमा

अर्वली (आड़ावळा) पहाड़ की श्रेणियां अजमेर और मेरवाड़े में होती हुई दीवेर के निकट मेवाड़ में प्रवेश करती हैं। वहां इनकी ऊंचाई और चौड़ाई कम है, परंतु नैर्ऋत्य कोण में मारवाड़ के किनारे किनारे बढ़ती गई हैं। कुंभलगढ़ पर इनकी ऊंचाई ३५६८ फुट तक पहुंच गई है और जर्गा की पहाड़ी पर, जो गोगूंदा से १५ मील उत्तर में है, ऊंचाई ४३१५ फुट हो गई है। ये पर्वत-श्रेणियां राज्य के वायव्य कोण से लगाकर सारे पश्चिमी तथा [illegible] हिस्से में फैल गई हैं। उत्तर में खारी नदी से लगाकर चित्तोड़ से कुछ दक्षिण तक और चित्तोड़ से देवारी तक समान भूमि है। दूसरी पर्वत-श्रेणी राज्य के ईशान कोण में देवली के पास से शुरू होकर भीलवाड़े तक चली गई है। तीसरी श्रेणी देवली के पास से निकलकर राज्य के पूर्वी हिस्से में जहाज़पुर[2],

पर्वत-श्रेणियां

तथा पुस्तकों में 'पोरवाड़' महाजनों के लिये 'प्राग्वाट' नाम का प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निकास मेवाड़ के 'पुर' क़स्बे से बतलाते हैं, जिससे संभव है कि प्राग्वाट देश के नाम पर से वे अपने को प्राग्वाटवंशी कहते रहे हों (ना. प्र. प.; भाग २, पृ० ३३६)।

(१) टोंक का परगना नींबाहेड़ा तीन तरफ़ मेवाड़ से और एक तरफ़ ग्वालियर राज्य से मिला हुआ है। सिंधिया का भीचोर का परगना चारों ओर मेवाड़ से घिरा हुआ है; ऐसे ही सिंधिया के जाठ, सिंगोली और खेड़ी के इलाक़े अधिकतर मेवाड़ के भीतर आ गये हैं। ये सब इलाक़े पहले मेवाड़ के ही थे, परंतु पीछे से समय के हेर-फेर में मेवाड़ से छूट गये।

(२) जहाज़पुर से ही यह पहाड़ियों की श्रेणी विस्तृत और ऊंची होती चली गई है और मांडलगढ़ से आगे जाकर उसके ऊपर समान भूमि आ गई है जिससे इसको 'ऊपरमाळ' कहते हैं। यह श्रेणी पूर्व में कोटे से आगे चली गई है और यह 'पथार' भी कहलाती है। ऊपरमाळ की भूमि उपजाऊ है और जल भी वहां बहुतायत से है।

मांडलगढ़, वीजोल्यां, भैंसरोड़गढ़ और मैनाल होती हुई चित्तोड़ से दक्षिण तक जा पहुंची है। इस श्रेणी की ऊंचाई २००० फुट से अधिक नहीं है। देवारी से लगाकर राज्य का सारा पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सा पहाड़ियों से भरा हुआ है। मेवाड़ की पहाड़ियां बहुधा घने जंगलों से भरी हुई हैं और वहां जल की भी बहुतायत है।

इस राज्य के पूर्वी विभाग में उपजाऊ समतल प्रदेश हैं, परंतु दक्षिणी और पश्चिमी विभाग में घने जंगलों से भरी हुई पहाड़ियां आ गई हैं, जिनके बीच में जगह जगह खेती के योग्य भूमि हैं। दक्षिण में डूंगरपुर की सीमा से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक सारा प्रदेश पहाड़ी होने से 'मगरा' कहलाता है जहां बहुधा भीलों आदि जंगली लोगों की वस्ती है।

नालें

पर्वत-श्रेणी में होकर निकलनेवाले तंग रास्तों को यहां नाल कहते हैं; ऐसी नालें इस राज्य में बहुत हैं जिनमें मुख्य नीचे लिखी हुई हैं—

जीलवाड़ा की नाल—इसको लोग पगल्या नाल भी कहते हैं। यह अनुमान ४ मील लम्बी तथा बहुत सँकड़ी है और मारवाड़ से मेवाड़ में आने का रास्ता है।

सोमेश्वर की नाल—यह नाल देसूरी (मारवाड़ में) से कुछ मील उत्तर की ओर है। यह बहुत लंबी और विकट है इसलिये जीलवाड़े की नाल के खुल जाने पर लोगों ने इससे बहुधा आना-जाना बंद कर दिया है।

हाथीगुड़ा की नाल—देसूरी से दक्षिण में ५ मील की दूरी पर यह नाल है। इसके मुंह पर एक मोरचेबन्द फाटक है और मेवाड़ के सिपाहियों का वहां पहरा रहता है। कुंभलगढ़ का पहाड़ी क़िला इस नाल के ठीक ऊपर है और केलवाड़े का क़स्बा उसके निकट ही है। इस नाल में लड़ाई में मारे जानेवाले वीर पुरुषों के स्मारकरूप चबूतरे भी बने हुए हैं।

नदियां

सालभर बहनेवाली मेवाड़ में एक भी नदी नहीं है। चंवल भी वास्तव में मेवाड़ की नदी नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका बहाव इस राज्य में केवल भैंसरोड़गढ़[1] के निकट अनुमान ६ मील है।

बनास—यह नदी कुंभलगढ़ के निकट से निकलकर नाथद्वार के पास

(१) उदयपुर राज्य में भैंसरोड़गढ़ से तीन मील पर 'चूलियां' नामी स्थान पर चंबल ६० फुट की ऊंचाई से गिरती है, जिससे वहां बड़े बड़े भंवर पड़ते हैं। वहां का दृश्य बड़ा ही मनोहर है।

बहती हुई मांडलगढ़ के समीप पहुंचती है। वहां पर दाहिनी ओर से आकर बेड़च इसमें मिलती है। उसी स्थान पर मैनाली नदी भी इसमें मिल गई है, जिससे वह स्थान त्रिवेणी तीर्थ कहलाता है। वहां से उत्तर की तरफ आगे बहने पर कोटेसरी (कोठारी) भी इसमें जा मिली है। फिर जहाज़पुर की पहाड़ियों में होती हुई देवली के निकट इस राज्य में १८० मील बहने के बाद अजमेर और जयपुर की सीमा में बहती हुई यह रामेश्वर तीर्थ (ग्वालियर राज्य में) में चंबल में मिल जाती है।

बेड़च—यह नदी उदयपुर के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती हुई आहाड़ के पास बहती है, जिससे वहां इसको 'आहाड़ की नदी' कहते हैं। वहां से आगे बढ़कर उदयसागर तालाब में गिरकर उसे भरती है। वहां से निकलने पर यह उदयसागर का नाला कहलाती है; फिर आगे जाने पर बेड़च नाम धारण कर चित्तोड़ के पास बहती हुई मांडलगढ़ के निकट बनास से जा मिलती है। इसका बहाव १२० मील है।

कोटेसरी—इसको कोठारी भी कहते हैं। यह अर्बली की पर्वतश्रेणी से निकलकर दीवेर से दक्षिण में ६० मील बहने के पश्चात् नंदराय से दो मील की दूरी पर बनास से जा मिलती है।

खारी—यह मेवाड़ की नदियों में सबसे उत्तर में है। दीवेर की पहाड़ियों से यह निकलती है और देवगढ़ के निकट बहती हुई अजमेर की सीमा पर देवली से थोड़ी दूर पर बनास में मिलती है।

जाकुम—यह नदी छोटी सादड़ी के निकट राज्य के नैर्ऋत्य कोण की पहाड़ियों से निकलती है और प्रतापगढ़ राज्य के नैर्ऋत्य कोण में बहती हुई मेवाड़ में धरियावद के पास होकर सोम में जा मिलती है।

वाकल—यह गोगूंदा के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती है और अनुमान ५० मील दक्षिण में ओगणा और मानपुर के पास बहती हुई उत्तर-पश्चिम में मुड़कर कोटड़े की छावनी के पास पहुंचती है। वहां से ५ मील तक पश्चिमवाहिनी होकर आगे ईडर राज्य में साबरमती में मिल जाती है।

सोम—यह बीचावेरा के समीप राज्य के नैर्ऋत्य कोण की पहाड़ियों से निकलकर डूंगरपुर राज्य की सीमा के पास बहती हुई उक्त राज्य में मही में जा मिलती है।

मेवाड़ में छोटी बड़ी झीलें बहुत हैं जिनमें मुख्य नीचे लिखी हुई हैं—

जयसमुद्र—इसको ढेवर भी कहते हैं। यह झील राजधानी उदयपुर से ३२ मील दक्षिण-पूर्व में है और वहां तक पक्की सड़क बनी हुई है। वि० सं० १७४४ और १७४८ (ई० स० १६८७ और १६९१) के बीच चार वर्षों में महाराणा जयसिंह ने लाखों रुपये खर्च कर यह झील बनवाई थी। इसके भर जाने पर इसकी अधिक से अधिक लंबाई ९ मील से कुछ ऊपर और चौड़ाई ६ मील से कुछ अधिक हो जाती है। इसके भीतर कुछ वर्ग मील विस्तार के तीन टापू हैं जिनपर मीणे (मीने), साधु आदि लोग बसते हैं। इनमें से दो टापुओं को 'बाबा के मगरे' और तीसरे को 'पाइरी' कहते हैं। इनपर रहनेवाले लोग लकड़ी के बने हुए भेलों (तमेड़ों) पर झील से बाहर आते हैं और उन्हीं भेलों पर अपने पशुओं को बाहर ले जाते और लाते हैं। इसका बांध दो पहाड़ों के बीच संगमरमर का बना है, जो १००० फुट लंबा और ९५ फुट ऊंचा है। उसकी नीचे की चौड़ाई ५० फुट और ऊपर की, सीढ़ियां छूटने के कारण, १५ फुट रह गई है। उसके पीछे एक दूसरा बांध भी उतना ही ऊंचा बांधा गया था जो १३०० फुट लंबा है। इन दोनों बांधों के बीच का हिस्सा १८४ वर्ष तक बिना भरे ही पड़ा रहा, परंतु जल की तरफ का बांध इतना सुदृढ था कि वह कभी नहीं टूटा। वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) की अतिवृष्टि को देखकर महाराणा सज्जनसिंह ने दोनों बांधों के बीच के विस्तृत खड्डे का ⅔ हिस्सा दो लाख रुपये व्यय कर बड़े बड़े पत्थर, मिट्टी और चूने से भरवा दिया। बाकी का काम वर्तमान महाराणा साहब ने पूरा करवाया। अब दोनों बांधों के बीच विस्तृत समभूमि बन गई है जहां वृक्ष लगाये गये हैं। जल की तरफ के बांध पर ६ सुंदर छत्रियां बनी हैं और प्रत्येक छत्री के सामने नीचे की ओर वेदियों पर मध्यम क़द के एक एक पत्थर के बने हुए ६ हाथी खड़े हैं। बांध के उत्तरी छोर पर वर्तमान महाराणा साहब ने महल बनवाये हैं और दक्षिणी छोर पर के महल 'महाराजकुमार के महल' कहलाते हैं। दक्षिणी छोर की पहाड़ी पर महाराणा जयसिंह के बनवाये हुए महल हैं, जिनका जीर्णोद्धार महाराणा सज्जनसिंह ने करवाया था। उक्त बांध पर महाराणा जयसिंह का बनवाया हुआ संगमरमर का नर्मदेश्वर नामक शिवालय भी है। बांध से थोड़े ही अंतर पर एक पहाड़ी की आड़ आ जाने के

कारण बांध पर से झील का अधिक विस्तार दृष्टिगोचर नहीं होता, परंतु किश्ती में या भेले पर बैठकर आगे जाने से दर्शक को उसका विस्तार और महत्त्व मालूम होता है। इस झील के आसपास का पहाड़ी प्रदेश सघन वृक्षों और घने जंगलों से आच्छादित है, जहां नाहर, चीते, तेंदुए, सूअर, रींछ, सांभर, चीतल, रोझ (नीलगाय), हिरण आदि जंगली जानवर बहुतायत से पाये जाते हैं। वर्तमान महाराणा साहब बहुधा शीतकाल में शिकार के लिये यहां निवास करते हैं।

यह प्रदेश दर्शकों को बड़ा ही रमणीय प्रतीत होता है। मनुष्य की बनाई हुई संसार भर की झीलों में यह सबसे बड़ी[1] मानी जाती है, परंतु मालवे के परमार राजा भोज की बनाई हुई भोजपुर (भोपाल) की झील अवश्य इससे बहुत बड़ी थी, परंतु अब वह नहीं रही, क्योंकि मालवे के सुलतान होशंगशाह ने उसे तुड़वा दिया था, जिससे उसके स्थान में कितने ही गांव आबाद हो गये हैं[2]।

राजसमुद्र—यह झील उदयपुर नगर से ४० मील उत्तर में है। इसकी लंबाई ४ मील, चौड़ाई १$\frac{3}{4}$ मील और १९५ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। गोमती नाम की नदी इसमें गिरती है और जल के निकास के लिये तीन स्थान रक्खे गये हैं। इसका प्रारंभ महाराणा राजसिंह ने वि० सं० १७१८ (ई० स० १६६२) माघ वदि ७ को किया; वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७६) माघ सुदि १५ को प्रतिष्ठा हुई और वि० सं० १७३५ (ई० स० १६७८) के आषाढ़ तक इसका काम चलता रहा। इस झील की बनवाई, प्रतिष्ठा, उत्सव तथा इनाम इकराम आदि में १०५०७५८४ रुपये खर्च हुए थे। इसका बांध धनुषाकृति में तीन मील लंबा है और उसका राजनगर की तरफ का छोर, जो दो पहाड़ियों के बीच में है, २०० गज़ लंबा और ७० गज़ चौड़ा तथा सुंदर सीढ़ियों सहित सारा राजनगर की खान के संगमरमर का बना हुआ है। बांध के इस हिस्से पर संगमरमर के तीन सुन्दर मंडप बने हुए हैं, जिनके स्तंभों एवं छत में कहीं सूर्य का रथ, कहीं ब्रह्मादि देवता, कहीं अप्सराओं का नृत्य, कहीं कबूतरों की लड़ाई आदि दृश्य उत्तम कारीगरी के साथ अंकित किये गये हैं।

(१) इं. ऐं; जि० १, पृ० ६५–६६।
(२) वही; जि० १७, पृ० ३४८ के पास का नक़्शा।

वहीं तुलादान के पांच तोरण भी बने हुए हैं, जिनमें से तीन अच्छी स्थिति में और दो टूटे पड़े हैं। बांध के इस सुन्दर हिस्से को 'नौचौकी' कहते हैं और इस झील की प्रतिष्ठा का उत्सव भी यहीं हुआ था। यहीं पर खड़ा रहकर देखनेवाला व्यक्ति इस झील की सुन्दरता और भव्यता का अच्छी तरह अनुमान कर सकता है। नौचौकी के राजनगर की तरफ के किनारेवाली पहाड़ी पर महाराणा राजसिंह के बनवाये हुए महल हैं जो इस समय टूटी फूटी दशा में हैं। बांध के उपर महाराणा सज्जनसिंह का बनाया हुआ महल भी है।

महाराणा राजसिंह ने इस झील के लिये मेवाड़ का इतिहास भी संग्रह करवाया और तैलंग भट्ट मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ भट्ट ने उसके आधार पर 'राजप्रशस्ति' नाम का महाकाव्य लिखा, जो पाषाण की बड़ी बड़ी २५ शिलाओं पर खुदवाया जाकर नौचौकी के बांध पर अलग अलग ताकों मे लगाया गया है। पहली शिला पर देवताओं की स्तुति और बाकी की २४ शिलाओं पर उक्त काव्य के २४ सर्ग खुदे हैं, जिनमें इस झील के संबंध का विस्तृत वर्णन भी है। शिलाओं पर खुदी हुई अब तक कई पुस्तकें मिली हैं, परंतु इतनी बड़ी और कोई नहीं है।

उदयसागर—यह झील उदयपुर से ६ मील पूर्व में है। इसकी लंबाई २½ मील, चौड़ाई २ मील और १८५ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। आहाड़ की नदी भी इसी में गिरती है। इसका बांध, जो एक पहाड़ी की नाल के एक किनारे से दूसरे तक बनाया गया है, बहुत ऊंचा और १८० फुट चौड़ा है। इस झील को महाराणा उदयसिंह ने वि० सं० १६१६ से १६२१ (ई० स० १५५९ से १५६४) तक, ५ वर्षों में बनवाया था। इसकी शोभा बड़ी रमणीय होने से वर्तमान महाराणा साहब ने बांध के सामने के तट पर मेड़ी मगरी नाम के स्थान में महल बनवाये हैं। इस झील के आसपास की पहाड़ियां घने जंगल से ढकी हुई होने के कारण उनपर शिकार के लिये ओदियां (मूल) बनी हुई हैं।

पीछोला—यह झील वि० सं० की १५वीं शताब्दी में महाराणा लाखा (लक्षसिंह) के समय एक बनजारे ने बनवाई थी, ऐसी प्रसिद्धि है। इसके निकट पीछोली गांव होने के कारण इसका नाम 'पीछोला' पड़ा है। इसकी लंबाई २½ मील, चौड़ाई १½ और ५६ वर्ग मील भूमि का जल इसमें आता है। इसके पूर्वी किनारे की पहाड़ी पर उदयपुर शहर का अधिकांश और राजम [illegible] हैं।

किनारे किनारे बड़ी दूर तक कहीं एक ओर तथा कहीं दोनों ओर सुन्दर घाट, मंदिर और हवेलियां बनी हैं। इसका बांध ३३४ गज़ लम्बा है जिसके ऊपर के भाग की चौड़ाई ११० गज़ और नीचे उससे भी अधिक है। चातुर्मास में जब पहाड़ियां हरी हो जाती हैं तब यहां की शोभा कश्मीर की सी दीख पड़ती है। इस झील का यह बांध वि० सं० १८५२ (ई० स० १७९५) में टूट गया जिससे शहर का कितना एक हिस्सा बह गया, इसलिये महाराणा भीमसिंह ने नया बांध ऐसा सुदृढ बनवाया कि वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) की अतिवृष्टि में उसकी कुछ भी हानि न हुई। इस झील के अंदर के टापुओं पर जगमंदिर, जगनिवास आदि महल बड़े ही रम्य बने हुए हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इन जलमहलों को देखने के लिये अनेक देशी और विदेशी लोग किश्तियों में बैठकर बड़ी चाह से जाते हैं और उनके लिये नावघाट पर राज्य की तरफ से किश्तियां हर वक्त तैयार रहती हैं।

फतहसागर—उदयपुर से उत्तर के देवाली गांव के पास पहले एक छोटासा तालाब बना हुआ था जिसको देवाली का तालाब कहते थे। बांध ऊंचा न होने के कारण उसका जल दक्षिण में बहुत दूर तक नहीं फैल सकता था, इसलिये वर्तमान महाराणा साहब ने उसका सुदृढ और ऊंचा बांध नये सिरे से बंधवाया, जिससे अब उसका जल दक्षिण में दूर दूर तक फैलता हुआ पीछोले के उत्तरी अंत से भी आगे तक पहुंच गया है। अब इस झील को महाराणा साहब के नाम पर फतहसागर कहते हैं। इन झीलों के बीच का अंतर बहुत ही थोड़ा रह जाने के कारण एक नहर काटकर दोनों जोड़ दी गई हैं। उस नहर के अंत पर फतहसागर के किनारे एक मज़बूत लकड़ी का द्वार बना हुआ है। जब ये दोनों सरोवर भरे हुए होते हैं तब यह द्वार खोल देने से नाव और जल सुगमतापूर्वक पीछोले से फतहसागर में जा सकते हैं। यह झील डेढ़ मील लंबी है और इसकी सबसे अधिक चौड़ाई एक मील है। फतहसागर को भरने के लिये देवाली ग्राम से लगभग चार मील दूर की एक नदी में बांध बांधकर नहर द्वारा उसका जल लाया गया है। फतहसागर का बांध २८०० फुट लंबा है। श्रीमान् ड्यूक ऑफ़ कॉनाट (Duke of Connaught) के हाथ से इसकी नींव रक्खी जाने के कारण इसका नाम 'कॉनाट बांध' है। इस झील के किनारे किनारे पहाड़ियों

को काटकर पाषाण के सुंदर कटहरेवाली एक सड़क बनाई गई है, जो अनुमान एक मील लंबी होगी। बांध के ऊपर छत्रियां बनी हुई हैं और ठीक मध्य-भाग में संगमरमर का एक छोटासा महल है, जो पहले शिवनिवास महल के द्वार के समीप बना हुआ था और जिसको वहां से हटाकर यहां स्थापित कर दिया है।

बांध पर आनेवाली घुमावदार सड़क की एक तरफ सघन वृक्षों से आच्छादित पहाड़ियां, दूसरी ओर बहुत दूर तक सरोवर का जल और संध्या समय अस्तंगम सूर्य की रक्त किरणों का जल में प्रतिबिम्ब आदि दृश्य दर्शक के चित्त में आनंद की लहर उत्पन्न करते हैं। बांध के पास जल की गहराई ५० फुट से भी अधिक है।

जलवायु

मेवाड़ का जलवायु सामान्य रीति से आरोग्यप्रद समझा जाता है, परंतु पहाड़ी विभाग के जल में खनिज पदार्थ और वनस्पति का अंश मिला हुआ होने से वह भारी होता है और वहां के रहनेवाले प्रायः वारिश के अंत में मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहते हैं तथा तिल्ली की भी शिकायत उनमें अधिक रहती है। भूमि की ऊंचाई के कारण यहां सर्दी के दिनों में न तो अधिक सर्दी और उष्णकाल में न अधिक गर्मी होती है।

वर्षा

उदयपुर में वर्षा की औसत २४ इंच और पहाड़ी विभाग में २६ से ३० इंच तक है। वि० सं० १९३२ (ई० स० १८७५) में वर्षा इतनी अधिक हुई कि कई नदियों के पुल टूट गये और राजधानी में तथा दूसरी जगह भी सैकड़ों मकान गिरने से कितने ही मनुष्य दबकर मरे; इसी प्रकार नदियों की बाढ़ से पशुओं की भी बहुत हानि हुई।

ज़मीन और पैदावारी

यहां की समतल भूमि पैदावारी के लिये बहुत अच्छी है। उसमें खरीफ (सियालू) और रबी (उनालू) दोनों फसलें होती हैं। रबी की फसल विशेषकर कुओं से और थोड़ी तालावों से होती है। माळ की ज़मीन इस राज्य में बहुत थोड़ी है। पहाड़ी प्रदेश में मक्की अधिकता से होती है और पहाड़ों के ढालों में, जहां हल नहीं चल सकते, ज़मीन को खोदकर खेती की जाती है, जिसको यहां 'वालरा' (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। पहाड़ियों के बीच के हिस्सों में, जहां पानी भरा रहता है, चावल भी पैदा होते हैं। ज़मीन की पैदावारी में मुख्य गेहूं, मक्की, जवार, मूंग, उड़द, चना, चावल, तिल, सरसों, जीरा, धनिया, रुई, तंबाकू, ईख और अफीम हैं,

जिनमें से अफ़ीम और रुई विशेषकर बाहर जाती थी, परंतु अब तो अफ़ीम की खेती नाममात्र की रह गई है।

मेवाड़ का बहुतसा हिस्सा पहाड़ी प्रदेश होने से यहां जंगल विशेष हैं, जिनमें आम, इमली, महुआ, सागवान, धामण (फालसा), टींबरू (आबनूस), बड़, पीपल, चंदन, नीम, सीसम, खैर, गूलर, जामुन, खिजूर, खेजड़ा, बंबूल, रूंजड़ा, आंवला, बेहड़ा, धौ, हलदू, हिंगोटा, कचनार, कालियासिरस (शिरीष), सालर, मोखा, सेमल, गूगल, कड़ाया आदि पेड़ बहुतायत से पाये जाते और कहीं कहीं बांस भी बहुत होते हैं। बानसी और धरियावद के जंगलों में इमारती काम की कीमती लकड़ी विशेष रूप से होती है। जंगल की पैदाइश में सागवान आदि इमारती लकड़ी, गूंद, बेहड़ा, लाख, महुआ आदि हैं। मेवाड़ में आम बहुतायत से होते और अच्छे भी होते हैं।

जंगल

हिंसक जानवरों में नाहर (सुनहरी), बघेरा (जिसको यहां अधबेसरा भी कहते हैं और टीमर्या, चौफूल्या आदि जिसके और भी भेद प्रसिद्ध हैं), चीता और भेड़िया (जिसको यहां बरगड़ा और ल्याळी भी कहते हैं) कितने एक पहाड़ी हिस्सों में मिल आते हैं। नाहर (सुनहरी) अब कम मिलते हैं, क्योंकि वर्तमान [महा]राणा साहब ने सैकड़ों को मार डाला और बचे हुओं को वे मारते ही जाते [हैं]। अन्य जानवर बंदर, रीछ, सूअर, सांभर, रोझ (नीलगाय), चीतल (जो [सां]भर की किस्म का सींगदार पशु है और जिसके बदन के भूरे रंग में सफेद धब्बे होते हैं), हिरण (जिसकी कई किस्में हैं काला, चीखला और चौसींगा अर्थात् भेड़ला आदि), कुत्ते (जंगली कुत्ते), वनबिलाव, लोमड़ी, गीदड़ (सियार), जरख (लकड़बग्घा), खरगोश, सियागोश आदि हैं।

जंगली जानवर, पक्षी और जलजन्तु

जंगली पक्षियों में गिद्ध (गृध्र), चील, शिकरा, बाज, मोर, तोता, कोयल, कौआ, जंगली मुर्ग़, तीतर, कबूतर, बटेर, हरियल आदि अनेक हैं। जल के निकट रहनेवाले पक्षियों में ढींच, सारस, बगुला, हंजा, घरट, टिटहरी, बतक, जलमुर्ग़ आदि। जलजन्तुओं में मगर, कछुए, अनेक प्रकार की मछलियां, केंकड़े, जलमानस आदि झीलों और नदियों में पाये जाते हैं।

इस राज्य में पहले लोहा बहुत निकलता था। बीगोद, गुंहली (मांडलगढ़ ज़िले में), मनोहरपुर (जहाज़पुर ज़िले में), पारसोला (बड़ी सादड़ी से कुछ

खानें

मील दूर) में अब भी थोड़ा बहुत लोहा मिलता है, परंतु विदेशी लोहा सस्ता मिलने के कारण उसका निकलना कम पड़ गया है, तो भी बीगोद की खानों से लोहा कुछ अधिक निकाला जाता है, क्योंकि वहां का लोहा अच्छा समझा जाता है और उसके बर्तन महंगे मिलने पर भी लोग उन्हें खरीदते हैं। चांदी और सीसे की खान जावर (मगरा ज़िले में) में है, जहां से पहले ३००००० रुपये सालाना की चांदी निकलती थी, परंतु अब वह बंद है। जावर में मूसों के टुकड़ों के बड़े बड़े ढेर पड़े हुए हैं इतना ही नहीं, किंतु कितने एक पुराने मकानों की दीवारें भी मूसों की बनी हुई दीख पड़ती हैं। इसी खान के सबब से पहले यह एक नगरसा था, परंतु अब बहुधा वहां भीलों ही की बस्ती है। दरीबे में भी सीसे की खान थी, परंतु अब वह भी बंद है। तामड़े (रक्तमणि), भोडल तथा स्फटिक की खानें भी इस राज्य में हैं, परंतु इस समय वे बंदसी हैं। राजनगर में संगमरमर की खानें हैं, जिनका पत्थर मकराणे से कुछ हलका है। चित्तोड़ के निकट मादलदा, सैंती आदि में काला पत्थर मिलता है। चित्तोड़ के स्टेशन से इस पत्थर के चौके फ़र्श की जड़ाई के लिये रेल द्वारा बाहर जाते हैं। ढींकली के पास चक्की बनाने का पत्थर निकलता है और पत्थर की बड़ी बड़ी पट्टियां उदयपुर के निकट तथा कई अन्य स्थानों में भी पाई जाती हैं।

क़िले

मेवाड़ में प्रसिद्ध क़िले (गढ़) चित्तोड़गढ़, कुंभलगढ़ और मांडलगढ़ हैं, जिनका वर्णन इसी प्रकरण में आगे प्रसिद्ध और प्राचीन स्थानों के साथ किया जायगा। इनके सिवा छोटे-बड़े गढ़ और गढ़ियां भी अनेक हैं।

रेल्वे

बॉम्बे बड़ौदा एण्ड सेंट्रल इंडिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली छोटे नापवाली रेल की सड़क मेवाड़ में होकर निकली है और उसके रूपाहेली से लगाकर शंभुपुरा तक के स्टेशन इस राज्य में हैं। चित्तोड़गढ़ जंक्शन से उदयपुर तक ६९ मील रेल की सड़क उदयपुर राज्य की तरफ से बनाई गई है, जो 'उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे' कहलाती है।

सड़कें

नसीराबाद से नीमच को जानेवाली सरकारी सड़क इस राज्य में होकर निकली है। राज्य की तरफ से बनी हुई पक्की सड़कें उदयपुर से खैरवाड़े तक, उदयपुर से नाथद्वारे तक, और उदयपुर से जयसमुद्र तक हैं।

चित्तोड़गढ़ रेल्वे के बनने के पहले उदयपुर से चित्तोड़गढ़

पक्की सड़क बनी हुई थी, परंतु रेल खुल जाने के बाद उसपर लोगों का आना-जाना बहुत कम हो गया है। इनके अतिरिक्त 'नाथद्वारा रोड' से नाथद्वारे तक भी पक्की सड़क बन गई है और नाथद्वारे से कांकड़ोली तक बन रही है।

जनसंख्या

इस राज्य में अब तक मनुष्यगणना पांच बार हुई है। यहां की जनसंख्या ई० स० १८८१ (वि० सं० १९३७) में १४९४२२०, ई० स० १८९१ (वि० सं० १९४७) में १८४५००८, ई० स० १९०१ (वि० सं० १९५७) में[1] १०१८८०५, ई० स० १९११ (वि० सं० १९६७) में १२९३७७६ और ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) में १३८००६३ थी, जिसमें ७१२१०० मर्द और ६६७९६३ औरतें थीं। इस हिसाब से प्रत्येक वर्ग मील भूमि पर १०८·७४ मनुष्यों की आबादी की औसत आती है।

धर्म

यहां के लोगों में मुख्य धर्म वैदिक (ब्राह्मण), जैन और इसलाम हैं। वैदिक धर्म के माननेवालों में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक भेद हैं। जैन धर्म में श्वेतांबर, दिगंबर और थानकवासी (ढूंढिये) आदि भेद हैं। मुसलमानों में सुन्नी और शिया नाम के दो भेद हैं, जिनमें सुन्नियों की संख्या अधिक है और शिया मत के माननेवालों में दाऊदी बोहरे मुख्य हैं।

ई० स० १९२१ (वि० सं० १९७७) की मनुष्यगणना के अनुसार भिन्न भिन्न धर्मावलंबियों की संख्या नीचे दी जाती है—

हिन्दू १२२१५९३, इनमें ब्राह्मण धर्म को माननेवाले १०६९०५६, आर्य (आर्य-समाजी) १७१, ब्राह्मो १, सिक्ख ९, जैन ६३१३२ और भैरव आदि देवताओं को माननेवाले भील, मीणे आदि लोग १९९२०४ हैं। मुसलमान ४८२९५, ईसाई १७९ और पारसी १६ हैं[2]।

हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, कायस्थ, चारण, भाट, सुनार, दरोगा, दर्जी, लुहार, सुथार (बढ़ई), कुम्हार, माली, नाई, धोबी, जाट, गूजर,

---

(१) ई० स० १९०१ की मनुष्य-गणना में जनसंख्या की बड़ी कमी होने के मुख्य कारण वि० सं० १९५६ (ई० स० १८९९–१९००) का भयंकर दुष्काल और महामारी (हैज़ा) तथा वि० सं० १९५७ का भीषण ज्वर था, जिन्होंने लाखों मनुष्यों का संहार कर दिया।

(२) ई० स० १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में आर्य, सिक्ख, जैन, ब्राह्मो, भील, मीणे आदि को हिन्दुओं से भिन्न बतलाया है, परंतु वास्तव में इन सब का समावेश हिंदुओं में ही होता है, इनमें केवल मत-भेद है।

जातियां अहीर, मेर, कोली, घांची, कुनबी, मोची, बलाई, रेगर, भांबी, गाड़री, धाकड़, ढोली, बोला, महतर, आदि अनेक हैं। ब्राह्मण, महाजन आदि कई एक जातियों की अनेक उपजातियां भी बन गई हैं तथा उनमें परस्पर विवाह-संबंध आदि नहीं होता और ब्राह्मणों की उपजातियों में तो बहुधा परस्पर भोजन-व्यवहार भी नहीं है। जंगली जातियों में भील, मीणे, गिरासिये, मोगिये, बावरी, सांसी आदि हैं। भील, मीणे पहले चोरी-धाड़े अधिक किया करते थे, परंतु अब वे खेती और मज़दूरी करने लग गये हैं, तो भी दुष्काल वगैरा में वे अपना पुराना पेशा करना नहीं छोड़ते। मुसलमानों में शेख़, सैयद, मुग़ल, पठान आदि कई हैं।

यहां के लोगों में से अधिकतर खेती करते हैं, कितने ही पशुपालन पर अपना निर्वाह चलाते हैं और कोई व्यापार, नौकरी, दस्तकारी, मज़दूरी या

पेशा लेनदेन करते हैं। व्यापार करनेवाली जातियों में मुख्य महाजन और बोहरे हैं। ब्राह्मण विशेषकर पाठ-पूजन तथा पुरोहिताई करते और कोई व्यापार, नौकरी एवं खेती भी करते हैं। राजपूतों में अधिकतर सैनिक सेवा और कितने ही खेती करते हैं।

यहां के पुरुषों की सामान्य पोशाक पगड़ी, कुरता, लंबा अंगरखा और धोती है। ग्रामीण और भील आदि जंगली लोग पगड़ी के स्थान पर पोतिया (मोटा वस्त्र)

पोशाक बांधते हैं। राजकीय सेवक पजामा और अंगरखा पहनकर कमर बांधते और अंगरखे के ऊपर छोटा कोट पहनते हैं। यह रीति शहर और बड़े क़स्बों के धनाढ्य लोगों में भी चल पड़ी है। साफ़े का प्रचार भी होता जाता है और टोपी भी व्यवहार में आने लगी है। बोहरे तथा मुसलमान प्रायः पजामा पहनते हैं।

स्त्रियों की पोशाक में घाघरा (लहँगा), साड़ी, और कांचली (कंचुलिका) मुख्य हैं और कोई कोई कुरती, अंगरखी या बास्कट भी पहनती हैं। भीलों, किसानों, और ग्रामीण लोगों की स्त्रियों के घाघरे कुछ ऊंचे होते हैं। मुसलमानों की स्त्रियां बहुधा पजामे पहनती हैं और बोहरों की स्त्रियां बाहर जाने पर बहुधा लहँगा ही पहनती हैं तथा मुंह पर नक़ाब डाले रहती हैं।

यहां की मुख्य भाषा मेवाड़ी है, जो हिन्दी का ही एक विकृत रूप है [illegible] के दक्षिणी और पश्चिमी विभागों के लोगों तथा [illegible] है,

भाषा गुजराती से विशेष संबंध है। राज्य के पूर्वी (खैराड़ की तरफ के) हिस्से में खैराड़ी बोली जाती है जो मेवाड़ी, ढूंढाड़ी और हाड़ौती का मिश्रण है।

यहां की राजकीय और प्रचलित लिपि नागरी है, जो लकीर खींचकर घसीट रूप में लिखी जाती है। राजकीय अदालतों आदि में उसे कुछ अशुद्ध

लिपि रूप में लिखते और उसमें फारसी शब्द भी अधिक मिलाते हैं। महाजनों तथा अन्य लोगों के पत्रव्यवहार आदि की लिपि भी वही है, परंतु उसमें शुद्धता का विचार कम रहता है।

शहर उदयपुर में लहरियां आदि कई प्रकार की तलवारें, भाले, छुरी, कटार आदि शस्त्र बनते हैं और तलवारों की मूठों, छुरियों के दस्तों एवं कटारों

दस्तकारी पर तरह तरह का सोने का काम अच्छा बनता है। रंगाई के काम में लहरिये, मोठड़े, एवं स्त्रियों की भिन्न भिन्न प्रकार की साड़ियां आदि वस्त्र तथा रंगीन कपड़ों पर सोने और चांदी के वरक़ों की छपाई का काम बहुत होता है। ऐसे ही रंग रंग के लकड़ी के खिलौने आदि भी अच्छे बनते है। भीलवाड़े में बर्तनों पर पक्की कलई करने का काम होता है और चित्तोड़ में मोटे कपड़ों की रंगाई व छपाई का काम ही विशेष रूप से होता है। दांत, नारियल तथा लाख के चूड़े उदयपुर में और अन्यत्र भी तैयार होते हैं। सोने चांदी के ज़ेवर तथा तांबे और पीतल के बर्तन आदि राजधानी एवं बड़े क़स्बों में बनते हैं। मीनाकारी का काम केवल नाथद्वारे में ही होता है।

व्यापार के लिये उदयपुर राज्य प्रसिद्ध नहीं है। पहले यहां मुख्य व्यापार अफीम और रुई का था, परंतु अब तो अफीम का बोना बंदसा हो गया है।

व्यापार बाहर जानेवाली वस्तुओं में मुख्य रुई है, और तिल, सरसों, घी, चमड़ा, शस्त्र, लकड़ी के खिलौने, ऊन, गोंद, मोम तथा भेड़, बकरी आदि जानवर भी हैं। बाहर से आनेवाली वस्तुओं में मुख्य गुड़, शक्कर, नमक, तम्बाकू, मिट्टी का तेल, हाथीदांत, सब तरह का कपड़ा, लोहा, सीसा, तांवा पीतल, सोना, चांदी तथा नाना प्रकार की अन्य आवश्यक वस्तुएं हैं।

यहां हिन्दुओं के मुख्य त्योहार होली, दिवाली, दशहरा और श्रावणी (रक्षाबन्धन) हैं। इनके अतिरिक्त गनगौर और तीज (श्रावणी तथा काजली)

त्यौहार स्त्रियों के मुख्य त्यौहार हैं। दशहरा (नवरात्रि) राजपूतों का और रक्षाबंधन खास कर ब्राह्मणों का त्यौहार है। नवरात्रि और गनगौर के समय महाराणा साहब की सवारियां बड़ी धूमधाम से निकलती हैं और गनगौर की सवारियों के अवसर पर पीछोले में दरबार की नावों का जमघट तथा उसके तट पर स्त्री-पुरुषों की भीड़ का दृश्य भी देखने योग्य होता है। पहले दशहरे के बाद एक दिन 'मोहल्ला' (मुसिल्लह) नाम की सवारी भी होती थी, जिसमें महाराणा, उनके सरदार, बड़े बड़े अहलकार तथा राजपूत लोग पुराने समय के युद्ध के भेष में घोड़ों पर सवार होकर निकलते थे। उनके सिर पर लोहे का टोप, शरीर पर पूरा कवच (बख़्तर), हाथ में बर्छी, कमर में तलवार, कटार या जमधर, और पीठ पर ढाल रहती तथा घोड़ों पर पाखरें[1] (प्रक्षरा) डाली जाती थीं। इस सवारी को देखने से राजपूतों के पुराने समय के युद्धसंबंधी ठाट-बाट का अनुमान होता था इतना ही नहीं, किंतु उनके शस्त्र और बख़्तर आदि भी साल भर में एक बार साफ हो जाते थे। मैंने एक बार यह सवारी देखी थी, परंतु गत ३५ वर्षों से इसका होना बंद हो गया है। मुसलमानों के मुख्य त्यौहार दोनों ईद और ताज़िये हैं।

मेवाड़ में ऐसा प्रसिद्ध कोई मेला नहीं होता जहां पशुओं या माल की बिक्री यथेष्ट रूप से होती हो। वैशाख सुदि १५ को मातृकुण्डियों (राश्मी ज़िले में) का, भाद्रपद सुदि ११ को चारभुजा का, और चैत्र वदि ८ को ऋषभदेव (केसरियानाथ) का मेला भरता है। इन मेलों में कई हज़ार मनुष्य एकत्र होते हैं। फाल्गुन सुदि ११ को आहाड़ में भीलों का मेला होता है जहां भील बहुत जाते हैं।

मेले

इस राज्य में सरकार अंग्रेज़ी के डाकखाने शहर उदयपुर, भीलवाड़ा, चित्तोड़गढ़, खैरवाड़ा, नाथद्वारा, बदनौर, बनेड़ा, बड़ी और छोटी सादड़ी, बानसी, बेगूं, भादोड़ा, भींडर, देलवाड़ा, देवगढ़, गंगराड़, घोसुंडा, हमीरगढ़, हुरड़ा, जहाज़पुर, कांकड़ोली, कपासण, खेमली, कोटड़ा, लांबिया, मांडल,

डाकखाने

(१) जैसे युद्ध-समय योद्धे अपने शरीर की रक्षा के लिये बख़्तर, टोप आदि पहनते थे वैसे ही हाथी और घोड़ों की रक्षा के लिये उनपर पाखरें (झूल के समान) डाली जाती थीं, जो लोहे की बारीक गुंथी हुई कड़ियों से अथवा मोटे कपड़े के अंदर लोहे की शलाकाएं डालकर बनाई जाती थीं।

मांडलगढ़, मावली, पारसोली, ऋषभदेव, सलूंबर, सनवाड़ और सराड़े में हैं। राज्य के कागज़-पत्र आदि परगनों में पहुंचाने के लिये राज्य की तरफ से भी प्रबंध है, जिसे 'बामणी डाक' कहते हैं, परंतु उसके लिये डाकखाने नियत नहीं हैं।

सरकार अंग्रेज़ी के तारघर—उदयपुर शहर, चित्तोड़गढ़, खैरवाड़ा, भीलवाड़ा और नाथद्वारे में डाकखानों के साथ हैं। इनके अतिरिक्त 'बॉम्बे बड़ौदा

तारघर

एंड सेंट्रल इंडिया रेल्वे' के रूपाहेली, सरेड़ी, लांबिया, मांडल, हमीरगढ़, गंगराड़, चंदेरिया और शंभुपुरा के स्टेशनों तथा 'उदयपुर चित्तोड़गढ़ रेल्वे' के घोसुंडा, पांडोली, कपासण, करेड़ा, कांकड़ोली रोड़, नाथद्वारा रोड़ और खेमली के स्टेशनों से भी आसपास के गांवों के तार लिये और पहुंचाये जा सकते हैं।

छावनियां

उदयपुर राज्य में सरकार अंग्रेज़ी की छावनियां खैरवाड़े और कोटड़े में हैं। खैरवाड़े की अपेक्षा कोटड़े में सिपाही कम रहते हैं और इन छावनियों में सिपाही अधिकतर भील हैं।

शिक्षा

इस राज्य में शिक्षा का प्रबंध पहले राज्य की तरफ से नहीं था। खानगी ...ं में प्रारंभिक शिक्षा और कुछ हिसाब-किताब की पढ़ाई होती थी। संस्कृत पढ़नेवाले पंडितों के यहां और फारसी तथा उर्दू पढ़नेवाले मौलवियों के घरू मक्तबों में पढ़ते थे। अंग्रेज़ी ढंग की पढ़ाई के लिये पहले पहल महाराणा शंभुसिंह ने 'शंभुरत्नपाठशाला' स्थापित की, जहां हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेज़ी की पढ़ाई शुरू हुई और एक कन्या पाठशाला भी खोली गई। महाराणा सज्जनसिंह ने उसी पाठशाला को हाई स्कूल बनाकर उसका नाम 'महाराणा हाई स्कूल' रक्खा, जिसमें एंट्रेन्स तक की अंग्रेज़ी पढ़ाई के साथ हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी का भी अलग प्रबंध किया गया। वर्तमान महाराणा साहब के समय में विद्याविभाग की पहले से विशेष उन्नति हुई और दो वर्ष पूर्व इंटरमीजिएट तक की पढ़ाई के लिये महाराणा हाई स्कूल 'कालेज' बना दिया गया। इसी तरह चित्तोड़गढ़, भीलवाड़ा और जहाज़पुर में मिड्ल तक अंग्रेज़ी की पढ़ाई भी होती है और चालीस के लगभग हिन्दी पाठशालाएं देहातों में कई जगह खुल गई हैं। सरदारों के लड़कों की पढ़ाई के लिये दो वर्ष पूर्व महाराजकुमार सर भूपालसिंहजी के नाम से 'भूपाल नोबल् स्कूल' भी खुला है, जहां एक सौ से अधिक राजपूत सरदारों के

लड़के हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी की शिक्षा पाते और वहीं रहते हैं। राजधानी और उसके आसपास के गाँवों में ईसाइयों के स्कॉटिश मिशन की तरफ से लड़कों के ७ स्कूल और १ लड़कियों का मदरसा भी है। ऐसे ही शहर में 'हरिश्चन्द्र आर्यविद्यालय' नाम की पाठशाला भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्मरण में कई वर्षों से स्थापित है, जहां अंग्रेज़ी तथा हिन्दी की पढ़ाई होती है। इनके अतिरिक्त और भी खानगी पाठशालाएं चल रही हैं।

अस्पताल

उदयपुर नगर में सर्वप्रथम महाराणा शंभुसिंह के समय में राज्य की तरफ़ से एक अस्पताल खुला और महाराणा सज्जनसिंह के राज्यसमय उसी का नाम 'सज्जन हॉस्पिटल' रक्खा गया। वर्तमान महाराणा साहब ने हॉस्पिटल के लिये सुन्दर मकान बनवाकर उसका नाम 'लैन्सडाउन हॉस्पिटल' रक्खा, क्योंकि उसका खातमुहूर्त हिन्दुस्तान के वायसराय लॉर्ड लैन्सडाउन साहब के हाथ से हुआ था। महाराणा सज्जनसिंह ने मेवाड़ के रेज़िडेण्ट कर्नल वॉल्टर के नाम से 'वॉल्टर फ़ीमेल हॉस्पिटल' नामक एक ज़नाना अस्पताल खोला, जिसके लिये वर्तमान महाराणा साहब ने एक सुन्दर मकान बनवाया है। इसके अतिरिक्त शहर में एक मिशन अस्पताल भी है। ऐसे ही बहुधा प्रत्येक ज़िले के मुख्य स्थान में अस्पताल बन गया है और नाथद्वारे में गोस्वामीजी महाराज की तरफ़ से भी एक अस्पताल स्थापित है।

ज़िले

राज्य-प्रबंध के लिये मेवाड़ के १६ विभाग किये गये हैं, जो ज़िले या परगने कहलाते हैं। प्रत्येक ज़िले या परगने में एक हाकिम और प्रत्येक तहसील पर उसकी मातहती में एक एक नायब हाकिम रहता है। उन हाकिमों को दीवानी फौजदारी तथा माल के मुक़द्दमे तय करने का नियमित अधिकार है और उनके किये हुए मुक़द्दमों की अपीलें उदयपुर नगर की अदालतों में होती हैं। इन ज़िलों में से १० में पैमाइश होकर पक्का बन्दोबस्त हो जाने से वहां ज़मीन का हासिल रुपयों में लिया जाता है और बाकी के ज़िलों में पुराने ढंग का प्रबंध होने के कारण वहां अन्न आदि का लाटाकूंता होता है, अर्थात् पैदावारी का हिस्सा लिया जाता है। ये ज़िले और परगने नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) गिरवा (गिर्दनवाह)—इस ज़िले का मुख्य स्थान उदयपुर है और इसमें उदयपुर तथा उससे मिले हुए कितने एक प्रदेश का समावेश होता है। इसके दो विभाग—भीतरी गिरवा और बाहरी गिरवा

पास का पर्वतश्रेणी से घिरा हुआ अंश 'भीतरी गिरवा'[1] और उक्त श्रेणी से बाहर का समतल प्रदेश 'बाहरी गिरवा' कहलाता है। इसके अंतर्गत गिरवा (भीतरी गिरवा), लसाड़िया, मावली और ऊंटाला की तहसीलें हैं। नाई के सिवा प्रत्येक तहसील में नायब हाकिम नियत है। शहर उदयपुर के अतिरिक्त इसके अंतर्गत ८८६ गांव हैं।

(२) छोटी सादड़ी—यह ज़िला राज्य के अग्निकोण में है और इसमें क़स्बा छोटी सादड़ी तथा २०६ गांव हैं। इसके अंतर्गत दो तहसीलें—छोटी सादड़ी और करजू—हैं।

(३) कपासण—यह ज़िला राज्य के मध्य भाग में है और इसमें १४२ गांव हैं। इसके अधीन तीन तहसीलें—कपासण, आकोला और जासमा—हैं।

(४) चित्तोड़—इस ज़िले का मुख्य स्थान क़स्बा चित्तोड़ है। उसके अतिरिक्त इसमें ४४० गांव और इसमें तीन तहसीलें—चित्तोड़, कणेरा तथा नगावली—हैं।

(५) रास्मी—यह ज़िला भी मेवाड़ के मध्य में है और इसमें १०० गांव तथा दो तहसीलें—रास्मी और गलूंड—हैं।

(६) भीलवाड़ा—इसमें मुख्य क़स्बे भीलवाड़ा और पुर, तथा २०५ गांव हैं। इसमें भीलवाड़ा और मांडल तहसीलें हैं।

(७) सहाड़ा—यह ज़िला राज्य के नैर्ऋत्य कोण में है और इसमें २७४ गांव एवं तीन तहसीलें-सहाड़ा, रायपुर और रेलमगरा—हैं।

(८) मांडलगढ़—यह ज़िला राज्य के ईशान कोण में है। इसमें २५८ गांव और कोटड़ी तथा मांडलगढ़ की तहसीलें हैं।

(९) जहाज़पुर—यह ज़िला उदयपुर राज्य के ईशान कोण में है। इसमें क़स्बा जहाज़पुर एवं ३०६ अन्य गांव तथा जहाज़पुर और रूपान की तहसीलें हैं।

(१०) राजनगर—यह परगना राज्य के पश्चिमी विभाग में है और इसमें १२३ गांव हैं।

(११) सायरा—यह परगना राज्य के पश्चिमी विभाग में अर्वली की पर्वत-श्रेणी में है और इसके अंतर्गत ५८ गांव हैं।

---

(१) भीतरी गिरवे में बंदोबस्त नहीं हुआ, वहां लाटाकूंता ही होता है।

(१२) कुंभलगढ़—यह परगना भी राज्य के पश्चिमी विभाग में अर्वली की पहाड़ियों के बीच है और इसमें १६५ गांव हैं। यहां का हाकिम कुंभलगढ़ के नीचे कैलवाड़ा नामक गांव में और नायब हाकिम रीछेड़ में रहता है।

(१३) मगरा—यह ज़िला राज्य के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिमी विभाग में है। इसमें ३२८ गांव तथा चार तहसीलें—सराड़ा, खैरवाड़ा, कल्याणपुर और आवर—हैं। यहां का हाकिम सराड़े में रहता है।

(१४) बागोर—इस परगने में ६४ गांव हैं। पहले यह बागोर के महाराज की जागीर थी, परंतु इस समय खालसे में है।

(१५) आसींद—यह परगना पहले आसींद के रावत का ठिकाना था, परंतु थोड़े ही समय पूर्व यह खालसे कर लिया गया है।

(१६) कुआखेड़ा—यह जहाज़पुर ज़िले का ही एक विभाग है, परंतु इन्हीं दिनों यह अलग परगना बनाया गया, ऐसा सुना है। इसमें कितने गांव आये यह ज्ञात नहीं हुआ।

न्याय

राजधानी में न्याय के लिये सदर दीवानी और सदर फौजदारी अदालतें हैं। ज़िलों और परगनों के हाकिमों के दीवानी फैसलों की अपील सदर दीवानी अदालत में होती है। दीवानी मामलों में ज़िलों के हाकिमों को ५००० रुपये तक के मुक़द्दमे फैसल करने का अधिकार है और सदर दीवानी का हाकिम १०००० रुपये तक का दावा सुन सकता है। ऐसे ही फौजदारी मामलों में ज़िलों के हाकिमों को एक साल तक की क़ैद और ५०० रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है। उनके मुक़द्दमों की अपील सदर फौजदारी में होती है। सदर फौजदारी के हाकिम को तीन साल तक की क़ैद और १००० रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है तथा वह १२ बेंत भी लगवा सकता है। दीवानी और फौजदारी के सब फैसलों की अपील 'महद्राजसभा' में होती है, जिसके प्रेसिडेंट स्वयं महाराणा साहब हैं। उक्त सभा के मेम्बरों के इजलास को 'इजलास मामूली' कहते हैं और इस इजलास को मगरे ज़िले के सिवा सब मुक़द्दमों में १५००० रुपये तक के दीवानी दावे सुनने और फैसले करने, तथा फौजदारी मुक़द्दमों में सात बरस तक की क़ैद और ५००० रुपये तक जुर्माना करने, एवं २४ तक बेंत लगवाने का अधिकार है। संगीन

और बड़े मुक़द्दमे फैसल करने के समय स्वयं महाराणा साहब सभा में उपस्थित रहते हैं और उसको 'इजलास कामिल' कहते हैं। महद्राजसभा के फैसल किये हुए सब मुक़द्दमों के लिखित फैसले स्वीकृति के लिये महाराणा साहब के पास आते हैं और उनकी स्वीकृति हो जाने पर उनकी तामील कराई जाती है।

न्याय विभाग के अतिरिक्त राज्य के सब माली और मुल्की काम 'महकमा ख़ास' के अधीन हैं। महकमे ख़ास के हाकिम (जो अब दो रहते हैं) पहले के प्रधान के स्थान पर समझे जाते हैं। दूसरे राज्यों से संबंध रखनेवाली उदयपुर राज्य की कुल कार्रवाई भी इसी महकमे के द्वारा होती है। ज़िलों तथा परगनों के हाकिम महाराणा साहब की स्वीकृति से नियुक्त होते और पलटे जाते हैं।

ऐसा माना जाता है कि यदि मेवाड़ की भूमि के १३½ विभाग किये जावें तो उनमें से ७ विभाग जागीरदार और भोम के, ३ शासन के और ३½ विभाग राज्य के खालसे के होते हैं। जागीर यहां दो प्रकार की है अर्थात् एक तो सैनिक सेवा के बदले में मिली हुई और दूसरी राजा की कृपा से प्रधान आदि अधिकारियों तथा अन्य पुरुषों को उनकी अच्छी सेवा के निमित्त दी हुई। सैनिक सेवा के बदले में जिनको परगने, गांव या ज़मीन दी गई है वे लोग 'काले पट्टे के जागीरदार' कहलाते हैं। महाराणा अमरसिंह (प्रथम) के समय से यह नियम प्रचलित हुआ था कि सरदार (उमराव) के रहने के ख़ास गांव को छोड़कर बाकी के गांव समय समय पर पलट दिये जावें, परंतु इसमें प्रजा की हानि देखकर महाराणा अमरसिंह (दूसरे) ने यह प्रबंध कर दिया कि जब तक सरदार नौकरी अच्छी तरह देता रहे और सरकारी हक़ पूरे अदा करता रहे तब तक उसके पट्टे (जागीर) के गांव बदले न जावें। तभी से ज़ागीरों की स्थिरता हुई है।

जागीर, भोम और शासन

मेवाड़ में सरदारों की तीन श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के सरदार 'सोला' (सोलह) कहलाते हैं, क्योंकि महाराणा अमरसिंह (दूसरे) ने अपने प्रथम श्रेणी के सरदारों की संख्या १६ नियत की थी, जिनके ठिकानों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) सादड़ी, (२) बेदला, (३) कोठारिया, (४) सलूंबर, (५) घाणेराव, (६) बीजोल्यां, (७) बेगम (बेगूं), (८) देवगढ़, (९) देलवाड़ा,

(१०) आमेट, (११) गोगूंदा, (१२) कानोड़, (१३) भींडर, (१४) बदनोर (१५) बानसी और (१६) पारसोली।

पीछे से महाराणा अरिसिंह (दूसरे[1]) ने भैंसरोड़, महाराणा भीमसिंह ने कुराबड़, महाराणा जवानसिंह ने आसींद तथा महाराणा शंभुसिंह ने मेजा के सरदारों को प्रथम श्रेणी में दाखिल किया, जिससे उनकी संख्या २० हो गई; परंतु घाणेराव के मारवाड़ में चले जाने से संख्या १६ ही रही, तो भी उनकी बैठकों की संख्या अब तक १६ ही नियत है। पीछे से जो चार बढ़ाए गये हैं वे उपर्युक्त १६ में से किसी नियत सरदार की अनुपस्थिति के समय दरबार में उपस्थित होते हैं।

द्वितीय श्रेणी के सरदारों की संख्या महाराणा अमरसिंह (दूसरे) के समय ३२ होने से, उनको 'बत्तीस' कहते हैं, परन्तु अब उनकी संख्या ३२ से अधिक है। पहले की नियत की हुई संख्या में से कुछ तीसरी श्रेणी में आ गये, कितने एक नये भी बढ़ाए गये और थोड़े से, मेवाड़ से जो इलाके निकल गये उनके साथ, अन्य राज्यों में चले गये जिससे उनका संबंध अब मेवाड़ के साथ नहीं रहा। अब जो सरदार इस वर्ग में हैं उनके ठिकानों के नाम नीचे लिखे जाते हैं—

(१) हंमीरगढ़, (२) चावंड, (३) भदेसर, (४) बोहेड़ा, (५) भूंणास, (६) पीपल्या, (७) बेमाली, (८) तांणा, (९) रामपुरा, (१०) खैराबाद, (११) महुआ, (१२) लूंणदा, (१३) थाणा, (१४) बंबोरा, (१५) जरखाणा (धनेरिया), (१६) कैलवा, (१७) बड़ी रूपाहेली, (१८) भगवानपुरा, (१९) रूपनगर, (२०) बाबा दूलहसिंह, (२१) नेतावल, (२२) पीलाधर, (२३) लीमाड़ा, (२४) बाठरड़ा, (२५) बंबोरी, (२६) बाबा मदनसिंह (अब यह जागीर नहीं रही), (२७) सनवाड़, (२८) करेड़ा, (२९)

---

(१) मेवाड़ के इतिहास की कुछ पुस्तकों में वहां के राजाओं की नामावली में अरिसिंह नाम के तीन राजाओं का उल्लेख है—प्रथम, विजयसिंह का पुत्र; द्वितीय, हम्मीरसिंह का पिता; और तृतीय, राजसिंह दूसरे का पुत्र। राणा हम्मीरसिंह का पिता अरिसिंह कभी मेवाड़ का स्वामी नहीं हुआ, और कुंवरपदे में ही वह अपने पिता लक्ष्मणसिंह सहित अलाउद्दीन खिलजी से लड़ने में मारा गया था। वह तो सीसोदे की जागीर का स्वामी भी नहीं हुआ था, अतएव उसका नाम मेवाड़ के राजाओं की नामावली में दर्ज करना भ्रम है। अरिसिंह नाम के दो ही राजा हुए।

आमद-खर्च

गवर्नमेंट से मिलनेवाले नमक के रुपये, उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे की आमद, सरदारों की छटूंद तथा स्टैंप आदि हैं। खर्च के मुख्य सीगे सेना, पुलिस, हाथखर्च, महलों का खर्च, अदालती खर्च, अस्तबल खर्च, गवर्नमेंट का खिराज, धर्मादा, रेल-खर्च, सड़कें तथा इमारतें आदि हैं।

इस राज्य में प्राचीन काल से ही सोने, चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे। चांदी के सिक्के द्रम्म, रूपक और तांबे के कार्षापण कहलाते थे। यहां से

सिक्का

मिलनेवाले सबसे पुराने सिक्के चांदी और तांबे के हैं, जिनपर कोई लेख नहीं, किन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, वृक्ष आदि चिह्न बने होते हैं। वे प्रारंभ में चौखूंटे होते थे और पीछे से उनके किनारों पर कुछ गोलाई भी आती रही। ऐसे चांदी और तांबे के सिक्के 'नगरी' (मध्यमिका) में अधिक मिलते हैं। लेखवाले सबसे पुराने सिक्के नगरी से ही प्राप्त हुए हैं, जो विक्रम संवत् पूर्व की तीसरी शताब्दी के हों, ऐसा उनपर के अक्षरों की आकृति से प्रतीत होता है। वहीं से यूनानी राजा मिनैंडर के द्रम्म भी मिले हैं। पश्चिमी क्षत्रपों के कई चांदी के सिक्के चित्तोड़ के बाज़ार में मुझे मिले और गुप्तों के सोने के सिक्के भी मेवाड़ में कभी कभी मिल आते हैं। हूणों के प्रचलित किये हुए चांदी और तांबे के गधिये सिक्के आहाड़ आदि कई स्थानों में पाये जाते हैं। वर्तमान राजवंश के संस्थापक राजा गुहिल के चांदी के सिक्कों का एक बड़ा संग्रह आगरे से प्राप्त हुआ है। 'गुहिलपति' लेखवाले सिक्कों का भी पता लगा है, परंतु गुहिलपति एक बिरुद होने से यह ज्ञात नहीं होता कि वे सिक्के किस राजा के हैं। शील (शीलादित्य) का एक तांबे का सिक्का और उसके उत्तराधिकारी बापा (कालभोज) की सोने की मोहर भी मिली है। खुम्माण (प्रथम) और महाराणा मोकल तक के राजाओं का कोई सिक्का अब तक प्राप्त नहीं हुआ। फिर महाराणा कुंभकर्ण के तीन प्रकार के तांबे के सिक्के भी पाये गये हैं और उसके चांदी के सिक्के भी चलते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। इसी तरह महाराणा सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के भी मिल आते हैं।

महाराणा अमरसिंह (प्रथम) ने बादशाह जहांगीर से सुलह की, तभी से मेवाड़ की टकसाल बंद हो गई, क्योंकि मुसलमानों के राज्यसमय अपने तथा अपने अधीनस्थ राज्यों में सिक्का उन्हीं का चलता था। जब बादशाह अकबर ने चित्तोड़ ले लिया तब वहां अपने नाम के

भी खोली। चित्तोड़ की टकसाल के अकबर के ही सिक्के मिलते हैं। जहांगीर तथा उसके पिछले बादशाहों के समय बाहरी टकसालों के बने हुए उन्हीं के सिक्के यहां चलते रहे, जिनका नाम पुराने बहीखातों में 'सिक्का एलची' मिलता है। मुहम्मद शाह और उसके पिछले बादशाहों के समय उनकी अवनत दशा में राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों ने बादशाह के नामवाले सिक्कों के लिये शाही आज्ञा से अपने अपने यहां टकसालें जारी कीं। तब मेवाड़ में भी चित्तोड़, भीलवाड़े और उदयपुर में टकसालें खुलीं। उन टकसालों के बने हुए रुपये चित्तोड़ी, भीलाड़ी और उदयपुरी कहलाते हैं और उनपर शाहआलम (दूसरे) का लेख रहता है। इन रुपयों का चलना जारी होने पर एलची सिक्के बंद होते गये और पहले के लेन-देन में तीन एलची रुपयों के बदले में चार चित्तोड़ी, उदयपुरी आदि दिये जाने लगे। सरकार अंग्रेज़ी के साथ अहदनामा होने के बाद महाराणा स्वरूपसिंह ने अपने नाम का रुपया चलाया जिसको 'सरूपसाही' कहते हैं[१]। उसकी एक तरफ 'चित्रकूट उदयपुर' और दूसरी ओर 'दोस्ति लंधन' (इग्लैंड का मित्र) लेख नागरी लिपि में है। सरूपसाही अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी और अन्नी भी अब तक बनती रही है। सरूपसाही मुहर भी बनती हैं, परंतु उनका चलन नहीं है। मेवाड़ में कई तरह के तांबे के सिक्के चलते हैं, जो उदयपुरी (ढींगला), भीलवाड़ी (भीलाड़ी), त्रिशूलिया, भींडरिया, नाथद्वारिया आदि नामों से प्रसिद्ध हैं और वे भिन्न भिन्न तोल और मोटाई के होते हैं। उनपर कहीं अस्पष्ट फारसी अक्षर या त्रिशूल, वृक्ष आदि चिह्न बने होते हैं।

प्रसिद्ध और प्राचीन स्थान

उदयपुर राज्य में प्राचीन स्थान बहुत हैं। यदि उनका सविस्तर वर्णन किया जाय तो एक बड़ी पुस्तक बन सकती है, परंतु यहां इतना स्थान नहीं है, अतएव उनमें से मुख्य मुख्य का बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

(१) महाराणा भीमसिंह की बहिन चंद्रकुंवर बाई के स्मरण में उक्त महाराणा के समय में 'चांदोड़ी' रुपया, अठन्नी, चवन्नी आदि भी चलाई गई। उनपर पहले फारसी अक्षर थे, परंतु महाराणा स्वरूपसिंह ने फारसी अक्षरों को निकलवाकर उनके स्थान में बेल-बूटों के चिह्न बनवाये। ये सिक्के अब तक दान-पुण्य या विवाह आदि के अवसर पर देने के काम में आते हैं।

उदयपुर[1] शहर पीछोला तालाव के पूर्वी किनारे की उत्तर-दक्षिण स्थित पहाड़ी के दोनों पार्श्व पर वसा हुआ है। इसके पूर्व तथा उत्तर में समान भूमि आ गई है, जिधर नगर वढ़ता जाता है। शहर पुराने ढंग का वना हुआ है और एक वड़ी सड़क को छोड़कर बहुधा सब रास्ते व गलियां तंग हैं। इसकी तीन तरफ पक्की शहरपनाह है, जिसमें स्थान स्थान पर बुर्जें वनी हुई हैं। नगर के उत्तर तथा पूर्व में, जहां शहरपनाह पर्वतमाला से दूर है, एक चौड़ी खाई कोट के पास पास खुदी हुई है। शहर के दक्षिणी भाग में पहाड़ी की ऊंचाई पर पीछोले के किनारे पुराने राजमहल वड़े ही सुन्दर और प्राचीन शैली के वने हुए हैं। पुराने महलों में मुख्य छोटी चित्रशाली, सूरज चौपाड़, पीतमनिवास, मानिकमहल, मोतीमहल, चीनी की चित्रशाली, दिलखुशाल, वाड़ीमहल (अमर-विलास) मुख्य हैं। पुराने महलों के आगे अंग्रेज़ी तर्ज़ का शंभुनिवास नाम का नया महल, और उसके निकट वर्तमान महाराणा साहव का वनवाया हुआ शिव-निवास नामक सुविशाल महल लाखों रुपयों की लागत से तैयार हुआ है। राज-महल शहर के सवसे ऊंचे स्थान पर वनाये जाने के कारण और इनके नीचे ही विस्तीर्ण सरोवर होने से उनकी प्राकृतिक शोभा वहुत वढ़ी-चढ़ी है। राजमहलों के नीचे सज्जननिवास नाम का वड़ा ही रमणीय और विस्तृत वाग़ आ गया है, जिसमें जगह जगह फव्वारे छूटते हैं। इस वाग़ में एक तरफ शेर, नाहर, चीते आदि जानवरों; और रोझ, हिरण, ज़ेवरा, रींछ आदि जन्तुओं एवं तरह तरह के पक्षियों के रहने के स्थान निर्माण किये गये हैं। एक तरफ विक्टोरिया हॉल नामक विशाल भवन वना हुआ है, जिसके सामने महारानी विक्टोरिया की पूरे क़द की मूर्ति खड़ी है और भवन में पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर आदि वने हैं। पुस्तका-लय में ऐतिहासिक पुस्तकों का वड़ा संग्रह है और अजायबघर में पुराने शिला-

उदयपुर

(१) पहले राजधानी चित्तौड़गढ़ थी, परंतु वह गढ़ सुदृढ होने पर भी एक ऐसी लंबी पहाड़ी पर वना हुआ है, जो अन्य पर्वतश्रेणियों से पृथक् आ गई है; अतएव शत्रु उसका घेरा डालकर क़िलेवालों के पास बाहर से रसद आदि का पहुंचना सहज ही बंद कर सकता है। यही कारण था कि यहां कई बार बड़ी बड़ी लड़ाइयों में क़िले के लोगों को, भोजनादि सामग्री खतम हो जाने पर, विवश दुर्ग के द्वार खोलकर शत्रुसेना से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। इसी असुविधा का अनुभव करके महाराणा उदय-सिंह ने चारों तरफ पर्वतों से घिरे हुए सुरक्षित स्थान में उदयपुर नगर बसाकर उसे अपनी दूसरी राजधानी बनाया।

लेख तथा प्राचीन मूर्तियां भी यथेष्ट संख्या में हैं। शहर में देखने योग्य स्थान जगदीश का मन्दिर भी है। महाराणा जगत्सिंह प्रथम ने वि० सं० १७०६ (ई० स० १६५२) में लाखों रुपये व्यय कर इस देवालय का निर्माण किया था। यह विशाल और सुंदर शिखरबंद मंदिर एक ऊंचे स्थान पर बना हुआ होने के कारण बड़ा ही भव्य दीखता है। इस मंदिर के बाहरी भाग में चारों ओर अत्यंत सुंदर खुदाई का काम बना हुआ है, जिसमें गजथर, अश्वथर तथा संसारथर भी प्रदर्शित किये गये हैं। गजथर के कई हाथी और बाहरी द्वार के पास का कुछ भाग औरंगज़ेब की चढ़ाई के समय मुसलमानों ने तोड़ डाला था, जो नया बनाया गया है। इस के सिवा खंडित हाथियों की पंक्ति में नये हाथी भी यथास्थान लगा दिये हैं। उदयपुर में शिव, विष्णु, देवी आदि के तथा जैनों के कई मंदिर हैं, परन्तु ऐसा भव्य कोई भी नहीं है।

नगर के पश्चिमी किनारे पर पिछोला नामक विस्तीर्ण सरोवर आ गया है, जिसमें कई छोटे-बड़े टापू हैं और उनपर भिन्न भिन्न समय के कई सुंदर स्थान बने हुए हैं जिनमें से दो विशेष उल्लेखनीय हैं। राजमहलों के सामने और नगर के समीप जगनिवास नामक महल हैं, जिनको महाराणा जगत्सिंह द्वितीय ने एक टापू पर बनवाया था। इनमें बगीचे, हौज़ और फव्वारे इत्यादि कई वस्तुएं दर्शनीय हैं। प्राचीन महलों में संगमरमर का बना हुआ 'धोला-महल' देखने योग्य है। इसके सामने ही नहर का हौज़ बना हुआ है, जिसके चारों तरफ भूलभुलैया के रूप में बनी हुई नालियां, पुष्पों की क्यारियां एवं ताड़ के ऊंचे ऊंचे वृक्ष लगे हुए हैं, जिनसे यहां हरियाली की अच्छी छटा बनी रहती है। महाराणा शंभुसिंह तथा सज्जनसिंह ने अपने अपने नाम से शंभुप्रकाश और सज्जननिवास नामक महल बनवाये। सज्जननिवास महल में तैरने के लिये एक विशाल कुंड तथा फव्वारों की पंक्तियां और कुंड के दोनों तरफ बने हुए दालानों में बड़े बड़े दर्पण लगे हुए हैं। इसकी दूसरी मंज़िल में सिंहादि हिंसक जन्तुओं के आखेटसंबंधी चित्र, तथा चौक के एक दूसरे भाग में हाथियों से अन्य पशुओं के युद्ध के दृश्य अनेक रंगीन चित्रों द्वारा अंकित किये गये हैं, जिससे दर्शक का बड़ा मनोरंजन होता है। आजकल महाराजकुमार साहब सज्जननिवास की ऊपरी मंज़िल के पास एक नया महल बनवा रहे हैं, जिससे जगनिवास के इस भाग की शोभा और भी बढ़ जायगी। ये महल जल

के मध्य में बने हुए होने के कारण उष्ण काल में यहां बड़ी ठंडक रहती है। इस महल की दूसरी मंज़िल से सरोवर, राजमहल एवं नगर का दृश्य ऐसा रमणीय दीख पड़ता है कि सैकड़ों कोस दूर से उदयपुर तक आने के सारे श्रम को यात्री क्षण भर में भूल जाता है और उसके हृदय में नैसर्गिक आनंद की लहर उमड़ उठती है।

जगनिवास से अनुमान आध मील दक्षिण में एक दूसरे विशाल टापू पर जगमंदिर नामक पुराने महल बने हुए हैं। महाराणा कर्णसिंह ने इनको बनवाना प्रारंभ किया था, परन्तु उनका काम अधूरा ही रहा जिसको उनके पुत्र महाराणा जगत्सिंह (प्रथम) ने समाप्त किया, इसी से ये महल जगमंदिर कहलाते हैं। जगमंदिर के बाहर तालाब के किनारे पर पत्थर के हाथियों की एक पंक्ति बनी हुई है। जगनिवास की अपेक्षा जगमंदिर प्राचीन है और इसमें इतिहास-प्रेमी के लिये दर्शनीय स्थान भी अधिक हैं इस महल में केवल प्राचीनता ही है और आजकल की तरह भांति भांति की सजावट यहां दृष्टिगोचर नहीं होती। जगमंदिर में मुख्य स्थान एक गुंबज़दार महल है, जिसको 'गोल महल' कहते हैं। इसके विषय में वहांवालों का यह कथन है कि शाहज़ादा खुर्रम (पीछे से बादशाह शाहजहां) अपने पिता जहांगीर से विद्रोह करने पर उदयपुर आकर कुछ समय तक रहा था, और उसी के लिये महाराणा कर्णसिंह ने यह महल बनवाया था, परंतु विशेषतः संभव तो यह है कि जब शाहज़ादा खुर्रम शाही फौज का सेनापति बनकर उदयपुर में रहा था, उस समय उसने उक्त महल बनवाया हो। इस महल को देखने से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण करने में आगरे के कारीगरों का हाथ अवश्य था, क्योंकि इसके गुंबज़ आदि में पत्थर की पच्चीकारी का जो काम है, वह मेवाड़ की शैली का नहीं, किंतु आगरे के सुप्रसिद्ध ताज़महल के ढंग का है। आश्चर्य्य नहीं कि इसी महल के गुंबज़ की शैली पर ताजमहल का गुंबज़ भी बना हो, क्योंकि यह ताजमहल से पहले का बना हुआ है। इस महल के सामने एक विशाल चौक है, जिसके मध्य में एक बड़ा हौज़ बना हुआ है। इस हौज़ के चारों किनारों पर एवं चौक के मध्य में फव्वारों की पंक्तियां बनी हुई हैं, जो ताजमहल के सामने के फव्वारों का स्मरण दिलाती हैं; परंतु अब ये बिगड़ी हुई दशा में हैं, जिससे जलधाराओं के छूटने का आनंद दर्शक को प्राप्त नहीं होता। इनके सिवा कई एक दालान और छोटे बड़े

अन्य स्थान भी हैं, जो पीछे से महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय में बने हैं। जगमंदिर में बहुत बड़ा बगीचा लग जाने से इसकी बहुत कुछ शोभावृद्धि हुई है। गोल महल के पूर्व पार्श्व में संगमरमर की केवल बारह बड़ी बड़ी शिलाओं से बना हुआ एक महल है। ई० स० १८५७ (वि० सं० १९१४) के सिपाही-विद्रोह के समय नीमच के कई एक अंग्रेज़ कुटुंबों को महाराणा स्वरूपसिंह ने अपने यहां लाकर सत्कारपूर्वक इन्हीं महलों में रक्खा था।

पीछोले के 'बड़ीपाल' नामक बांध के दक्षिणी किनारे से प्रारंभ होकर तालाव के दक्षिणी तट के पास पास पहाड़ियों की एक शृंखला चली गई है। बांध के समीप की ऊंची पहाड़ी 'माछला मगरा' (मत्स्य-शैल) कहलाती है और उस पर एकलिंगगढ़ नामक प्राचीन दुर्ग बना हुआ है, जहां कुछ तोपें भी रहती हैं। उदयपुर पर मरहटों के आक्रमण के समय इस दुर्ग ने नगर की रक्षा करने में बहुत कुछ सहायता की थी। दक्षिण में अर्वली पर्वतमाला की इन श्यामवर्ण पहाड़ियों की पंक्ति आ जाने से तालाव की शोभा बढ़ गई है। इधर दक्षिणी तट पर 'खास ओदी' नामक एक स्थान है जहां सिंह-शूकर-युद्ध के लिये चौकोर मकान बना हुआ है, जिसकी छत पर बैठकर यह युद्ध देखने में बड़ा ही आनंद रहता है। खास ओदी से कुछ दूर पश्चिम में सरोवर के दक्षिणी सिरे के निकट सीसारमा गांव है, जहां वैद्यनाथ नामक शिवालय देखने योग्य है। इस शिवालय को महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय की माता देवकुमारी ने बनवाया था। अपनी मातृभक्ति के कारण महाराणा संग्रामसिंह ने लाखों रुपये व्यय कर इस देवालय की प्रतिष्ठा वि० सं० १७७२ माघ सुदि १२ को बड़ी धूमधाम से की थी, जिसके उत्सव में कोटे के महाराव भीमसिंह, डूंगरपुर के रावल रामसिंह तथा कई प्रसिद्ध राजवंशी विद्यमान थे[1] और राजमाता ने सुवर्ण का तुलादान किया था। मंदिर में दो बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदी हुई

---

(१) *प्रासादवैवाह्यविधिं दिदृक्षुः कोटाधिपो भीमनृपोऽभ्यगच्छत् ।*
रथाश्वपत्तिद्विपनद्धसैन्यो दिल्लीपसम्मानितबाहुवीर्यः ॥ १५ ॥
यो डूंगराख्यस्य पुरस्य नाथो दिदृक्षया रावलरामसिंहः ।
सोऽप्यागमत्तत्र समग्रसैन्यो देशान्तरस्था अपि चान्यभूपाः ॥ १६ ॥

वैद्यनाथ के मंदिर की प्रशस्ति, प्रकरण पांचवां।

वि० सं० १७७५ की प्रशस्ति लगी है, जिसमें उक्त उत्सव का विस्तृत वर्णन है; यह प्रशस्ति इतिहास एवं इतिहासप्रेमियों के लिये बड़े महत्त्व की है।

उदयपुर के पश्चिम में एक कोस दूर बांसदरा पहाड़ पर, जो समुद्र की सतह से ३१०० फुट ऊंचा है, महाराणा सज्जनसिंह ने सुंदर महल बनवाना आरंभ किया था और उसका नाम सज्जनगढ़ रक्खा था। सज्जनगढ़ के महलों में जो काम महाराणा सज्जनसिंह के समय में अपूर्ण रह गया उसे वर्तमान महाराणा साहब ने पूर्ण कराया। इसकी पहली मंज़िल में पत्थर की खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर बना हुआ है। ऊंचाई होने के कारण यहां से पीछोला, राज-महल, नगर, फतहसागर, दूर दूर के कई गांव एवं चारों ओर की पर्वतमाला का दृश्य देखने में अपूर्व आनंद आता है, इस कारण दर्शक दो मील की चढ़ाई चढ़कर ऊपर जाने पर अपना सारा श्रम क्षण भर में भूल जाता है। उष्ण काल में यहां गरमी कम रहती है और प्रकृति-सौंदर्य के निरीक्षण के लिये यह सर्वोत्तम स्थान है।

नगर के हाथीपोल दरवाज़े के बाहर ही थोड़ी दूर पर रेज़िडेन्सी का भवन बना हुआ है और यहां से पश्चिम में जाने पर फतहसागर के बांध के नीचे ही 'सहेलियों की बाड़ी' नामक बाग़ आता है। यहां भी मामूली ढंग का एक महल बना हुआ है, जिसके आगे के चौक में एक बहुत बड़ा हौज़ है। इस बाड़ी में महलों की अपेक्षा फव्वारों का दृश्य बड़ा ही चित्ताकर्षक है। हौज़ के चारों तरफ फव्वारों की पंक्तियां लगी हुई हैं, जिनसे सैकड़ों धाराओं के एक साथ छूटने पर दर्शक को ऐसा मालूम होता है कि मानो एक जल-भित्ति खड़ी हो गई हो। हौज़ के चारों किनारों पर बनी हुई छत्रियों के छज्जों आदि विभिन्न भागों तथा उनके ऊपर बने हुए चिड़िया आदि भांति भांति के पक्षियों की चोंचों से ऊंची धाराएं चारों ओर छूटती हैं और हौज़ के बीच की छत्री के छज्जों में से चारों तरफ जल इस प्रकार गिरता है, जैसे एक प्रपात फूट निकला हो। इस बाग़ में फूलों से लदी हुई क्यारियों और हरी हरी दूब की अद्भुत छटा के साथ साथ स्थान स्थान पर छोटे बड़े फव्वारों की ऐसी विचित्र रचना की गई है कि उनके सौंदर्य का ठीक अनुमान देखने से ही हो सकता है। यहां एक विशाल अंडाकृति कुंड है, जिसमें कमल-वन लगा हुआ है। कुंड के चारों तरफ चार चार इंच के अंतर पर फव्वारों के छिद्र बने हैं तथा मध्य में एक विशाल

फव्वारा लगा हुआ है और उस कुंड के आमने-सामने एक एक पत्थर के बने हुए चार हाथी हैं। कमल-वन के मध्य का विशाल फव्वारा जब चलने लगता है तब हाथियों की सूंडों से मोटी मोटी धाराएं बहुत दूर तक छूटती हैं और सहस्रों धाराओं के एक साथ निकलने पर दर्शक को यह अद्भुत दृश्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो वर्षारंभ हो गया हो। फव्वारों के बड़े वेग से छूटने का कारण यह है कि इनमें जल बड़ी ऊंचाई पर स्थित फतहसागर से नलों द्वारा पहुंचाया जाता है। राजपूताने में फव्वारों की सुंदर छटा के लिये भरतपुर राज्य का डीग नामक स्थान प्रसिद्ध है; परंतु जिन्होंने डीग के फव्वारे छूटते हुए देखे हैं वे भी इन फव्वारों की मनोमोहक छटा के आगे डीग के फ़व्वारों की शोभा को कहीं फीकी बतलाते हैं। फव्वारों की यह अद्भुत रचना वर्तमान महाराणा साहब की इच्छा के अनुसार की गई है। श्रावण मास की हरियाली अमावास्या के अवसर पर इस बाड़ी में नगर निवासियों का बड़ा मेला लगता है। उदयपुर में यह बाड़ी भी मन-बहलाव के लिये एक उपयुक्त स्थान है।

उदयपुर में नगर का भाग तो प्राचीन ढंग का बना हुआ है और जगदीश के मंदिर तथा राजमहलों के अतिरिक्त देखने योग्य भव्य भवन विशेष नहीं हैं, तो भी इस नगर के आसपास का प्राकृतिक दृश्य इतना मनोहर है कि उसका ठीक अनुमान देखने से ही हो सकता है। नगर के पास दो सुविशाल सरोवर, मध्य में हरियाली एवं सुरम्य महलोंवाले टापू, कहीं बांध की शोभा, उसके पीछे बड़े बड़े बाग़ और तालाब के किनारे पहाड़ी पर राजमहलों का दृश्य आदि उदयपुर के विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां के प्रकृति-सौंदर्य को देखकर दर्शक के हृदय से यही उद्गार उठने लगते हैं कि प्रकृति देवी के सौंदर्य के सम्मुख मनुष्य की बाह्य आडंबरमयी सजावट कितनी नीरस हो जाती है। यही कारण है कि सुदूर देशों से सैकड़ों यात्री इस अपूर्व शोभा को देखने के लिये प्रतिवर्ष उदयपुर आते हैं और यहां की प्राकृतिक-छटा की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए अपने यात्रा-श्रम को सफल मानते हैं[1]।

उदयपुर नगर से अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर ईशान कोण में रेल्वे स्टेशन के समीप आहाड़ नामी प्राचीन नगर के खंडहर हैं। इसको जैन ग्रंथों तथा प्राचीन

(१) उदयपुर नगर तथा आसपास के स्थानों के विस्तृत वर्णन के लिये देखो, 'माधुरी'; वर्ष ३, खंड १; पृ० ४८०–६६ और ६६३–६०१।

आहाड़ शिलालेखों में आघाटपुर अथवा आटपुर लिखा है। यहां गंगोद्भेद (गंगोभेव) नामक एक पुरातन तीर्थरूप चतुरस्र कुंड है, और उसके मध्य में एक प्राचीन छत्री बनी हुई है, जिसको लोग उज्जयिनी के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य के पिता गंधर्वसेन का स्मारक बतलाते हैं। यहां पर यह कुंड बड़ा ही पवित्र माना जाता है और सैकड़ों नागरिक समय समय पर स्नानार्थ यहां आते हैं। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण यह कुंड जीर्ण-शीर्ण हो गया था, परंतु उदयपुर के भूतपूर्व दीवान कोठारी बलवंतसिंहजी के यत्न से इसका जीर्णोद्धार हो जाने के कारण लोगों के लिये स्नानादि का सुबीता हो गया। कुंड के दक्षिण में शिवालय के सामने एक दूसरा चतुरस्र कुंड तथा तिबारियां बनी हुई हैं। इन्हीं कुंडों के निकट अहाते से घिरा हुआ महाराणाओं का दाहस्थान है, जिसको यहां 'महासती' कहते हैं। महाराणा प्रताप के बाद राणाओं का अंत्येष्टि संस्कार बहुधा यहीं होता रहा। बहुतसी छोटी-बड़ी छत्रियों में से महाराणा अमरसिंह (प्रथम), अमरसिंह द्वितीय तथा संग्रामसिंह द्वितीय की छत्रियां बड़ी भव्य बनी हुई हैं।

प्राचीन काल में आहाड़ एक समृद्धिशाली नगर था, जिसमें कितने ही देवालय आदि बने हुए थे। मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) ने, वि० सं० १०३० के आसपास इस नगर पर आक्रमण कर इसे तोड़ा था। इसके बाद भी यह नगर आबाद रहा, परंतु कहते हैं, पीछे से भूकंप के कारण नष्ट हो गया। इन खंडहरों में धूलकोट नामक एक ऊंचा स्थान है, जहां पर खोदने से बड़ी बड़ी ईंटें, मूर्तियां एवं प्राचीन सिक्के मिल आते हैं। आजकल प्राचीन नगर के स्थान में उसी नाम का नवीन ग्राम है, जो कुछ शताब्दियों पूर्व बसाया गया था। यहां के नये बने हुए मंदिरों में पुराने मंदिरों के बहुतसे पत्थरों का उपयोग किया गया है, जिनके साथ कई मूर्तियां तथा शिलालेख भी तोड़-फोड़ कर चाहे जहां लगा दिये गये हैं। यहां नये बने हुए चार जैन मंदिरों में भी जहां-तहां प्राचीन मूर्तियां दीवारों में लगी हुई दीखती हैं। मेवाड़ के राजा भर्तृभट द्वितीय के समय का वि० सं० १००० का एक शिलालेख तोड़कर उपर्युक्त दूसरे कुंड की दीवार में लगाया गया है। एक प्राचीन शिलालेख से जैन मंदिर की और दूसरे से हस्तमाता के मंदिर की सीढ़ी बनाई गई थी और राजा अल्लट के समय के वि० सं० १०१० के शिलालेख से

सारणेश्वर के मंदिर का छबना बनाया गया है, परंतु इन चार में से दो शिला- लेख विक्टोरिया हॉल के संग्रहालय में सुरक्षित किये गये हैं। राजा अल्लट के समय का लेख मूल में वाराह के मंदिर में लगा हुआ था, जो मेवाड़ के इतिहास के लिये बड़े महत्त्व की वस्तु है। हमारे प्राचीन इतिहास के सच्चे प्रामाणिक साधनरूप इन शिलालेखों को सुरक्षित रखने की बड़ी आवश्यकता है।

उदयपुर से १३ मील उत्तर में एकलिंगजी का प्रसिद्ध मंदिर है, जो दो पहा- ड़ियों के बीच में बना हुआ है। जिस गांव में यह मंदिर है उसको कैलाशपुरी कहते हैं। एकलिंगजी महाराणा के इष्टदेव हैं, इतना ही नहीं किंतु मेवाड़ के राज्य के मालिक भी एकलिंगजी ही माने जाते हैं और महाराणा उनके दीवान कहलाते हैं, इसी से महाराणा को राजपूताने में 'दीवाणजी' कहते हैं। यह सुविशाल मंदिर एक ऊंचे कोट से घिरा हुआ है। प्रारंभ में इस मंदिर को किसने बनवाया, इसका कोई लिखित प्रमाण तो नहीं मिलता, परंतु जनश्रुति से प्रसिद्ध है कि सर्वप्रथम राजा बापा (बापा रावल) ने उसे बनाया था; फिर मुसलमानों के हमले में टूट जाने के कारण महाराणा मोकल ने उसका जीर्णोद्धार कराकर एक कोट बनवाया। तदनंतर महाराणा रायमल ने नये सिरे से वर्तमान मंदिर का निर्माण किया। इस मंदिर में पूजन बड़े ठाट के साथ होता है और प्रत्येक पूजन के में कई घंटे लग जाते हैं, क्योंकि यहां की पूजा विशेष रूप से तैयार की हुई एक पद्धति[1] के अनुसार होती है। एकलिंगजी की मूर्ति चौमुखी है, जिसकी प्रतिष्ठा महाराणा रायमल ने की थी। मंदिर के दक्षिणी द्वार के सामने एक ताक में महाराणा रायमल की १०० श्लोकों- वाली एक प्रशस्ति लगी हुई है, जो मेवाड़ के इतिहास तथा इस मंदिर के वृत्तांत के लिये बड़े महत्व की है।

एकलिंगजी

इस मंदिर के अहाते में कई और भी छोड़े बड़े मंदिर बने हुए हैं, जिनमें से एक महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) का बनवाया हुआ विष्णु का मंदिर है, जिसको

(१) उक्त पद्धति के अनुसार उत्तर के मुख को विष्णु का सूचक मानकर विष्णु के भाव से उसका पूजन किया जाता है, परंतु वास्तव में यह, पद्धति प्रचलित करनेवालों की भूल ही है, क्योंकि शिव की ऐसी कई मूर्तियां मिल चुकी हैं, जिनमें चारों ओर मुख के स्थान में उनके सूचक देवताओं की मूर्तियां बनी हुई हैं; अर्थात् पूर्व में सूर्य की, उत्तर में ब्रह्मा की, पश्चिम में विष्णु की, और दक्षिण में रुद्र (शिव) की हैं। ऐसी दो प्राचीन मूर्तियां राजपू- ताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में तथा इंडियन म्यूज़ियम् (कलकत्ता) आदि में भी सुरक्षित हैं।

लोग 'मीरांबाई का मंदिर' कहते हैं और आजकल घी, तेल आदि सामान रखने के लिये इसका दुरुपयोग होता है। एकलिंगजी के मंदिर से दक्षिण में कुछ ऊंचाई पर यहां के मठाधिपति ने वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) में लकुलीश[1] का मंदिर बनवाया था और इस मंदिर से कुछ नीचे विंध्यवासिनी देवी का मंदिर है। बापा का गुरु नाथ (साधु) हारीतराशि एकलिंगजी के मंदिर का महंत था और उसके पीछे पूजा का कार्य उसकी शिष्यपरंपरा के अधीन रहा। इन नाथों का पुराना मठ एकलिंगजी के मंदिर से पश्चिम में बना हुआ है। पीछे से नाथों का आचरण बिगड़ता गया और वे स्त्रियां भी रखने लगे, जिससे उनको अलग कर संन्यासी मठाधिपति नियत किया गया, तभी से यहां के मठाधीश संन्यासी ही होते हैं, और वे गुसाईंजी (गोस्वामीजी) कहलाते हैं। गुसाईंजी की अध्यक्षता में तीन चार ब्रह्मचारी रहते हैं, वे ही लोग यहां का पूजन किया करते हैं, और स्वयं महाराणा

(१) लकुलीश या लकुटीश शिव के १८ अवतारों में से एक माना जाता है। प्राचीन काल में पाशुपत (शैव) सम्प्रदायों में लकुलीश सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध था, और अब तक सारे राजपूताना, गुजरात, मालवा, बंगाल, दक्षिण आदि में लकुलीश की मूर्तियां पाई जाती हैं। लकुलीश की मूर्ति के सिर पर जैन मूर्तियों के समान केश होते हैं, जिससे कोई कोई उसको जैन मूर्ति मान लेते हैं, परंतु वह जैन नहीं, किंतु शिव के एक अवतार की मूर्ति है। वह द्विभुज होती है, उसके बायें हाथ में लकुट (दंड) रहता है, जिसपर से लकुलीश तथा लकुटीश नाम पड़े, और दाहिने हाथ में बीजोरा नामक फल होता है, जो शिव की त्रिमूर्तियों के मध्य के दो हाथों में से एक में पाया जाता है। यह मूर्ति पद्मासन से बैठी हुई होती है—

न(ल)कुलीशं ऊर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितं ।
दक्षिणे मातुलिंगं च वामे दण्डं प्रकीर्तितम् ॥

विश्वकर्मावतार—वास्तुशास्त्रम् ।

लकुलीश की किसी किसी मूर्ति के नीचे नंदी और कहीं कहीं दोनों तरफ एक एक जटाधारी साधु भी बना हुआ होता है। लकुलीश ऊर्ध्वरेता (जिसका वीर्य कभी स्खलित न हुआ हो) माना जाता है, जिसका चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति पर स्पष्ट होता है। इस समय इस प्राचीन सम्प्रदाय का अनुयायी कोई नहीं रहा, परंतु प्राचीन काल में इसके माननेवाले बहुत थे, जिनमें मुख्य साधु होते थे। माधवाचार्यरचित-'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस संप्रदाय के सिद्धान्तों का कुछ विवरण पाया जाता है, और इसका विशेष वृत्तान्त प्राचीन शिलालेखों तथा विष्णुपुराण आदि में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कनफड़े (नाथ) होते हों, ऐसा अनुमान होता है।

साहब भी कभी कभी पूजा करते हैं। पूजन की सामग्री आदि पहुंचाने के लिए कई परिचारक नियत हैं जो टहलुए कहलाते हैं।

एकलिंगजी के मंदिर से थोड़े ही अंतर पर मेवाड़ के राजाओं की पुरानी राजधानी नागदा नगर है, जिसको संस्कृत शिलालेखों आदि में 'नागह्रद' या 'नागद्रह' लिखा है। पहले यह बहुत बड़ा और समृद्धिशाली नगर था, परंतु अब तो बिल्कुल ऊजड़ पड़ा हुआ है। यहां प्राचीन काल में अनेक शिव, विष्णु आदि के एवं जैन मंदिर बने हुए थे, जिनमें से कितने एक अब तक विद्यमान हैं। दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने अपनी मेवाड़ की चढ़ाई में इस नगर को तोड़ा, तभी से इसकी अवनति होती गई, और महाराणा मोकल ने इसके निकट अपने भाई बाघसिंह के नाम से बाघेला तालाव बनवाया, जिससे इस नगर का कुछ अंश जल में डूब गया। इस समय जो मंदिर यहां विद्यमान हैं, उनमें से दो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनको 'सास बहू के मंदिर' कहते हैं। इनमें से दक्षिण की तरफ़ सास के मंदिर की खुदाई बड़ी ही सुन्दर है और उसका समय वि० सं० ११वीं शताब्दी के आसपास अनुमान किया जा सकता है। एक विशाल जैन-मंदिर भी टूटी फूटी दशा में खड़ा है, जिसको 'खुमाण रावल का देवरा' कहते हैं। उसमें भी खुदाई का काम अच्छा है। दूसरा जैन-मंदिर अदबदजी का मंदिर कहलाता है, उसके भीतर ६ फुट ऊंची शांतिनाथ की बैठी हुई मूर्ति है। इस अद्भुत मूर्ति के कारण ही लोगों ने इसका नाम अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर रख लिया है। उक्त मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है कि महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के राज्य-समय वि० सं० १४९४ (ई० स० १४३७) में ओसवाल सारंग ने वह मूर्ति बनवाई थी। इन मंदिरों के अतिरिक्त और भी कई छोटे छोटे मंदिर वहां विद्यमान हैं, परंतु विस्तार भय से हमने उनका हाल यहां लिखना उचित नहीं समझा।

नागदा

उदयपुर से ३० मील और एकलिंगजी से १७ मील उत्तर में नाथद्वारा नामक स्थान में वल्लभ संप्रदायवाले वैष्णवों के मुख्य उपास्य देवता श्रीनाथजी का मंदिर है। समस्त भारत के वैष्णव नाथद्वारे को अपना पवित्र तीर्थ मानकर यात्रार्थ यहां आते हैं और बहुत कुछ भेट चढ़ाते हैं। अन्य देवालयों के समान यहां दर्शन घंटों तक नहीं होते, किन्तु पुष्टिमार्ग ...यानुसार समय समय पर ही होते हैं, जिनको 'झांकी' कहते हैं। वल्लभ ... संस्थापक श्रीवल्लभाचार्यजी तैलंग जाति के सोमयाजी यज्ञनारायण

श्रीनाथजी

भट्ट के वंशज और लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १५३५ (ई० स० १४७८) में चम्पारण्य में हुआ था। इन्होंने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया और कई जगह शास्त्रार्थों में विजयी होकर शुद्धाद्वैत संप्रदाय का, जिसको वल्लभ संप्रदाय भी कहते हैं, प्रचार किया, और दिन दिन इस संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। गोवर्धन पर्वत पर इनको श्रीनाथजी की मूर्ति मिली थी, ऐसी प्रसिद्धि है। वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथजी को गुसाईं (गोस्वामी) की पदवी मिली तभी से उनकी संतान गुसाईं कहलाई। विट्ठलनाथजी के सात पुत्र हुए जिनके पूजन की मूर्तियां अलग अलग थीं। ये वैष्णवों में 'सात स्वरूप' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधरजी टीकायत (तिलकायत) थे इसी से उनके वंशज नाथद्वारे के गुसाईंजी टीकायत महाराज कहलाते हैं और श्रीनाथजी की मूर्ति गिरिधरजी के पूजन में रही। जब बादशाह औरंगज़ेब ने हिन्दुओं की मूर्तियां तोड़ने की आज्ञा दी, उस समय इस मूर्ति के तोड़े जाने के भय से उक्त गिरिधरजी महाराज के पुत्र दामोदरजी (बड़े दाऊजी) श्रीनाथजी की प्रतिमा को लेकर वि० सं० १७२६ (ई० स० १६६९) में गुप्त रीति से गोवर्धन से निकल गये और आगरा, बूंदी, कोटा, पुष्कर और कृष्णगढ़ में ठहरते हुए चांपासणी गांव में, जो जोधपुर से तीन कोस दूर है, पहुंचे, परन्तु जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह के अधिकारियों की दृढ़ता न देखकर गोस्वामीजी के काका गोपीनाथजी उदयपुर के महाराणा राजसिंह के पास आये और श्रीनाथजी के विषय में अपनी इच्छा प्रकट की, जिसपर महाराणा ने उत्तर दिया कि आप प्रसन्नतापूर्वक श्रीनाथजी को मेवाड़ में पधरावें। मेरे एक लाख राजपूतों के सिर कट जावेंगे उसके बाद औरंगज़ेब इस मूर्ति के हाथ लगा सकेगा। इसपर गोपीनाथजी बड़े प्रसन्न होकर चांपासणी को लौटे और वि० सं० १७२८ (ई० स० १६७१) कार्तिक सुदि १५ को वहां से प्रस्थान कर मेवाड़ की तरफ चले। जब मेवाड़ की सीमा में पहुंचे तो महाराणा पेशवाई कर श्रीनाथजी को ले आये और बनास नदी के किनारे सिहाड़ गांव के पासवाले खेड़े में वि० सं० १७२८ फाल्गुन वदि ७ को उनकी स्थापना हुई। वहां नया गांव बसने लगा, और दिन दिन उसकी उन्नति होते हुए अब एक अच्छा क़स्बा बन गया है, जिसमें ८५२४ मनुष्यों की बस्ती है। वर्तमान टीकायत महाराज गोस्वामीजी गोवर्धनलालजी हैं। इनके समय में नाथद्वारे की विशेष उन्नति हुई और कई बड़ी

बड़ी धर्मशालाएं बनीं, जिससे यात्रियों के ठहरने का सब तरह से सुबीता हो गया है। गोवर्धनलालजी महाराज ने नाथद्वारे में संस्कृत पाठशाला, अंग्रेज़ी तथा हिंदी के मदरसे, देशी औषधालय, अस्पताल, पुस्तकालय आदि स्थापित किये हैं और वे संस्कृत के कई विद्वानों को आदरपूर्वक अपने पास रखते हैं। सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् भारतमार्तण्ड पण्डित गट्टूलालजी को इन्होंने बड़े आग्रह के साथ कई बरसों तक नाथद्वारे में रक्खा था। आप बड़े ही विद्याप्रेमी, मिलनसार, गुणग्राहक और श्रीनाथजी की सेवा में तत्पर हैं। उदयपुर के महाराणा, राजपूताना एवं अन्य बाहरी राज्यों के राजाओं तथा बहुतसे सरदारों की तरफ से कई गांव, कुए आदि श्रीनाथजी के भेट किये गये हैं। गुसाईंजी महाराज को अपने इलाके में दीवानी तथा फौजदारी के नियमित अधिकार भी हैं।

कांकड़ोली

नाथद्वारे से १० मील उत्तर में राजसमुद्र के बांध के पास ही कांकड़ोली गांव बसा है। यहां वल्लभ संप्रदाय का द्वारिकाधीश (द्वारिकानाथजी) का मंदिर बना है। यहां की मूर्ति सात स्वरूपों में से एक होने के कारण यह भी वैष्णवों का एक तीर्थ है और नाथद्वारे आनेवाले वैष्णवों में से बहुतसे यहां भी दर्शनार्थ जाते हैं। औरंगज़ेब के भय से ही यह मूर्ति श्रीनाथजी से कुछ पहले मेवाड़ में लाई जाकर स्थापित की गई थी। यहां के गुसाईंजी महाराणाओं के वैष्णव गुरु हैं।

चारभुजा

कांकड़ोली से अनुमान १० मील पश्चिम के गड़बोर गांव में चारभुजा का प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर है। मेवाड़ तथा मारवाड़ आदि के बहुतसे लोग यात्रार्थ यहां आते हैं और भाद्रपद सुदि ११ को यहां बड़ा मेला होता है। यहां के पुजारी गूजर हैं। चारभुजा का मंदिर किसने बनवाया यह ज्ञात नहीं हुआ, परंतु प्राचीन देवालय का जीर्णोद्धार कराकर वर्तमान मंदिर वि० सं० १५०१ (ई० स० १४४४) में खरवड़ जाति के रा० (रावत या राव) महीपाल, उसके पुत्र लखमण (लक्ष्मण), उस (लक्ष्मण) की स्त्री दीमिणी तथा उसके पुत्र झांझा, इन चारों ने मिलकर बनवाया, ऐसा वहां के शिलालेख से पाया जाता है। उक्त लेख में इस गांव का नाम बदरी लिखा है और लोग चारभुजा को बदरीनाथ का रूप मानते हैं।

चारभुजा से अनुमान तीन मील पर सेवंत्री गांव में रूपनारायण का प्रसिद्ध विष्णु-मंदिर है। वहां भी यात्रा के लिये बहुतसे लोग दूर दूर से आते

रूपनारायण

हैं। इस मंदिर को वि० सं० १७०६ (ई० स० १६५२) में महाराणा जगत्सिंह (प्रथम) के राज्यसमय मेड़तिया राठोड़ चांदा के पौत्र और रामदास के पुत्र जगत्सिंह ने ५१००१ रुपये लगाकर, कोठारी कुंभा के द्वारा बनवाया था। पहले का मंदिर जीर्ण होकर उसका कुछ अंश नष्ट हो गया था, जिससे उसी के स्थान पर यह नया मंदिर बनवाया गया है।

कुंभलगढ़

नाथद्वारे से अनुमान २५ मील उत्तर में अर्वली की एक ऊंची श्रेणी पर कुंभलगढ़ का प्रसिद्ध क़िला बना हुआ है। समुद्र की सतह से इसकी ऊंचाई ३५६८ फुट है और महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) ने यह क़िला वि० सं० १५१५ (ई० स० १४५८) में बनवाया था, जिससे इसको कुंभलमेर (कुंभलमेरु) या कुंभलगढ़ कहते हैं। इस दुर्ग के स्मरणार्थ महाराणा कुंभा ने सिक्के भी बनवाये थे, जिनपर इसका नाम अंकित है। केलवाड़े के क़स्बे से पश्चिम में कुछ दूर जाकर ७०० फुट ऊंची नाल चढ़ने पर इस क़िले का 'आरेठ पोल' नामक दरवाज़ा आता है जहां राज्य का पहरा रहता है। यहां से अनुमान एक मील के अंतर पर हल्ला पोल है, जहां से थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर हनुमान पोल में पहुंचते हैं जहां महाराणा कुंभा की स्थापित की हुई एक हनुमान की मूर्ति है। फिर विजय पोल नामक दरवाज़ा आता है जहां कुछ भूमि समतल और कुछ नीची आ गई है, और यहीं से प्रारंभ होकर पहाड़ी की एक चोटी बहुत ऊंचाई तक चली गई है।

समान भूमि में हिन्दुओं तथा जैनों के कई मंदिर हैं, जिनमें से अधिकतर इस समय जीर्ण-शीर्ण दशा में पड़े हुए हैं। यहां पर नीलकंठ महादेव का एक मंदिर है, जिसके चारों ओर ऊंचे ऊंचे सुंदर स्तंभवाले बरामदे बने हुए हैं। इस तरह के बरामदेवाले मंदिर अन्यत्र देखने में नहीं आये। मंदिर की इस शैली को देखकर कर्नल टॉड ने इसको ग्रीक (यूनानी) मंदिर मान लिया है, परंतु वास्तव में इसमें ग्रीक शैली का कुछ भी काम नहीं है और न यह उतना पुराना ही कहा जा सकता है। दूसरा उल्लेखनीय स्थान 'वेदी' है। यह एक दुमंज़िला भवन है, जिसके उन्नत गुंबज़ के नीचे का भाग धुआं निकलने के लिये चारों ओर से खुला हुआ है। महाराणा कुंभा ने, जो शिल्पशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, इस यज्ञस्थान को शास्त्रोक्त रीति से बनवाया था। कुंभलगढ़ की प्रतिष्ठा का यज्ञ भी इसी वेदी पर हुआ था, और इस समय राजपूताने में प्राचीन काल के

यज्ञ-स्थानों का यही एक स्मारक देखने को रह गया है। पहले महाराणाओं के ठहरने योग्य कुंभलगढ़ पर कोई अच्छा महल न होने से वर्तमान महाराणा साहब ने इस यज्ञ-स्थान में इधर उधर चुनाई कराकर उपयुक्त स्थान बना लिया है। अब तो क़िले के सर्वोच्च भाग पर नये भव्य महल भी बन गये हैं, इसलिये क्या ही अच्छा हो कि महाराणा साहब वेदी के स्थान में बनवाये हुए चुनाई के नये काम को तुड़वाकर इस अद्वितीय स्थान को पीछा अपनी पूर्वस्थिति में परिणत कर दें।

नीचेवाली भूमि में झाली वाव (बावड़ी) और मामादेव का कुंड है। इसी कुंड पर बैठे हुए महाराणा कुंभा अपने ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह (ऊदा) के हाथ से मारे गये थे। इसी कुंड के निकट महाराणा कुंभा ने मामावट स्थान में कुंभस्वामी नामक विष्णु-मंदिर बनवाया था जो इस समय टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ है। उसके बाहरी भाग में विष्णु के अवतारों, देवियों, पृथ्वी, पृथ्वीराज, कुवेर आदि की कई मूर्तियां स्थापित की गई थीं और वहीं बड़ी बड़ी पांच शिलाओं पर खुदी हुई प्रशस्ति में उक्त राणा ने अपने समय तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली तथा उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय और अपनी भिन्न भिन्न विजयों का विस्तृत वर्णन अंकित कराया था। इन पांच शिलाओं में से तीन अर्थात् पहली, तीसरी और चौथी प्राप्त हो गई हैं जो मेवाड़ के इतिहास के लिये बड़े ही महत्त्व की हैं। मैंने इन शिलाओं को वहां से लाकर उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित कर दी हैं। बाकी की शिलाओं के लिये खुदाई करवाई तो मुझे दूसरी शिला के ऊपर का एक छोटासा टुकड़ा ही मिला। मामावट के निकट ही राणा रायमल के प्रसिद्ध पुत्र वीरवर पृथ्वीराज का दाहस्थान बना हुआ है।

पहाड़ी की जो चोटी विजय पोल से प्रारंभ होकर बहुत ऊंचाई तक चली गई है उसी पर क़िले का सबसे ऊंचा भाग बना हुआ है, जिसको कटारगढ़ कहते हैं। विजय पोल से आगे बढ़ने पर क्रमशः भैरव पोल, नींबू पोल, चौगान पोल, पागड़ा पोल और गणेश पोल आती हैं। गणेश पोल के सामने की समान भूमि में गुंबज़दार महल और देवी का स्थान था। यहां से कुछ सीढ़ियां और चढ़ने पर महाराणा उदयसिंह की राणी झाली का महल था, जिसको 'झाली का माळिया' कहते थे। वर्तमान महाराणा साहब ने गणेश पोल के सामने के पुराने महल आदि को गिरवाकर उनके स्थान में नये महल बनवाये हैं, जो बड़े ही भव्य

और ऊंचाई पर होने के कारण उष्ण काल में आबू के समान ही ठंडे रहते हैं। इस क़िले पर मुसलमानों की कई चढ़ाइयां और बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुईं, जिनका वृत्तान्त आगे यथाप्रसंग लिखा जायगा।

उदयपुर से अनुमान २० मील दक्षिण में जावर नाम का प्राचीन स्थान है। महाराणा लाखा के समय चांदी और सीसे की खान निकल आने से यहां की आबादी अच्छी बढ़ी। यहां पर कई जैन-मंदिर तथा 'जावर माता' नामक देवी का, और शिव एवं विष्णु के भी मंदिर हैं। जावर के दो विभाग हैं—नया जावर और पुराना जावर। महाराणा कुंभा की राजकुमारी रमाबाई, जो गिरनार (जूनागढ़, काठियावाड़ में) के राजा मंडलीक (चौथे) को ब्याही गई थी, पति से अनबन होने पर अपने भाई महाराणा रायमल के समय गिरनार से मेवाड़ में चली आई और जावर में रही। उसने यहां रमाकुंड नाम का एक विशाल जलाशय तथा उसके तट पर रामस्वामी नामक सुंदर विष्णु-मंदिर वि० सं० १५५४ (ई० स० १४९७) में बनवाया, ऐसा उसी मंदिर की दीवार में लगे हुए उक्त संवत् के शिलालेख से ज्ञात होता है। महाराणा रायमल का राजतिलक भी यहीं हुआ था। जब से चांदी की खान का काम बंद हुआ तभी से यहां की आबादी कम होती गई और अब तो नये जावर में थोड़ीसी बस्ती रह गई है, जिसमें अधिकतर भील इत्यादि ही हैं। महाराणा सज्जनसिंह ने चांदी की खान को फिर जारी करने का उद्योग किया था, परंतु मुनाफ़ा विशेष न रहने से काम बंद करना पड़ा। यह स्थान पर्वत-मालाओं के बीच आ गया है और एक ऊंची पहाड़ी के मध्य में 'जावर माळा' नामक स्थान है जहां महाराणा प्रताप अकबर के साथ की लड़ाइयों के समय कभी कभी रहा करते थे। वहीं पहाड़ी के भीतर जल का एक स्थान भी है।

जावर

उदयपुर से खैरवाड़े जानेवाली सड़क पर परसाद गांव से अनुमान ६ मील पूर्व में चावंड नाम का पुराना गांव है, जहां एक जैन-मंदिर भी है। गांव से अनुमान आध मील दूर की एक पहाड़ी पर महाराणा प्रताप के महल बने हुए हैं और उनके नीचे देवी का एक मंदिर है। यह स्थान विकट पहाड़ियों की श्रेणी के बीच आ गया है। महाराणा प्रताप का स्वर्गवास यहीं हुआ और यहां से अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर बंडोली गांव के पास बहनेवाले एक छोटेसे नाले के तट पर उक्त महाराणा का अग्निसंस्कार

चावंड

हुआ था, जहां उनके स्मारकरूप श्वेत पाषाण की आठ स्तंभवाली एक छोटीसी छत्री बनी हुई है, जो इस समय जीर्ण शीर्ण हो रही है और इसके गुंबज़ के सब पत्थर हिल रहे हैं; इसलिये यदि इस छत्री की मरम्मत न हुई तो कुछ ही वर्षों में यह टूटकर महाराणा प्रताप का यह स्मारक सदा के लिये लुप्त हो जायगा।

ऋषभदेव

उदयपुर से ३६ मील दक्षिण में खैरवाड़े की सड़क के निकट कोट से घिरे हुए धूलेव नामक क़स्बे में ऋषभदेव का प्रसिद्ध जैन मंदिर है। यहां की मूर्ति पर केसर[1] बहुत चढ़ाई जाती है, जिससे इनको केसरियाजी या केसरियानाथजी भी कहते हैं। मूर्ति काले पत्थर की होने के कारण भील लोग इनको 'काळाजी' कहते हैं। ऋषभदेव विष्णु के २४ अवतारों में से आठवें अवतार होने से हिन्दुओं का भी यह पवित्र तीर्थ माना जाता है। भारतवर्ष भर के श्वेतांबर तथा दिगंबर जैन एवं मेवाड़, मारवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, ईडर आदि राज्यों के शैव, वैष्णव आदि यहां यात्रार्थ आते हैं। भील लोग काळाजी को अपना इष्टदेव मानते हैं और उन लोगों में इनकी भक्ति यहां तक है कि केसरियानाथ पर चढ़े हुए केसर को जल में घोलकर पी लेने पर वे—चाहे जितनी विपत्ति उनको सहन करनी पड़े—झूठ नहीं बोलते।

हिंदुस्तान भर में यही एक ऐसा मंदिर है, जहां दिगंबर तथा श्वेतांबर जैन और वैष्णव, शैव, भील एवं तमाम सच्छूद्र स्नान कर समान रूप से मूर्ति का पूजन करते हैं। प्रथम द्वार से, जिसपर नक़ारख़ाना बना है, प्रवेश करते ही बाहरी परिक्रमा का चौक आता है; वहां दूसरा द्वार है, जिसके बाहर दोनों ओर काले पत्थर का एक एक हाथी खड़ा हुआ है। उत्तर की तरफ के हाथी के पास एक हवनकुंड बना है, जहां नवरात्रि के दिनों में दुर्गा का हवन होता है। उक्त के दोनों ओर के ताकों में से एक में ब्रह्मा की और दूसरे में शिव की मूर्ति है जो पीछे से बिठलाई गई हों ऐसा जान पड़ता है। इस द्वार से दस सीढ़ियां चढ़ने पर मंदिर में पहुंचते हैं और उन सीढ़ियों के ऊपर के मंडप में मध्यम क़द के हाथी पर बैठी हुई मरुदेवी की मूर्ति है। सीढ़ियों से आगे बाई ओर

(१) यहां पूजन की मुख्य सामग्री केसर ही है और प्रत्येक यात्री अपनी इच्छानुसार केसर चढ़ाता है। कोई कोई जैन तो अपने बच्चों आदि को केसर से तोलकर वह सारी केसर चढ़ा देते हैं। प्रातःकाल के पूजन में जलप्रक्षालन, दुग्धप्रक्षालन, अतरलेपन आदि होने के पीछे केसर का चढ़ना प्रारंभ होकर एक बजे तक चढ़ता ही रहता है।

'श्रीमद्भागवत' का चबूतरा बना है, जहां चातुर्मास में भागवत की कथा बंचती है। यहां से तीन सीढ़ियां चढ़ने पर एक मंडप आता है, जिसको, ९ स्तंभ होने के कारण, 'नौचौकी' कहते हैं। यहां से तीसरे द्वार में प्रवेश किया जाता है। उक्त द्वार के बाहर उत्तर के ताक में शिव की और दक्षिण के ताक में सरस्वती की मूर्ति स्थापित है। इन दोनों के आसनों पर वि० सं० १६७६ के लेख खुदे हैं। तीसरे द्वार में प्रवेश करने पर खेला मंडप (अंतराल) में पहुंचते हैं, वहां से आगे निजमंदिर (गर्भगृह) में ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित है। गर्भगृह के ऊपर ध्वजादंड सहित विशाल शिखर है, और खेला मंडप, नौचौकी तथा मरुदेवी-वाले मंडप पर गुंबज़ हैं। मंदिर के उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी पार्श्व में देवकुलिकाओं की पंक्तियां हैं जिनमें से प्रत्येक के मध्य में मंडप सहित एक एक मंदिर बना है। देवकुलिकाओं और मंदिर के बीच भीतरी परिक्रमा है।

इस मंदिर के विषय में यह प्रसिद्धि है कि पहले यहां ईंटों का बना हुआ एक जिनालय था, जिसके टूट जाने पर उसके जीर्णोद्धाररूप पाषाण का यह नया मंदिर बना। यहां के शिलालेखों से पाया जाता है कि इस मंदिर के भिन्न भिन्न विभाग अलग अलग समय के बने हुए हैं। खेला मंडप की दीवारों में लगे हुए दो शिलालेखों में से एक वि० सं० १४३१ वैशाख सुदि ३ बुधवार का है, जिसका आशय यह है कि दिगंबर सम्प्रदाय के काष्ठासंघ के भट्टारक श्रीधर्मकीर्ति के उपदेश से साह (सेठ) बीजा के बेटे हरदान ने इस जिनालय का जीर्णोद्धार करवाया। उसी मंडप में लगे हुए वि० सं० १५७२ वैशाख सुदि ५ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि, काष्ठासंघ के अनुयायी काछलू गोत्र के कड़िया पोइया और उसकी स्त्री भरमी के पुत्र हांसा ने धूलीव (धूलेव) गांव में श्रीऋषभनाथ को प्रणाम कर भट्टारक श्रीजसकीर्ति (यशकीर्ति) के समय मंडप तथा नौचौकी बनवाई। इन दोनों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गर्भगृह (निजमंदिर) तथा उसके आगे का खेला मंडप वि० सं० १४३१ में और नौचौकी तथा एक और मंडप वि० सं० १५७२ (ई० स० १५१५) में बने। देवकुलिकाएं पीछे से बनी हैं, क्योंकि दक्षिण की देवकुलिकाओं की पंक्ति के मध्य में मंडप सहित जो मंदिर[1] है उसके द्वार के समीप दीवार में लगे हुए शिलालेख से स्पष्ट है कि

(१) तीनों ओर की देवकुलिकाओं की पंक्तियों के मध्य में बने हुए मंडपवाले तीनों मंदिरों को वहां के पुजारी लोग नेमिनाथ के मंदिर कहते हैं, परंतु इस मं[...] शिलालेख

काष्ठासंघ के नदीतट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक श्रीसुरेंद्रकीर्त्ति के समय में बघेरवाल जाति के गोवालगोत्री संघवी (संघपति) आल्हा के पुत्र भोज के कुटुम्बियों ने यह मंदिर बनवाकर प्रतिष्ठा-महोत्सव किया[1]। इस मंदिर से आगे की देवकुलिका की दीवार में भी एक शिलालेख लगा हुआ है, जिसका आशय यह है कि वि० सं० १७५४ पौष वदि ५ को काष्ठासंघ के नदीतट गच्छ और विद्यागण के भट्टारक सुरेंद्रकीर्ति के उपदेश से हुंवड़ जाति की वृद्धशाखा-वाले विश्वेश्वरगोत्री साह आल्हा के वंशज सेठ भूपत के वंशवालों ने यह लघु प्रासाद बनवाया। इन चारों शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव के मंदिर तथा देवकुलिकाओं का अधिकांश काष्ठासंघ के भट्टारकों के उपदेश से उनके दिगंबरी अनुयायियों ने बनवाया था। शेष सब देवकुलिकाएं किसने बनवाईं, इस विषय का कोई लेख नहीं मिला।

ऋषभदेव की वर्तमान मूर्ति बहुत प्राचीन होने से उसमें कई जगह खड्डे पड़ गये थे, जिससे उनमें कुछ पदार्थ भरकर उनको ऐसे बना दिये हैं कि वे मालूम नहीं होते। यह प्रतिमा डूंगरपुर राज्य की प्राचीन राजधानी बड़ौदे (वटपद्रक) के जैन-मंदिर से लाकर यहां पधराई गई है। बड़ौदे का पुराना मंदिर गिर गया है और उसके पत्थर वहां वटवृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर चुने हुए हैं। ऋषभदेव की प्रतिमा बड़ी भव्य और तेजस्वी है; इसके साथ के विशाल परिकर में इंद्रादि देवता बने हैं और दोनों पार्श्व पर दो नग्न काउसगिये (कायोत्सर्ग स्थिति-वाले पुरुष) खड़े हुए हैं। मूर्ति के चरणों के नीचे छोटी छोटी ६ मूर्तियां हैं, जिनको लोग 'नवग्रह' या 'नवनाथ' बतलाते हैं। नवग्रहों के नीचे १६ सपने (स्वप्न[2]) खुदे हुए हैं, जिनके नीचे के भाग में हाथी, सिंह, देवी आदि की

इसके भीतर की मूर्ति के आसन पर के लेख से निश्चित है कि यह तो ऋषभदेव का ही मंदिर है। बाकी के दो मंदिर किन तीर्थंकरों के हैं, यह उनमें कोई लेख न होने से ज्ञात नहीं हुआ।

(१) यह शिलालेख प्राचीन जैन इतिहास के लिये बड़े काम का है, क्योंकि इसमें नदीतट गच्छ की उत्पत्ति तथा उक्त गच्छ के आचार्यों की क्रमपरंपरा दी हुई है।

(२) तीर्थंकर की गर्भवती माता जिन स्वप्नों को देखती है वे जैनों में बड़े पवित्र माने जाते हैं। उनमें हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, सूर्य, चंद्र आदि हैं। श्वेतांबर संप्रदाय-वाले ऐसे १४ स्वप्न और दिगंबर १६ मानते हैं। आबू पर देलवाड़े के एक श्वेतांबर मंदिर के द्वार पर १४ स्वप्न खुदे हुए हैं। जैन आचार्यों के पास पुस्तकों के छूटे पत्रों को हाथ में रखकर पढ़ने के लिये ऊपर की तरफ से आधे मुड़े हुए पुठ्ठों के रेशमी वस्त्र पर ज़री के

मूर्तियां और उनके नीचे दो बैलों के बीच देवी की एक मूर्ति बनी हुई है। निज-मंदिर की बाहरी पार्श्व के उत्तर और दक्षिण के ताकों तथा देवकुलिकाओं के पृष्ठभागों में भी नग्न मूर्तियां विद्यमान हैं।

मूलसंघ के बलात्कार गणवाले कमलेश्वरगोत्री गांधी विजयचंद ने वि० सं० १८६३ (ई० स० १८०६) में इस मंदिर के चौतरफ एक पक्का कोट बनवाया। वि० सं० १८८९ (ई० स० १८३२) में जैसलमेर के (उस समय उदयपुर के) निवासी ओसवाल जाति की वृद्ध शाखावाले बाफणागोत्री सेठ गुमानचंद के पुत्र बहादुरमल के कुटुंबियों ने प्रथम द्वार पर का नक्कारखाना बनवाकर वर्तमान ध्वजादंड चढ़ाया।

इस मंदिर के खेला मंडप में तीर्थंकरों की २२ और देवकुलिकाओं में ५४ मूर्तियां विराजमान हैं। देवकुलिकाओं में वि० सं० १७५६ की बनी हुई विजयसागर सूरि की मूर्ति भी है और पश्चिम की देवकुलिकाओं में से एक में अनुमान ६ फुट ऊंचा ठोस पत्थर का एक मंदिर-सा बना हुआ है जिसपर तीर्थंकरों की बहुतसी छोटी छोटी मूर्तियां खुदी हैं, इसको लोग 'गिरनारजी का बिंब' कहते हैं। उपर्युक्त ७६ मूर्तियों में से १४ पर लेख नहीं हैं। लेखवाली मूर्तियों में से ३८ दिगंबर सम्प्रदाय की और ११ श्वेतांबरों की हैं। शेष पर लेख अस्पष्ट होने या चूना लग जाने के कारण उनका ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सका। लेखवाली मूर्तियां वि० सं० १६११ से १८६३ तक की हैं और उनपर खुदे हुए लेख जैनों के इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं।

नौचौकी के मंडप के दक्षिणी किनारे पर पाषाण का एक छोटासा स्तंभ खड़ा है जिसके चारों ओर तथा ऊपर-नीचे छोटे छोटे १० ताक खुदे हैं। मुसलमान लोग इस स्तंभ को मसजिद का चिह्न मानते हैं और उसके नीचे की परिक्रमा में खड़े रहकर वे लोबान जलाते, शीरनी (मिठाई) चढ़ाते और धोक देते हैं[1]।

बने हुए ये स्वप्न भी देखने में आये और अन्यत्र इनके रंगीन चित्र भी मिल आते हैं।

(१) मुसलमान लोग मंदिरों को तोड़ देते थे, जिससे उनके समय के बने हुए बड़े मंदिरों आदि में उनका कोई पवित्र चिह्न इस अभिप्राय से बना दिया जाता था कि उसको देखकर वे उनको न तोड़ें। राणपुर के प्रसिद्ध मंदिर के एक भाग में छोटीसी मसज़िद की आकृति बनी हुई है; महाराणा कुंभा के बनवाये हुए चित्तोड़ के सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तंभ की एक मंज़िल के द्वार की दोनों तरफ श्वेत पाषाण के स्तंभों के मध्य में तीन तीन बार 'अल्लाह' शब्द उभड़े हुए सुंदर अरबी अक्षरों में अंकित है।

उदयपुर राज्य के अधिकार में जो विष्णु-मंदिर हैं, उनके समान यहां भी विष्णु के जन्माष्टमी, जलभूलनी आदि त्यौहार मंदिर की तरफ से मनाये जाते हैं। चौमासे में इस मंदिर में श्रीमद्भागवत की कथा होती है, जिसकी भेट के निमित्त राज्य की तरफ से ताम्रपत्र कर दिया गया है और ऋषभनाथजी के भोग के लिये एक गांव भी भेट हुआ था। मंदिर के प्रथम द्वार के पास खड़े हुए महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) के शिलालेख में वेगार की मनाई करने, ऋषभदेवजी की रसोई का काम नाथजी के सुपुर्द करने तथा उस संबंध का ताम्रपत्र अखेहजी नाथजी (भंडारी) के पास होने का उल्लेख है। पहले अन्य विष्णु-मंदिरों के समान यहां भोग भी लगता था और भोग तैयार होने के स्थान को 'रसोड़ा' कहते थे। अब तो इस मंदिर में पहले की तरह भोग नहीं लगता और भोग के स्थान में, भंडार की तरफ से होनेवाले स्नात्रपूजन में फल और सूखे मेवे आदि के साथ, कुछ मिठाई रख दी जाती है।

महाराणा साहब इस मंदिर में द्वितीय द्वार से नहीं, किंतु बाहरी परिक्रमा के पिछले भाग में बने हुए एक छोटे द्वार से प्रवेश करते हैं, क्योंकि दूसरे द्वार के ऊपर की छत में पांच शरीर और एक सिरवाली एक मूर्त्ति खुदी हुई है, जिसको लोग 'छत्रभंग' कहते हैं। इसी मूर्ति के कारण महाराणा साहब इसके नीचे होकर दूसरे द्वार से मंदिर में प्रवेश नहीं करते।

मंदिर का सारा काम पहले भंडारियों के अधिकार में था और इसकी सारी आमद उनकी इच्छानुसार खर्च की जाती थी, परंतु पीछे से राज्य ने मंदिर की आय में से कुछ हिस्सा उनके लिये नियत कर बाकी के रुपयों की व्यवस्था करने के लिये एक जैन कमेटी बना दी है और देवस्थान के हाकिम का एक नायब मंदिर के प्रबंध के लिये वहां रहता है।

मंदिर में पूजन करनेवाले यात्रियों के लिये नहाने-धोने का अच्छा प्रबंध है। पूजन करते समय स्त्री-पुरुषों के पहनने के लिये शुद्ध वस्त्र भी वहां हर वक्त तैयार रहते हैं और जिनको आवश्यकता हो उनको वे मिल सकते हैं। मंदिर एवं जैन धनाढ्यों की तरफ से कई एक धर्मशालाएं भी बन गई हैं, जिससे यात्रियों को धूलेव में ठहरने का बड़ा सुबीता रहता है। उदयपुर से ऋषभदेव तक का सारा मार्ग बहुधा भीलों ही की बस्तीवाले पहाड़ी प्रदेश में होकर निकलता है, परंतु वहां पक्की सड़क बनी हुई है और वर्तमान महाराणा

साहब ने यात्रियों के आराम के लिये ऋषभदेव के मार्ग पर काया, वारापाल तथा टिड्डी गांवों में पक्की धर्मशालाएं बनवा दी हैं। परसाद में भी पुरानी कच्ची धर्मशाला बनी हुई है। मार्ग निर्जन वन तथा पहाड़ियों के बीच होकर निकलता है तो भी रास्ते में स्थान स्थान पर भीलों की चौकियां बिठला देने से यात्रियों को लुट जाने का भय बिल्कुल नहीं रहा। प्रत्येक चौकी पर राज्य की तरफ से नियत किये हुए कुछ पैसे ही देने पड़ते हैं। ऋषभदेव जाने के लिये उदयपुर में बैलगाड़ियां तथा तांगे मिलते हैं और अब तो मोटरों का भी प्रबंध हो गया है।

बॉम्बे बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेल्वे की अजमेर से खंडवा जानेवाली शाखा पर चित्तोड़गढ़ जंक्शन से दो मील पूर्व में एक विलग पहाड़ी पर राजपूताने का ही नहीं वरन् भारत का सुप्रसिद्ध क़िला, चित्तोड़गढ़, बना हुआ है। राजपूत जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान है जहां असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक वार असिधारारूपी तीर्थ में स्नान किया और जहां कई राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त, धधकती हुई जौहर की अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वदेशप्रेमी हिन्दू संतान के लिये क्षत्रिय-रुधिर से सिंची हुई यहां की भूमि के रजकण भी तीर्थ-रेणु के तुल्य पवित्र हैं।

चित्तोड़गढ़

यह क़िला मौर्य वंश के राजा चित्रांगद ने बनवाया था जिससे इसको चित्रकूट (चित्तोड़) कहते हैं। विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के अंत में मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा ने राजपूताने पर राज्य करनेवाले मौर्य वंश के अंतिम राजा मान से यह क़िला अपने हस्तगत किया। फिर मालवे के परमार राजा मुंज ने इसे गुहिलवंशियों से छीनकर अपने राज्य में मिलाया। वि० सं० की बारहवीं शताब्दी के अन्त में गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) ने परमारों से मालवे को छीना, जिसके साथ ही यह दुर्ग भी सोलंकियों के अधिकार में गया। तदनन्तर जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को परास्त कर मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह ने वि० सं० १२३१ (ई० स० ११७४) के आसपास इस किले पर गुहिलवंशियों का आधिपत्य पीछा

जमा दिया। उस समय से आज तक यह इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग प्रायः—यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक मुसलमानों के अधीन भी रहा था—गुहिलवंशियों (सीसोदियों) के ही अधिकार में चला आता है।

चित्तोड़गढ़ जंक्शन से क़िले के ऊपर तक पक्की सड़क बनी हुई है। स्टेशन से रवाना होकर अनुमान सवा मील जाने पर गंभीरी नदी आती है, जिसपर अलाउद्दीन खिलजी के शाहज़ादे ख़िज़रखां का बनवाया हुआ पाषाण का एक सुदृढ पुल है। नदी का जल बहने के लिये इस पुल में दस महराब बने हैं, जिनमें से नौ के ऊपर के सिरे नुकीले और नदी के पश्चिमी तट से छठे का अग्रभाग अर्धवृत्ताकार है। अलाउद्दीन ख़िलजी ने महारावल रत्नसिंह के समय वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में यह दुर्ग विजय कर अपने पुत्र को यहां का हाकिम नियत किया, उस समय यह पुल बना था[1]।

पुल से थोड़ी दूर जाने पर कोट से घिरा हुआ चित्तोड़ का क़स्बा आता है जिसको 'तलहटी' (तलहट्टिका) कहते हैं। क़स्बे में ज़िले की कचहरी है जिसके पास से क़िले की चढ़ाई आरंभ होती है। सबसे पहले 'पाडल पोल' नामक क़िले का दरवाज़ा मिलता है, जिसके बाहर की तरफ़ एक चबूतरे पर प्रतापगढ़ के रावत बाघसिंह का स्मारक बना हुआ है। महाराणा विक्रमादित्य के राज्य-समय गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने वि० सं० १५९१ (ई० स० १५३४) में चित्तोड़ पर चढ़ाई की, उस समय बालक होने के कारण महाराणा क़िले से बाहर भेज दिये गये थे और बाघसिंह उनका प्रतिनिधि बनकर लड़ता हुआ इसी दरवाज़े के पास—जहां यह स्मारकरूप चबूतरा बना हुआ है—मारा गया था। थोड़ी दूर उत्तर में चलने पर भैरव पोल आती है, जिसके पास ही दाहिने हाथ की तरफ़ दो छत्रियां बनी हुई हैं। इनमें से पहली चार थंभोंवाली प्रसिद्ध राठोड़ जैमल के कुटुंबी कल्ला और इसके समीप ही ६ स्तंभवाली छत्री स्वयं जैमल की

(१) कुछ लोगों का कथन है कि राणा लक्ष्मणसिंह के पुत्र अरिसिंह ने, जो अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा गया था, इस पुल को बनवाया था (डॉक्टर जे० पी० स्ट्रैटन; 'चित्तोर ऐंड दी मेवार फ़ैमिली,' पृ० ६७); परन्तु यह कथन विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि अरिसिंह कभी चित्तोड़ का स्वामी नहीं हुआ। दूसरी बात यह है कि इस पुल का शिल्प हिन्दू शैली का नहीं, किन्तु मुसलमान (सारसेनिक्) शैली का है और कई हिन्दू एवं जैन मंदिरों को गिराकर उनके पत्थरों का इस पुल में उपयोग किया गया है, जो राजपूत लोग कभी नहीं करते।

है, जहां ये दोनों राठोड़ वीर मारे गये थे। वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में बादशाह अकबर ने चित्तोड़गढ़ पर चढ़ाई की, उस समय सीसोदिया पत्ता (प्रताप, आमेटवालों का पूर्वज) और मेड़तिया राठोड़ जैमल, दोनों, महाराणा उदयसिंह की अनुपस्थिति में दुर्ग के रक्षक नियुक्त हुए थे और अंतिम दिवस की लड़ाई में लड़ते हुए ये दोनों भिन्न भिन्न स्थानों में वीरोचित गति को प्राप्त हुए। इन छत्रियों से थोड़ी दूर पर हनुमान पोल आती है जहां से कुछ आगे जाकर सड़क दक्षिण की ओर मुड़ती है और इस मोड़ पर गणेश पोल बनी हुई है। गणेश पोल के आगे लक्ष्मण पोल के पास से सड़क फिर उत्तर की तरफ मुड़ जाती है और इस घुमाव पर ही जोड़ला पोल आती है। फिर कुछ दूर चलने से राम पोल नामक पश्चिमाभिमुख प्रवेश-द्वार में होकर किले पर पहुंच जाते हैं, जहां पहाड़ी की चढ़ाई समाप्त होकर समतल भूमि आती है।

राम पोल में प्रवेश करते ही सामने की तरफ एक चबूतरे पर उपर्युक्त सीसोदिये पत्ता के स्मारक का पत्थर खड़ा है, जहां वह लड़ता हुआ काम आया था। राम पोल में प्रवेश करने के बाद सड़क उत्तर में भी मुड़ती है। उधर थोड़ी ही दूर पर दाहिने हाथ की ओर कुकड़ेश्वर का कुंड आता है जिसके ऊपर के भाग में कुकड़ेश्वर का मंदिर बना हुआ है। आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर सड़क से कुछ दूर हिंगलू आहाड़ा के महल आते हैं[1]। ये महल महाराणा रत्नसिंह के

(१) बूंदी के वंशभास्कर नामक इतिहास तथा उसके सारांशरूप वंशप्रकाश में लिखा है कि 'वि० सं० १२९८ (ई० स० १२४१) में मीणों से देवीसिंह ने बूंदी ली। उसके छोटे भाइयों में से एक का पुत्र हिंगलू राणाजी के पास रहा तथा अलाउद्दीन के साथ के महाराणा के युद्ध में लड़ता हुआ वह मारा गया जिसके महल चित्तोड़ में हैं'। यह सारा कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि देवीसिंह ने महाराणा हम्मीरसिंह की सहायता से वि० सं० १४०० (ई० स० १३४३) के आसपास या उससे कुछ वर्ष पीछे मीणों से बूंदी ली थी और इन महलों से बूंदी के हाड़ा हिंगलू का कोई संबंध भी नहीं है। आहाड़ में रहने के कारण मेवाड़ के राजाओं का उपनाम 'आहाड़ा' हुआ और डूंगरपुर तथा बांसवाड़े के राजा भी आहाड़ा कहलाते रहे ("संवत् १५२० वर्षे शाके १३८६ प्रवर्त्तमाने वैशाप (ख) सुदि ३ तृतीयायां तिथौ सोमदिने रोहिणीनक्षत्रे आहडवंशोत्पन्न राउल श्री कर्मसिंहोद्भव राउल..."—डूंगरपुर राज्य के डेसां गांव का शिलालेख (जो अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है)। हिंगलू डूंगरपुर का आहाड़ा सरदार था और इन महलों में रहता था जिससे ये महल 'हिंगलू आहाड़ा के महल' कहलाये। पिछले समय में आहाड़ा नाम भूल जाने और बूंदीवालों के हाड़ा नाम प्रसिद्ध होने के कारण लोग इन महलों को 'हिंगलू

रहने के थे, जहां रत्नेश्वर का कुंड और मंदिर है। यहां से कुछ दूर चलने पर पहाड़ी के उत्तरी किनारे के निकट पहुंचते हैं, जहां से सड़क पूर्व की तरफ घूमती है। पहाड़ी के पूर्वी किनारे के समीप एक खिड़की बनी हुई है, जिसको 'लाखोटा की बारी' कहते हैं। यहां से राजटीले तक सड़क सीधी दक्षिण में चली गई है। मार्ग में पहले बाईं ओर सात मंज़िलवाला जैन कीर्तिस्तंभ आता है, जिसको दिगंबर संप्रदाय के बघेरवाल महाजन सा (साह, सेठ) नाय के पुत्र जीजा ने वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में बनवाया था। यह कीर्तिस्तंभ आदिनाथ का स्मारक है, इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक एक विशाल दिगंबर (नग्न) जैन मूर्ति खड़ी है और बाकी के भाग पर अनेक छोटी छोटी जैन मूर्तियां खुदी हुई हैं। इस कीर्तिस्तंभ के ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई और इस स्तंभ को भी बड़ी हानि पहुंची थी, परन्तु वर्तमान महाराणा साहब ने अनुमान ८०००० रुपये लगाकर ठीक वैसी ही छत्री पीछी बनवा दी और स्तंभ की भी मरम्मत हो गई है। जैन कीर्तिस्तंभ के पास ही महावीर स्वामी का मंदिर है, जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुंभा के समय वि० सं० १४६५ (ई० स० १४३८) में ओसवाल महाजन गुणराज ने कराया था; इस समय यह मंदिर टूटी-फूटी दशा में पड़ा हुआ है। आगे बढ़ने से नीलकंठ महादेव का मंदिर और उसके बाद सूरज पोल नामक क़िले का पूर्वी दरवाज़ा आता है, जहां से इस दुर्ग के नीचे मैदान में जाने के लिये एक रास्ता बना हुआ है। इस दरवाज़े के निकट सलूंबर के रावत साईंदास का चबूतरा है, जहां वह अकबर की लड़ाई के समय वीरता से लड़ता हुआ मारा गया था। यहां से दक्षिण की तरफ जाने पर दाहिनी ओर अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर आता है, जो महाराणा रायमल के राज्य-समय वि० सं० १५४० (ई० स० १४८३) में बना था। इसमें शिवलिंग और दीवार से सटी हुई शिवजी की एक विशाल त्रिमूर्ति है; इस अद्भुत प्रतिमा को देखकर लोगों ने इसका नाम अदबदजी (अद्भुतजी) रख दिया है। यहां से थोड़ी ही दूर पर राजटीला नामक एक ऊंचा

अलाउद्दीन के समय तो हिंगलू हाड़ा का जन्म भी नहीं हुआ था। खरतर गच्छ के यति कवि खेता ने वि० सं० १७४८ (ई० स० १६९१) में 'चित्तोड़ की ग़ज़ल' नामक पुस्तक लिखी जिसमें भी इन महलों को 'आहड़ु महल' कहा है—

आहड़ु महल अति ऊंचा कि। जाइ असमान कुं पोहचा कि॥११॥ ऐसा ही डॉक्टर स्ट्रैटन ने लिखा है ('चित्तोर ऐंड दी मेवार फ़ैमिली;' पृ० ७२)।

स्थान है जहां पहले मौर्यवंशी राजा मान के महल थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इस स्थान के पास से सड़क पश्चिम में मुड़ जाती है और सड़क के पश्चिमी सिरे के पास चित्रांगद मौर्य्य का निर्माण कराया हुआ तालाव है, जिसको 'चत्रंग' कहते हैं। यहां से अनुमान पौन मील दक्षिण में चित्तोड़ की पहाड़ी समाप्त होती है और उसके नीचे कुछ ही अंतर पर चित्तोड़ी नाम की एक छोटी पहाड़ी है। चत्रंग तालाव से सड़क उत्तर को जाती है।

उत्तर में थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर चहारदीवारी से घिरा हुआ एक छोटासा स्थान है, जिसको लोग 'भाक्सी' कहते हैं और इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है, कि मालवे का सुलतान उसमें क़ैद रहा था, परन्तु यह केवल कल्पना ही है, क्योंकि इस जगह रहने योग्य कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता। यहां से आगे कुछ अंतर पर पश्चिम की तरफ बूंदी, रामपुरा और सलूंबर की हवेलियों के खंडहर थोड़ीसी ऊंचाई पर दीख पड़ते हैं। इनके पूर्व में पुराना चौगान आ गया है, जहां पहले सेना की क़वायद हुआ करती थी, और इसको लोग 'घोड़े दौड़ाने का चौगान' कहते हैं। इसके समीप एक जलाशय के किनारे पर रावल रत्नसिंह की राणी पद्मिनी के महल बने हुए हैं। एक छोटा महल तालाव के भीतर भी है, जहां पहुंचने के लिये किश्ती की आवश्यकता रहती है। उक्त महलों से दक्षिण-पूर्व में दो गुंवज़दार मकान हैं जिनको वहां के लोग 'गोरा और बादल के महल' कहते हैं, परन्तु उनकी बनावट तथा वर्तमान दशा देखते हुए उनको इतने पुराने नहीं मान सकते। पद्मिनी के महलों से उत्तर में बाईं ओर कालिका माता का सुन्दर, विशाल और ऊंची कुरसीवाला एक मंदिर है, जिसके थंभों, छतों तथा निजमंदिर के द्वार पर की खुदाई का सुंदर काम देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह मंदिर वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास का बना हुआ हो। वास्तव में यह कालिका का नहीं, किन्तु सूर्य का मंदिर था, ऐसा निजमंदिर के द्वार पर की सूर्य की मूर्ति, तथा गर्भगृह के बाहरी पार्श्व के ताकों में स्थापित सूर्य की मूर्तियों से निश्चय होता है। संभव है कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं ने यह मंदिर बनवाया हो। मुसलमानों के समय में यहां की मूर्ति तोड़ दी गई और बरसों तक यह मंदिर सूना पड़ा रहा, जिससे पीछे से इसमें कालिका की मूर्ति स्थापित की गई है। महाराणा सज्जनसिंह ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। इस मं[illegible] उत्त[illegible] में एक

बना हुआ है, जिसको सूरजकुंड कहते हैं। यहां से आगे पत्ता और जैमल की हवेलियां हैं। जैमल की हवेली से पूर्व में एक तालाव है जो 'जैमलजी का तालाव' कहलाता है। इस जलाशय के तट पर बौद्धों के ६ स्तूप खड़े थे, जो इस समय तोपखाने के मकान के पास पड़े हुए हैं। इन स्तूपों से अनुमान होता है कि उक्त तालाव के निकट प्राचीन काल में बौद्धों का कोई मंदिर या तीर्थ-स्थान अवश्य होगा। इस तालाव से आगे पूर्व में हाथी कुंड और पश्चिम में 'गोमुख' नाम का प्रसिद्ध तीर्थ है, जहां दो दालानों में तीन जगह गोमुखों से शिवलिंगों पर जल गिरता है और प्रथम दालान में द्वार के सामने विष्णु की एक विशाल मूर्ति खड़ी हुई है। इन दालानों के सामने ही गोमुख नामक निर्मल जल का सुविशाल कुंड है, जहां लोग स्नान करते हैं। गोमुख के निकट महाराणा रायमल के समय का बना हुआ एक छोटासा जैन मंदिर है, जिसकी मूर्तिं दक्षिण से यहां लाई गई थी, क्योंकि उस मूर्ति के ऊपर प्राचीन कनड़ी लिपि का लेख है और नीचे के भाग में उस मूर्ति की यहां प्रतिष्ठा किये जाने के संबंध में वि० सं० १५४३ का लेख पीछे से नागरी लिपि में खोदा गया है। गोमुख के कुंड के उत्तरी छोर पर समिद्धेश्वर (समाधीश्वर, शिव) का भव्य प्राचीन मंदिर है, जिसके भीतरी और बाहरी भाग में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर बना है। मालवे के सुप्रसिद्ध विद्यानुरागी परमार राजा भोज ने इस मंदिर को निर्माण कराया था और उसके बिरुद 'त्रिभुवननारायण' पर से इसको त्रिभुवननारायण का शिवालय और भोजजगती (भोज का मंदिर) भी कहते थे, ऐसा उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। इसके गर्भगृह (निजमंदिर) के नीचे के भाग में शिवलिंग और पीछे की दीवार में शिव की विशाल त्रिमूर्ति बनी हुई है, जिसकी अद्भुत आकृति के कारण लोग इसको अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर कहते हैं। चित्तोड़ पर यह दूसरा प्राचीन मंदिर है। महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में इसका जीर्णोद्धार करवाया जिससे इसको लोग 'मोकलजी का मंदिर' भी कहते हैं। अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) को परास्त कर गुजरात का सोलंकी राजा कुमारपाल चित्तोड़ देखने आया था। उसने यहां पूजन किया और एक गांव इस मंदिर को भेंट कर वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में यहां अपना शिलालेख लगाया जो अब तक विद्यमान है। मंदिर के साथ ही एक मठ भी बना था जो टूटी-फूटी दशा में अब भी दीख पड़ता है। इस मंदिर

और महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ के बीच चित्तोड़ के राजाओं का दाह-स्थान (महासती) है, जिसके चारों ओर रावल समरसिंह ने एक बड़े द्वार सहित कोट बनवाया था, और दो बड़ी बड़ी शिलाओं पर प्रशस्ति खुदवाकर उसके द्वार में लगाई थी, जिनमें से पहली शिला वहां विद्यमान है, परंतु दूसरी नष्ट हो जाने के कारण उसका स्थान खाली पड़ा हुआ है।

पास ही महाराणा कुंभा का बनवाया हुआ विशाल कीर्तिस्तंभ खड़ा है जो भारतवर्ष में अपने ढंग का एक ही स्तंभ है। उपर्युक्त जैन कीर्तिस्तंभ से यह अधिक ऊंचा और चौड़ा होने तथा प्रत्येक मंज़िल में झरोके बने हुए होने से इसके भीतरी भाग में प्रकाश भी काफी रहता है। इसमें जनार्दन, अनंत आदि विष्णु के भिन्न भिन्न रूपों एवं अवतारों की, तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव, भिन्न भिन्न देवियों, अर्धनारीश्वर (आधा शरीर पार्वती का और आधा शिव का), उमामहेश्वर, लक्ष्मीनारायण, ब्रह्मासावित्री, हरिहर (आधा शरीर विष्णु और आधा शिव का), हरिहरपितामह (विष्णु, शिव और ब्रह्मा तीनों एक मूर्ति में), ऋतु, आयुध (शस्त्र), दिक्पाल तथा रामायण और महाभारत के पात्रों आदि की सैकड़ों मूर्तियां खुदी हुई हैं। वास्तव में यह हिन्दुओं के पौराणिक देवताओं का एक अमूल्य कोश है और साथ ही इसमें विशेषता यह है कि प्रत्येक मूर्त्ति के ऊपर या नीचे उसका नाम खुदा हुआ है। इसलिये प्राचीन मूर्तियों का ज्ञान संपादन करनेवालों के लिये यह एक अपूर्व साधन है। मैंने अनेक वार इस कीर्तिस्तंभ में बैठकर प्राचीन मूर्तियों के संबंध की अपनी शंकाएं निवृत्त की हैं। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १५०५ माघ वदि १० को हुई थी, और इसका प्रारंभ वि० सं० १४९७ में होना चाहिये। इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि वि० सं० १४९७ (ई० स० १४४०) में मालवे के सुलतान महमूद शाह खिलजी को प्रथम वार परास्त कर उसकी यादगार में राणा कुंभा ने अपने इष्टदेव विष्णु के निमित्त यह कीर्तिस्तंभ बनवाया था। इसके ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई थी जिससे महाराणा सरूपसिंह ने उसकी मरम्मत करवाई। कीर्तिस्तंभ से उत्तर में जटाशंकर नामक शिवालय है और थोड़े ही अंतर पर महाराणा कुंभा का निर्माण कराया हुआ विष्णु के वराह अवतार का कुंभस्वामी (कुंभश्याम) नामक भव्य मंदिर बना हुआ है, जिसको लोग भ्रम से 'मीरांबाई का मंदिर' कहते हैं। यह मंदिर भी वि० सं० १५०५

(ई० स० १४४६) में बना था। यहां से आगे जाने पर पुराने महलों का 'बड़ी पोल' नामक द्वार आता है। इस द्वार से पूर्व में कई एक जैन-मंदिर टूटी-फूटी दशा में खड़े हैं और उनमें से 'सतवीस देवळां' (सत्ताईस मंदिर) नामक जिनालय में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर हुआ है। इसी के पास आजकल वर्तमान महाराणा साहब के नये महल बन रहे हैं। बड़ी पोल में प्रवेश कर आगे बढ़ने पर त्रिपोलिया नामक एक दूसरा दरवाज़ा मिलता है, जिसके भीतर महाराणा कुंभा के बनवाये हुए पुराने राजमहल भग्नावस्था में विद्यमान हैं। महाराणा सज्जनसिंह ने इनके जीर्णोद्धार का कार्य आरंभ किया था, परंतु उनके समय में थोड़ा ही काम बन सका। इन्हीं महलों में एक तहखाना बना हुआ है, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यहां से प्रारंभ होकर एक सुरंग गोमुख तक चली गई है और ऐसा भी कहते हैं कि इसी के भीतर जौहर हुए थे; परंतु ये दोनों कथन सर्वथा कल्पित हैं, क्योंकि इसकी जांच करने के लिये रोशनी लेकर तहखाने के भीतर जाने पर मुझे मालूम हुआ कि यह सुरंग नहीं, किंतु एक तहखाना मात्र है जहां से आगे कोई मार्ग नहीं है। इसी तरह जौहर की अग्नि प्रज्वलित करने के लिये भी इसमें कोई गुंजाइश नहीं है। यह अभी तक अनिश्चित है कि जौहर किस स्थान में हुए, परन्तु पुराने राजमहलों और गोमुख के बीच किसी स्थान में उनका होना संभव है।

इन महलों के निकट उत्तर की तरफ सुंदर खुदाई के कामवाला एक छोटा-मंदिर है जिसको सिंगारचौरी (शृंगारचौरी) कहते हैं। इसके मध्य में एक छोटीसी वेदी पर चार स्तंभवाली छत्री बनी हुई है। लोग कहते हैं कि यहां पर राणा कुंभा की राजकुमारी का विवाह हुआ था, जिसकी यह चौरी है। वास्तव में इतिहास के अंधकार में इस कल्पना की सृष्टि हुई है, क्योंकि इसके एक स्तंभ पर खुदे हुए वि० सं० १५०५ (ई० स० १४४८) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि राणा कुंभा के भंडारी (कोषाध्यक्ष) वेलाक ने जो साह केल्हा का पुत्र था, शान्तिनाथ का यह जैन-मंदिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के आचार्य जिनसेनसूरि ने की थी। जिस स्थान को लोग चौरी बतलाते हैं वह वास्तव में उक्त मूर्ति की वेदी है और संभव है कि मूर्ति चौमुख (जिसके चारों ओर एक एक मूर्ति होती है) हो। शृंगारचौरी से थोड़ी

दूर पर नवलक्खा (या नवकोठा) नामक स्थान है; कहते हैं कि इसे राणा वनवीर ने भीतरी क़िला वनाने के विचार से एक विशाल बुर्ज सहित वनवाया था। इसी के निकट तोपखाने का नया मकान वना है, जहां इस क़िले की बुर्जों पर की छोटी वड़ी तोपें एकत्र कर रक्खी हुई हैं। महलों के पास से सड़क मुड़कर उत्तर में राम पोल दरवाज़े तक पहुंच जाती है। पत्ता के चवूतरे के पास से उत्तर की तरफ एक गली जाती है, उधर भी अन्नपूर्णा देवी आदि के कुछ मंदिर वने हुए हैं।

चित्तोड़ का दुर्ग समुद्र की सतह से १८५० फुट ऊंचाईवाली सवा तीन मील लंबी और अनुमान आध मील चौड़ी उत्तर-दक्षिण-स्थित एक पहाड़ी पर वना हुआ है और तलहटी से क़िले की ऊंचाई ५०० फुट है। पहाड़ी के ऊपरी भाग में समान भूमि आ जाने के कारण वहां कई एक कुंड, तालाव, मंदिर, महल, आदि वने हुए हैं और कुछ जलाशय तो दुष्काल में भी नहीं सूखते। पहले इस दुर्ग पर आवादी वहुत थी, परंतु अव तो पहाड़ी के पश्चिमी सिरे के पास अनुमान २०० घरों की ही वस्ती रह गई है और शेष सव मकानों के गिर जाने से इस समय वहां खेती हुआ करती है।

चित्तोड़ में कई वड़ी वड़ी लड़ाइयां हुईं, असंख्य क्षत्रियों का रक्तपात हुआ और तीन वार जौहर भी हुए, जिनमें सैकड़ों राजपूत रमणियों ने जीते-जी अग्नि-प्रवेश किया। इन कई घटनाओं से चित्तोड़ एक इतिहास-प्रसिद्ध स्थान है और कालान्तर में इसकी वहुत प्रसिद्धि हुई, परंतु वास्तव में देखा जाय तो युद्ध के लिये रणथंभोर, कुंभलगढ़ आदि दुर्गों के जैसा उपयुक्त स्थान यह नहीं है। पहाड़ी के किनारे किनारे सीधे खड़े हुए ऊंचे ऊंचे चट्टानों की एक पंक्ति आ गई है, जिसके ऊपर चौतरफ एक ऊंचा और सुदृढ प्राकार वना हुआ होने के कारण प्राचीन काल में शत्रु के लिये सीढ़ियों की सहायता से चढ़कर अथवा लड़कर इस क़िले को लेना अत्यंत कठिन कार्य था, परंतु विस्तीर्ण मैदान में एक पृथक् पहाड़ी पर वना हुआ होने के कारण शत्रु वड़ी सुगमता से पहाड़ी का घेरा डालकर क़िले में रहनेवालों के लिये रसद का पहुंचना शीघ्र रोक सकता था। इस दुर्ग का जव जव घेरा डाला गया तभी गढ़ में भोजन-सामग्री विद्यमान रहने तक ही गढ़ रक्षकों के अधीन रहा, और जव भोजन की सामग्री शेष न रही तव राजपूतों को विवश दुर्ग के द्वार खोलकर शत्रु-सेना

से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। राजपूतों के अदम्य उत्साह तथा बड़ी धीरता से लड़ने पर भी शत्रुओं की संख्या कहीं अधिक होने से अंत में सब रक्षकों के वीरगति पाने पर गढ़ शत्रुओं के अधिकार में चला गया। इसका पुराना कोट जीर्ण-शीर्ण हो गया था जिससे महाराणा सज्जनसिंह ने कई हज़ार रुपये सालाना इसपर लगाना निश्चय कर नये सिरे से एक सुदृढ प्राकार बनवाना प्रारंभ किया, जिसका काम अभी तक जारी है और उसका बहुतसा हिस्सा बन चुका है; इससे क़िले की मज़बूती और भी बढ़ गई है, परंतु इस समय तो बड़ी बड़ी तोपों तथा वायुयान आदि पाश्चात्य यंत्र-साधनों का प्रचार होने से संसार के प्रायः सभी क़िले निरुपयोगी हो रहे हैं।

नगरी

चित्तोड़ के क़िले से ७ मील उत्तर में नगरी नाम का अति प्राचीन स्थान बेदले के चौहान सरदार की जागीर के अंतर्गत है। यह भारतवर्ष के प्राचीन नगरों में से एक था, जिसके खंडहर दूर दूर तक दीख पड़ते हैं और यहां से कितने एक प्राचीन शिलालेख तथा सिक्के मिले हैं। इसकी पश्चिम तरफ़ बेड़च नदी बहती है, जिसके निकट बड़े बड़े पत्थरों से बने हुए, कोट से घिरे हुए, राजप्रासाद का होना अनुमान किया जाता है। इस स्थान में घड़े हुए बड़े बड़े पत्थरों के ढेर जगह जगह पड़े हैं और हज़ारों गाड़ियां भरकर यहां के पत्थर लोग दूर दूर तक ले गये और वहां उनसे बावड़ी, महलों के कोट आदि बनाये गये। महाराणा रायमल की राणी शृंगारदेवी की बनवाई हुई घोसुंडी गांव की बावड़ी भी नगरी से ही पत्थर लाकर बनाई गई है। नगरी का प्राचीन नाम मध्यमिका था। बर्ली गांव (अजमेर ज़िले में) से मिले हुए वीर संवत् ८४ (वि० सं० पूर्व ३८६=ई० स० पूर्व ४४३) के शिलालेख में मध्यमिका का उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में मध्यमिका पर यवनों (यूनानियों, मिनैंडर) के आक्रमण का उल्लेख किया है। वहां से मिलनेवाले शिलालेखों में से तीन वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास की लिपि में हैं। इनमें से एक पर दो पंक्तियों में कुछ अक्षर हैं, जिनका आशय यह है कि 'सर्व भूतों (जीवों) की दया के निमित्त......बनवाया'। संभवतः यह लेख बौद्धों या जैनों से संबंध रखता हो। ठीक उसी लिपि का दूसरा शिलालेख उपर्युक्त घोसुंडी गांव की बावड़ी बनाने के लिये यहां से जो पत्थर ले गये उनके साथ वहां पहुंचा और एक मामूली पत्थर के समान वह चुनाई में लगा दिया गया। वह

दोनों ओर से खंडित है और उसपर बड़े बड़े अक्षरों की तीन पंक्तियां खुदी हैं। पहली पंक्ति का आशय 'पाराशरी पुत्र गाजायन ने'; दूसरी का, 'भगवान् संकर्षण और वासुदेव के निमित्त' तथा तीसरी का 'पूजा के निमित्त नारायण वट [स्थान] पर शिलाप्राकार बनवाया' है। इससे पाया जाता है कि वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास विष्णु की पूजा होती थी और उनके मंदिर भी बनते थे।

उसी लिपि के तीसरे लेख का एक छोटा टुकड़ा घोसुंडी और बसी गांवों की सीमा पर मिला, जिसपर एक ही पंक्ति है और उसमें '[ते]न सर्वतातेन अश्वमेध' (उस सर्वतात ने अश्वमेध—यज्ञ किया) शब्द खुदे हुए हैं। अश्वमेध यज्ञ बड़े राजा ही करते थे, अतएव सर्वतात यहां का कोई बड़ा राजा होना चाहिये। वि० सं० की चौथी शताब्दी की लिपि का दोनों किनारों से टूटा हुआ एक लेख का टुकड़ा नगरी से मिला है। उसपर के लेख से ज्ञात होता है कि यहां········ने वाजपेय यज्ञ किया था, और उसके पुत्रों ने उसका यूप (यज्ञस्तंभ) खड़ा करवाया था। मालव (विक्रम) संवत् ४८१ का एक पांचवां शिलालेख भी यहां से मिला है जिसमें एक विष्णुमंदिर के बनने का उल्लेख है। यह इस समय राजपूताना म्यूज़ियम् में सुरक्षित है।

गांव से थोड़े ही अंतर पर 'हाथियों का वाड़ा' नाम का एक विस्तृत स्थान है, जिसकी चहारदीवारी बहुत लंबे, चौड़े और मोटे तीन तीन पत्थर एक एक के ऊपर रखकर बनाई गई है। ऐसे विशाल पत्थरों को उठाकर एक दूसरे पर रखना भी सहज काम नहीं है। संभव है कि उपर्युक्त दूसरे शिलालेख का 'शिलाप्राकार' इसी स्थान का सूचक हो। यहां से कुछ दूर बड़े बड़े पत्थरों से बनी हुई एक चतुरस्र मीनार है, जिसको लोग 'ऊभदीवट' कहते हैं और उसके संबंध में कहा जाता है कि बादशाह अकबर ने चित्तोड़ पर चढ़ाई की उस समय इस मीनार पर रोशनी की जाती थी। यह कथन सत्य हो वा असत्य, परंतु इस मीनार के लिये पत्थर उक्त हाथियों के वाड़े से ही तोड़कर ले जाये गये थे, ऐसा स्पष्ट दीख पड़ता है। नगरी के निकट तीन स्तूपों के चिह्न भी मिलते हैं और वर्तमान गांव के भीतर माताजी के खुले स्थान में प्रतिमा के सामने एक सिंह की प्राचीन मूर्ति ज़मीन में कुछ गड़ी हुई है; पास ही चार बैलों की मूर्तियोंवाला एक चौखूंटा बड़ा पत्थर रक्खा हुआ है। ये दोनों प्राचीन

विशाल स्तंभों के ऊपर के सिरे होने चाहियें।

मांडलगढ़

उदयपुर से १०० मील उत्तर-पूर्व में मांडलगढ़ का क़िला है, जिसको किसने बनवाया यह अभी तक अनिश्चित है। इसके संबंध में जनश्रुति तो यह है कि 'मांडिया नामी भील को बकरी चराते समय पारस नाम का पत्थर मिला जिसपर उसने अपना तीर घिसा तो वह सुवर्ण का हो गया। यह देखकर उस पत्थर को वह चांनणा नामक गूजर के पास ले गया, जो वहां अपने पशु चरा रहा था, और उससे कहा कि इस पत्थर पर घिसने से मेरा तीर खराब हो गया है। चांनणा उस पत्थर की करामात को समझ गया, जिससे उसने मांडिया से उसे ले लिया और उसके द्वारा धनाढ्य हो जाने पर उसने यह क़िला बनवाकर मांडिया के नाम से इसका नाम 'मांडलगढ़' रक्खा'। यह दंतकथा कल्पनामात्र प्रतीत होती है। एक शिलालेख में इसको 'मंडलाकृति (वृत्ताकार) गढ' कहा है[1], अतएव संभव है कि इसकी आकृति मंडल (वृत्त) के समान होने से ही इसका नाम मंडलगढ़ (मांडलगढ़) प्रसिद्ध हुआ हो।

यह क़िला पहले अजमेर के चौहानों के राज्य में था और संभव है कि उन्होंने ही इसे बनवाया हो। जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर का राज्य सम्राट् पृथ्वीराज के भाई हरिराज से छीना तब इस क़िले पर मुसलमानों का अधिकार हुआ, परंतु थोड़े ही समय बाद हाड़ौती के चौहानों ने इसे मुसलमानों से छीन लिया और जब हाड़ों को महाराणा खेता (क्षेत्रसिंह) ने अपने अधीन किया तभी यह दुर्ग मेवाड़ के अधिकार में आया। फिर बीच में कई बार मुसलमानों ने सीसोदियों से इसे लेकर दूसरों को भी दे दिया, परंतु मेवाड़वाले पीछा इसे लेते ही रहे जिसका विवरण आगे यथाप्रसंग लिखा जायगा।

यह गढ़ समुद्र की सतह से १८५० फुट ऊंची पहाड़ी के अग्रभाग पर बना है और इसके चारों ओर अनुमान आध मील लंबाई का बुर्जों सहित कोट बना हुआ है। क़िले से उत्तर की ओर अनुमान आध मील से भी कम

(१) *सोपिक्षेत्रमहीभुजा निजभुजप्रौढप्रतापादहो*
भग्नो विश्रुतमंडलाकृतिगढो जित्वा समस्तानरीन् ॥ ७ ॥
(शृंगी ऋषि के स्थान का वि० सं० १४८५ का अप्रकाशित शिलालेख।

अंतर पर एक पहाड़ी (नकटी का चौड़, वीजासण) आ गई है, जो क़िले के लिये हानिकारक है। गढ़ में सागर और सागरी नाम के दो जलाशय हैं, जिनका जल दुष्काल में सूख जाया करता था, इसलिये वहां के अध्यक्ष (हाकिम) महता अगरचंद ने सागर में दो कुए खुदवा दिये, जिनमें जल कभी नहीं टूटता। यह क़िला कुछ समय तक वालनोत सोलंकियों की जागीर में भी रहा था। यहां ऋषभदेव का एक जैन-मंदिर, ऊंडेश्वर और जलेश्वर के शिवालय, अलाउद्दीन नामक किसी मुसलमान अफसर की क़ब्र और किशनगढ़ के राठोड़ रूपसिंह के, जिसके अधिकार में बादशाह की तरफ से कुछ समय तक यह क़िला रहा था, महल भी हैं।

जहाज़पुर उक्त नाम के ज़िले का मुख्य स्थान तथा मेवाड़ के पुराने स्थलों में से एक है। लोगों का कथन है कि राजा जनमेजय ने नागों को होमने का यज्ञ यहीं किया था, जिससे इसका नाम 'यज्ञपुर' हुआ और उसका अपभ्रंश 'जाजपुर' (जहाज़पुर) है। इस क़स्बे से अग्नि कोण में अनुमान डेढ़ मील के अंतर पर नागेला तालाव है, जिसके बांध पर जनमेजय के यज्ञ का होना माना जाता है। उक्त तालाव से नागदी नाम की एक छोटी नदी निकल कर जहाज़पुर के क़स्बे के पास बहती है। इस नदी के पूर्वी किनारे पर १२ मंदिर एक स्थान में बने हुए हैं, जिनको 'बारा देवळां' कहते हैं। इन मंदिरों के विषय में यह दंतकथा है कि राजा जनमेजय ने यहां सोमनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा अपने हाथ से की थी। यह दंतकथा विश्वास के योग्य नहीं है, परंतु इतना अवश्य है कि सोमनाथ का देवालय प्राचीन एवं तीर्थ-स्थान माना जाता है, क्योंकि वहां एक चबूतरे पर खड़े हुए, गोहिल नामक पुरुष के, स्मारक-स्तंभ पर वि० सं० १०८५ फाल्गुन वदि १३ को उसका स्वर्गवास होना लिखा है।

जहाज़पुर

जहाज़पुर के आसपास के प्रदेश में कई प्राचीन स्थान हैं, जहां चौहानों के शिलालेख मिलते हैं। उक्त क़स्बे से ७ मील दूर अग्नि कोण में धोड़ गांव है जहां रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर वि० सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ का अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट) का लेख खुदा है। उक्त लेख में पृथ्वीराज की राणी का नाम सुहवदेवी लिखा है, जो रूठी राणी के नाम से लोगों में प्रसिद्ध है। दूसरे स्तंभ पर चौहान राजा सोमेश्वर के दो लेख खुदे हैं, जिनमें से एक वि० सं० १२२८ ज्येष्ठ सुदि १० का और दूसरा सं० १२२८

श्रावण सुदि १२ का है।

जहाज़पुर से ८ मील पर लोहारी गांव के बाहर भूतेश्वर का शिवालय है, जिसके स्तंभ पर चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज चौथे) के समय का वि० सं० १२११ का लेख खुदा है। उसी मंदिर के बाहर एक सती का स्तंभ खड़ा हुआ है जिसके लेख से पाया जाता है कि 'वि० सं० १२३६ आषाढ वदि १[२] को पृथ्वीराज (चौहान पृथ्वीराज, तीसरे) के राज्य-समय वागड़ी सलखण के पुत्र जलसल का यह स्मारक उसकी माता काल्ही ने स्थापित किया था'। यह स्तंभ मैंने उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित किया है।

जहाज़पुर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम में आंवलदा गांव है, जिसके बाहर एक कुंड के पास सती के स्तंभ पर दो लेख खुदे हुए हैं, जिनमें से एक वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ का महाराजाधिराज श्रीसोमेश्वरदेव के राज्य-समय का है; उसमें डोड (डोड़िया) रा (राव या रावत) सिंघरा (सिंहराज) के पुत्र सिंदराउ (सिंदराज) की मृत्यु का उल्लेख है। दूसरा वि० सं० १२४५ फाल्गुन सुदि ११ का महाराजाधिराज पृथ्वीराज (पृथ्वीराज तृतीय) के समय का है, जिसमें डूड (डोड़िया) रा जेहड की मृत्यु का उल्लेख है।

बीजोल्यां

बीजोल्यां परमार सरदार की जागीर का मुख्य स्थान है, जिसका पुराना नाम यहां के शिलालेखों में 'विंध्यवल्ली' मिलता है, और इसी शब्द का अपभ्रंश 'बीजोल्यां' हुआ है। पहले यहां पर कई मंदिर थे जो जीर्ण होकर गिर जाने से उनके बहुतसे पत्थर बीजोल्यां के क़स्बे का कोट बनाने में लगा दिये गये। अब भी जो मंदिर यहां विद्यमान हैं वे अपनी प्राचीनता के लिये कम महत्त्व के नहीं हैं। बीजोल्यां के पूर्व में कोट के निकट तीन शिवमंदिर हैं, जिनमें से एक हजारेश्वर (सहस्रलिंग) महादेव का है और इसमें शिवलिंग के ऊपर छोटे छोटे सैकड़ों लिंग खुदे हुए हैं, जिससे इसको 'सहस्रलिंग का मंदिर' भी कहते हैं। इसमें निजमंदिर के द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है। दूसरा मंदिर महाकाल का है जिसके द्वार पर भी लकुलीश की मूर्ति है। तीसरे बैजनाथ के मंदिर में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर हुआ है। इनके अतिरिक्त ऊंडेश्वर महादेव का भी एक मंदिर है जिसमें खुदे हुए एक लेख में वि० सं० १२३× (इकाई का अंक नष्ट हो गया) है। ये मंदिर वि० सं० १२२६ से पहले के बने हुए होने चाहियें, क्योंकि उक्त संवत् के जैन-मंदिर के शिलालेख

में यहां के तथा कुछ दूर तक के कई मंदिरों का नामोल्लेख किया है, जिनमें से एक महाकाल का भी है। यहीं मंदाकिनी नामक एक कुंड है, जहां बहुतसे यात्री आकर स्नान करते हैं और कई लोग वहां अपने नाम शिलाओं पर खुदवा गये हैं। बीजोल्यां के क़स्बे से अग्नि कोण में अनुमान एक मील के अंतर पर एक जैन-मंदिर है, जिसके चारों कोनों पर एक एक छोटा मंदिर और बना हुआ है। इन मंदिरों को पंचायतन कहते हैं और ये पांचों मंदिर कोट से घिरे हुए हैं। इनमें से मध्य का अर्थात् मुख्य मंदिर पार्श्वनाथ का है। मंदिर के बाहर दो चतुरस्र स्तंभ बने हुए हैं जो भट्टारकों की निषेधिकाएं (नसियां) हैं। इन देवालयों से थोड़ी दूर पर जीर्ण-शीर्ण दशा में 'रेवती कुंड' है। पहले दिगंबर संप्रदाय के पोरवाड़ महाजन लोलाक ने यहां पार्श्वनाथ का तथा सात अन्य मंदिर बनवाये थे, जिनके टूट जाने पर ये पांच मंदिर नये बनाये गये हैं। यहां पर पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान विशेष आकर्षित करनेवाली दो वस्तुएं हैं, जिनमें से एक तो लोलाक का खुदवाया हुआ अपने निर्माण कराये हुए देवालयों के संबंध का शिलालेख और दूसरा 'उन्नतशिखरपुराण' नामक दिगंबर जैन ग्रंथ है। बीजोल्यां के निकट भिन्न भिन्न आकृति के चपटे कुदरती चट्टान अनेक जगह निकले हुए हैं। ऐसे ही कई चट्टान इन मंदिरों के पास भी हैं, जिनमें से दो पर ये दोनों खुदवाये गये हैं। विक्रम संवत् १२२६ फाल्गुन वदि ३ का चौहान राजा सोमेश्वर के समय का लोलाक का खुदवाया हुआ शिलालेख इतिहास के लिये बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि उसमें सामंत से लगाकर सोमेश्वर तक के सांभर और अजमेर के चौहान राजाओं की वंशावली तथा उनमें से किसी किसी का कुछ विवरण भी दिया है। इस लेख में दी हुई चौहानों की वंशावली बहुत शुद्ध है, क्योंकि इसमें खुदे हुए नाम शेखावाटी के हर्षनाथ के मंदिर में लगी हुई वि० सं० १०३० की चौहान राजा सिंहराज के पुत्र विग्रहराज के समय की प्रशस्ति, किनसरिया (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए सांभर के चौहान राजा दुर्लभराज के समय के वि० सं० १०५६ के शिलालेख तथा 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य में मिलनेवाले नामों से ठीक मिल जाते हैं। उक्त लेख में लोलाक के पूर्व पुरुषों का विस्तृत वर्णन और स्थान स्थान पर बनवाये हुए उनके मंदिरादि का उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) ने मोराकुरी गांव और सोमेश्वर ने रेवणा गांव पार्श्वनाथ के उक्त मंदिर के लिये भेट किया था।

'उन्नतशिखरपुराण' भी लोलाक ने उसी संवत् में यहां खुदवाया था और इस समय इस पुराण की कोई लिखित प्रति कहीं विद्यमान नहीं है। बीजोल्यां के राव कृष्णसिंह (स्वर्गवासी) ने इन दोनों चट्टानों पर पक्के मकान बनवाकर उनकी रक्षा का प्रशंसनीय कार्य किया है।

बीजोल्यां से अनुमान पांच मील अंतर पर जाड़ोली गांव है जिससे थोड़ी दूर पर कई टूटे-फूटे मंदिर हैं। उनमें सबसे बड़ा वैजनाथ का शिवालय है जिसके भीतर शिवलिंग, और द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है। शिवलिंग के पीछे शिव की प्रतिमा और उसके ऊपरी भाग में नवग्रहों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। एक ताक में दशभुजा देवी की मूर्ति है, जिसके नीचे सप्तमातृकाओं में से तीन तीन दोनों ओर खुदी हैं और सातवीं उक्त देवी को ही समझना चाहिये। गांव के भीतर ऊंडेश्वर[1] नामक एक शिवालय भी है। बीजोल्यां से अनुमान चार मील पश्चिम में वृंदावन नाम का गांव है जिसके पासवाले टूटे हुए शिवालय को लोग 'कखेरी की पूतली' कहते हैं। यह भी एक प्राचीन मंदिर है और इसके द्वार पर भी लकुलीश की मूर्ति बनी हुई है।

जाड़ोली से ६ मील पूर्व में तिलस्मा गांव है जहां कई प्राचीन स्थान हैं, जिनमें से मुख्य भवेश्वर (तलेश्वर) नामक शिवालय है। इस मंदिर के द्वार पर भी लकुलीश की प्रतिमा विराजमान है और ऊपर नवग्रह बने हुए हैं। यह मंदिर वि० सं० की ११वीं शताब्दी का बना हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है।

मैनाल

मैनाल बेगूं के सरदार की जागीर का गांव है, जो क़रीब क़रीब ऊजड़ पड़ा हुआ है। यहां पहले अच्छी आबादी होने के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। यहां श्वेत पाषाण का बना हुआ महानालदेव का विशाल शिवालय मुख्य है, और इसी के नाम से इस गांव का नाम मैनाल पड़ा है। मंदिर के द्वार पर लकुलीश की मूर्ति बनी है। इस मंदिर के पीछे एक सुंदर कुआ है जहां से ऊंचे ऊंचे स्तंभों पर बनी हुई पाषाण की नाली के द्वारा मंदिर में जल पहुंचता था। मंदिर के आगे सुंदर खुदाईवाला तोरण बना हुआ है। इस मंदिर के साथ दुमंज़िला मठ भी है, जिसकी दूसरी

(१) जिन शिवालयों में शिवलिंग मंडप की सतह से नीचा (ऊंडा) होता है, ऐसे मंदिरों को लोग ऊंडेश्वर कहते हैं। वास्तव में 'ऊंडेश्वर' मंदिर का नाम नहीं है, केवल लोगों ने इस प्रकार के शिवालयों का नाम 'ऊंडेश्वर' रख लिया है।

मंज़िल के एक स्तंभ पर अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज दूसरे (पृथ्वीभट) के समय का वि० सं० १२२६ का लेख (मास नहीं दिया) खुदा है, जिससे पाया जाता है कि यह मठ उक्त राजा के राज्यसमय भावब्रह्म मुनि (साधु) ने बनवाया था।

महानाल के मंदिर के आगे कई शिवमंदिर भग्नावस्था में पड़े हुए हैं, जो वहां के महंतों की समाधियों पर बने हुए प्रतीत होते हैं। यहां से कुछ अंतर पर पृथ्वीराज़ दूसरे की राणी सुहवदेवी (रूठी राणी) के महल और उसी का बनवाया हुआ सुहवेश्वर नामक शिवालय है, जो वि० सं० १२२४ में बना था, ऐसा वहां के लेख से ज्ञात होता है।

मैनाल में एक सुन्दर विशाल कुंड भी इस समय गिरी हुई दशा में है। कर्नल टॉड को यहां से एक शिलालेख वि० सं० १४४६ का मिला, जो हाड़ा शाखावाले चौहानों के प्राचीन इतिहास के लिये बड़ा उपयोगी है, परंतु अब वहां पर उसका पता नहीं लगता। शायद कर्नल टॉड अन्य शिलालेखों के साथ उसे भी इंग्लैंड ले गये हों।

बाड़ोली

भैंसरोड़गढ़ से चंबल को पार कर तीन मील जंगल में जाने पर बाड़ोली के प्रसिद्ध मंदिर आते हैं। मेवाड़ में ही नहीं, किंतु भारतवर्ष में भी कारीगरी के विचार से इन मंदिरों की समता करनेवाला—आबू के प्रसिद्ध जैन-मंदिरों तथा नागदा के 'सास के मंदिर' को छोड़कर—और कोई नहीं है। ये मंदिर २५० गज़ लंबे और उतने ही चौड़े अहाते के भीतर बने हुए हैं। इनमें मुख्य घटेश्वर का शिवालय है, जिसके आगे तोरण के दो स्तंभ खड़े थे, जिनमें से एक टूट गया है। इस मंदिर के सामने (मंदिर से विलग) एक सुंदर मंडप बना हुआ है, जिसको लोग 'राजा हूण की चौरी' कहते हैं। घटेश्वर के मंदिर के सिवा यहां गणेश, नारद, सप्तमातृका, त्रिमूर्ति और शेषशायी नारायण के मंदिर भी हैं और अहाते के बाहर एक कुंड है। यहां के मंदिरों की कारीगरी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। भारतीय शिल्प के अद्वितीय ज्ञाता फर्गुसन ने यहां के मंदिरों की कारीगरी की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए इनको उस समय के देवालयों में अद्वितीय माना है, और शेषशायी नारायण की मूर्ति के संबंध में तो यहां तक लिखा है कि 'मेरी देखी हुई हिंदू मूर्तियों में यह सर्वोत्कृष्ट है'। कर्नल टॉड ने भी इन मंदिरों की शैली और सुन्दर खुदाई की बहुत कुछ प्रशंसा की है। ये मंदिर कब बने, इसका

ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका, परंतु वहां पर खुदे हुए छोटे छोटे लेखों में से एक वि० सं० ६८३ का है। यह लेख इन मंदिरों के बनने के संबंध का नहीं है, तो भी इससे इतना तो निश्चित है कि उक्त संवत् से पूर्व ये मंदिर बन गये थे। ये देलवाड़े (आबू) के मंदिरों से भी प्राचीन हैं, परंतु उदयपुर से वहां जाना श्रमसाध्य है, क्योंकि मार्ग विकट पर्वतश्रेणियों में होकर निकलता है, इसी से भारत के इन सर्वश्रेष्ठ मंदिरों को देखने का सौभाग्य अब तक अधिक पुरुषों को प्राप्त नहीं हुआ। दर्शकों के लिये कोटे से भैंसरोड़गढ़ पहुंचना सुगम है, वहां से ३ मील पर ये मंदिर हैं।

मांडलगढ़ से पूर्व के बीजोल्यां, मैनाल, बाड़ोली आदि के जिन शिवमंदिरों का वर्णन किया है और जिनके द्वार पर लकुलीश की मूर्तियां बनी हुई हैं, उनके महंत लकुलीश संप्रदाय के नाथ (कनफड़े साधु) होने चाहियें और संभव है कि वे अजमेर के चौहानों के गुरु हों। इन मंदिरों को देखते हुए चौहानों के अधीनस्थ इस प्रदेश की विपुल समृद्धि का बहुत कुछ अनुमान हो सकता है।

देलवाड़ा

एकलिंगजी से चार मील उत्तर में देलवाड़ा (देवकुलपाटक) गांव वहां के झाला सरदार की जागीर का मुख्य स्थान है। यहां पहले बहुतसे श्वेतांबर जैन-मंदिर थे, उनमें से तीन अब तक विद्यमान हैं, जिनको वसी (वसही, वसति) कहते हैं। इनमें से एक आदिनाथ का और दूसरा पार्श्वनाथ का है। इन मंदिरों तथा इनके तहखानों में रक्खी हुई भिन्न भिन्न तीर्थंकरों, आचार्यों एवं उपाध्यायों की मूर्तियों के आसनों, तथा पाषाण के भिन्न भिन्न पट्टों आदि पर खुदे हुए लेख वि० सं० १४६४ से १६८६ तक के हैं। पहले यहां अच्छे धनाढ्य जैनों की आबादी थी और प्रसिद्ध सोमसुंदर सूरि का, जिनको 'वाचक' पदवी वि० सं० १४५० (ई० स० १३९३) में मिली थी, कई बार यहां आगमन हुआ, उनका यहां बहुत कुछ सम्मान हुआ और उनके यहां आने के प्रसंग पर उत्सव भी मनाये गये थे, ऐसा 'सोमसौभाग्य' काव्य से पाया जाता है। कुछ वर्ष पूर्व यहां के एक मंदिर का जीर्णोद्धार करते समय मंदिर के कोट के पीछे के खेत में से १२२ जिनप्रतिमाएं तथा दो एक पाषाणपट्ट निकले थे। ये प्रतिमाएं मुसलमानों की चढ़ाइयों के समय मंदिरों से उठाकर यहां गाड़ दी गई हों, ऐसा अनुमान होता है। महाराणा लाखा के समय से पूर्व का यहां कोई शिला-लेख नहीं मिलता। महाराणा मोकल और कुंभा के समय यह स्थान अधिक

संपन्न रहा हो, ऐसा उनके समय की बनी हुई कई मूर्तियों के लेखों से अनुमान होता है। देलवाड़े से बाहर एक कलाल के मकान के सामने के खेत में कई विशाल मूर्तियां गड़ी हुई हैं, ऐसी खबर मिलने पर मैंने वहां खुदवाया तो चार बड़ी बड़ी मूर्तियां निकलीं, जो खंडित थीं और उनमें से कोई भी महाराणा कुंभा के समय से पूर्व की न थीं।

करेड़ा

उदयपुर-चित्तोड़गढ़ रेल्वे के करेड़ा स्टेशन के पास ही श्वेत पाषाण का बना हुआ पार्श्वनाथ का विशाल मंदिर है। मंदिर के मंडप की दोनों तरफ छोटे छोटे मंडपवाले दो और मंदिर बने हुए हैं। उनमें से एक के मंडप में अरबी का एक लेख है, जो पीछे से मरम्मत कराने के समय वहां लगा दिया गया हो, ऐसा अनुमान होता है। मंडप में जंजीर से लटकती हुई घंटियों की आकृतियां बनी हैं, जिसपर से लोगों ने यह प्रसिद्धि की है कि इस मंदिर के बनाने में एक बनजारे ने सहायता दी थी, जिससे उसके बैलों के गले में बांधी जानेवाली जंजीर सहित घंटियों की आकृतियां यहां अंकित की गई हैं, परंतु यह भी कल्पनामात्र है, क्योंकि जैन, शैव एवं वैष्णवों के अनेक प्राचीन मंदिरों के थंभों पर ऐसी आकृतियां बनी हुई मिलती हैं, जो एक प्रकार की सुंदरता का चिह्नमात्र था। मंडप के ऊपर के भाग में एक ओर मसजिद की आकृति बनी हुई है, जिसके विषय में लोग यह प्रसिद्ध करते हैं कि जब बादशाह अकबर यहां आया था तब उसने इस मंदिर में यह मसजिद की आकृति इस अभिप्राय से बनवा दी थी कि भविष्य में मुसलमान इसे न तोड़ें, परंतु वास्तव में मंदिर के निर्माण करानेवालों ने मुसलमानों का यह पवित्र चिह्न इसी विचार से बनवाया है कि इसको देखकर वे मंदिर को न तोड़ें, जैसा कि मुसलमानों के समय के बने हुए अन्य मंदिरादि के संबंध में ऊपर उल्लेख किया गया है। मंदिर में श्यामवर्ण पाषाण की बनी हुई पार्श्वनाथ की एक मूर्ति है, जिसपर खुदे हुए लेख से पाया जाता है कि वह वि० सं० १६५६ में बनी थी। लोग यह भी कहते हैं कि यहां मूर्ति के ठीक सामने के भाग में एक छिद्र था, जिसमें होकर पौष शुक्ला १० को सूर्य की किरणें इस प्रतिमा पर पड़ती थीं, उस समय यहां एक बड़ा मेला भरता था, परंतु महाराणा सरूपसिंह के समय से यह मेला बंद हो गया। पीछे से जीर्णोद्धार कराते समय उधर की दीवार ऊंची बनाई गई, जिससे अब सूर्य की किरणें मूर्ति पर नहीं गिरतीं। थोड़े समय पूर्व इस मंदिर की फिर मरम्मत

होकर सारे मंदिर पर चूना पोत दिया गया जिससे इसके श्वेत पाषाण की शोभा नष्ट हो गई है। कई देशी एवं विदेशी श्वेतांबर जैन यहां यात्रार्थ आते हैं और एक धर्मशाला भी यहां बन गई है।

अंग्रेज़ सरकार में तोपों की सलामी

उदयपुर के महाराणाओं की सरकार अंग्रेज़ी में १६ तोपों की नियत सलामी है और वर्तमान महाराणा साहब की व्यक्तिगत सलामी २१ तोपों की है।

दूसरा अध्याय

उदयपुर का राजवंश

प्राचीन भारत में जो राजा राज्य करते थे उनमें से मुख्य मुख्य को पुराण आदि ग्रंथों में सूर्यवंशी और चंद्रवंशी कहा है, और उनमें भी सूर्य वंश अधिक प्रतिष्ठित और पूज्य समझा जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचंद्र, जिनको हिन्दू ईश्वर का अवतार मानते हैं, इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। बुद्धदेव ने भी इसी वंश में जन्म लिया था और जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का भी इस वंश में होना प्रसिद्ध है। रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंश में उदयपुर के राजवंश का होना माना जाता है[1]।

कुश के वंश के अंतिम राजा सुमित्र तक की नामावली पुराणों में दी हुई है, फिर उस वंश में वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास मेवाड़ में गुहिल नाम

नाम — का प्रतापी राजा हुआ, जिसके नाम से उसका वंश 'गुहिल वंश' कहलाया। संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में इस वंश का नाम 'गुहिल[2]',

---

१—कर्नल टॉड ने रामचन्द्र के दूसरे पुत्र लव के वंश में उदयपुर के राजवंश का होना माना है जो सर्वथा भ्रम है, क्योंकि 'टॉड-राजस्थान' के वंशवृक्ष में रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र का नाम लव तथा छोटे का कुश दिया है और कुश का पुत्र कूरम या कछवा होना मानकर लिखा है कि उससे कछवाहा वंश चला। फिर लव के वंश में अतिथि से लगाकर सुमित्र तक की नामावली पुराणों (भागवत) के अनुसार दी है, परंतु भागवत या किसी अन्य पुराण में अतिथि से सुमित्र तक के राजाओं का लव के वंश में होना कहीं नहीं लिखा है।

(२) *राजा श्रीगुहिलान्वयामलपयोराशौ स्फुरद्दीधिति-*
ध्वस्तध्वान्तसमूहदुष्टसकलव्यालावलेपान्तकृत्।
श्रीमानित्यपराजितः क्षितिभृतामभ्यर्चितो मूर्धभि-
र्वृत्तस्वच्छतयैव कौस्तुभमणिर्ज्जातो जगद्भूषणं॥

मेवाड़ के राजा अपराजित के समय का वि० सं० ७१८ का शिलालेख

(ए. इं; जि० ४, पृ० ३१)।

प्रत्यर्थिवामनयनानयनांबुधारासंवर्धितः क्षितिभृतां शिरसि प्ररूढः।

'गुहिलपुत्र'[1], 'गोभिलपुत्र'[2] 'गुहिलोत'[3] या 'गौहिल्य'[4] मिलते हैं और भाषा में 'गुहिल', 'गोहिल', 'गहलोत' और 'गैलोत' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के गोभिल और गौहिल्य नाम भाषा के गोहिल के, तथा गुहिलपुत्र और गोभिलपुत्र गहलोत नाम के संस्कृत शैली के रूप हैं। पीछे से इस वंश की एक शाखा सीसोदा गांव में रही, जिससे उक्त शाखावाले उस गांव के नाम पर से सीसोदिये[5] कहलाये। इस समय इसी सीसोदिया शाखा के वंशधर उदयपुर के महाराणा हैं।

यः कुंठितारिकरवालकुठारधारस्तं ब्रूमहे गुहिलवंशमपारशाखं ॥

रावल समरसिंह की वि० सं० १३३१ की चित्तोड़ के किले की प्रशस्ति
(भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७४)

(१) *श्रीएकलिङ्गहराराधनपाशुपताचार्यहारीतराशि········क्षत्रियगुहिलपुत्र-सिंहलब्धमहोदयाः········* ।

रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३५ के शिलालेख से, जो उदयपुर के विक्टोरिया हॉल में सुरक्षित है।

(२) *अस्ति प्रसिद्धमिह गोभिलपुत्रगोत्रन्तत्राजनिष्ट नृपतिः किल हंसपालः ॥*
शौर्यार्घसज्जितनिरर्गलसैन्यसंघनम्रीकृताखिलमिलद्रिपुचक्रवालः ॥

भेराघाट का शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० ११-१२)।

(३) *गूहिलोतान्वयव्योममण्डनैकशरच्छशी* ।
वि० सं० १२२५ का हांसी का शिलालेख (इं. ऐं; जि० ४१, पृ० १६)।

(४) *यस्माद्धौ गुहिलवर्णनया प्रसिद्धां गौहिल्यवंशभवराजगणोऽत्र जातिं* ।

रावल समरसिंह की वि० सं० १३३१ की चित्तोड़ की प्रशस्ति (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७५)

(५) इतिहास के अंधकार में प्राचीन नामों की उत्पत्ति के विषय में लोगों ने विलक्षण कल्पनाएं की हैं। सीसोदिया नाम की उत्पत्ति के संबंध में यह कल्पना भी की गई है कि इस वंश के एक राजा ने अजान में दवा में मिलाये हुए मद्य का पान कर लिया। इस बात को जानने पर उसने उसके प्रायश्चित्त के लिये सीसा गलवाकर पी लिया, जिससे उसके वंश का नाम सीसोदिया हुआ। यह निरी गढ़ंत बात है। वास्तव में सीसोदा गांव में रहने से इस वंश के लोग सीसोदिये कहलाये हैं, जैसे कि आहाड़ में रहने से आहाड़ा, केलपुर (केलवे) में रहने से केलपुरा आदि।

उदयपुर का राजवंश वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास से लगाकर आज तक समय के अनेक हेर-फेर सहते हुए उसी प्रदेश पर राज्य करता चला आ रहा है। इस प्रकार १२५० से अधिक वर्ष तक एक ही प्रदेश पर राज्य करनेवाला संसार भर में दूसरा कोई राजवंश शायद ही विद्यमान हो। जिस समय कन्नौज के महाराज्य पर हर्ष (हर्षवर्द्धन) का राज्य था, उस समय मेवाड़ का शासन राजा शीलादित्य कर रहा था, ऐसा उसके समय के वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) के सामोली गांव से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है। हर्ष का महाराज्य तो उसके मरते ही नष्ट हो गया, परंतु शीलादित्य का वंश अब तक मेवाड़ पर राज्य कर रहा है।

राजवंश की प्राचीनता

फ़िरिश्ता लिखता है कि "राजा विक्रमादित्य (उज्जैनवाले) के पीछे राजपूतों ने तरक्की की। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने के पहले यहां पर बहुतसे स्वतंत्र राजा थे, परंतु सुलतान महमूद ग़ज़नवी तथा उसके वंशजों ने बहुतों को अपने अधीन किया, फिर शहाबुद्दीन ग़ोरी ने अजमेर और दिल्ली के राजाओं को जीता, बाकी रहे-सहे को तैमूर के वंशजों ने अधीन किया; यहां तक कि विक्रमादित्य के समय से जहांगीर बादशाह के समय (हि० स० १०१५= वि० सं० १६६३=ई० स० १६०६) तक कोई पुराना राजवंश न रहा, परंतु राणा ही ऐसे राजा हैं, जो मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पहले भी विद्यमान थे और आज तक राज्य करते हैं।" ऐसे ही अन्य मुसलमान और अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने महाराणा के वंश की प्राचीनता को स्वीकार किया है।

उदयपुर का राजवंश गौरव में सूर्यवंशियों में भी सर्वोपरि माना जाता है और भारत के सभी राजपूत राजा उदयपुर के महाराणाओं को शिरोमणि मानकर उनकी ओर सदा पूज्य भाव रखते आये और अब भी रखते हैं। उनके इस महत्त्व के कई कारण हैं, जिनमें मुख्य उनकी स्वातंत्र्यप्रियता और अपने धर्म पर दृढ रहना है, जैसा कि उनके राज्यचिह्न में अंकित 'जो दृढ राखै धर्म को, तिहिं राखै करतार' शब्दों से पाया जाता है। गत १४०० वर्षों में हिन्दुस्तान में कई प्राचीन राज्य लुप्त हो गये, अनेक नये स्थापित हुए, भारतभूमि के भाग्य ने अनेक पलटे खाये, मुसलमानों के राज्य की प्रबल शक्ति के आगे सैंकड़ों हिन्दू राजाओं ने सिर झुकाकर अपनी वंशपरंपरा की मान-मर्यादा को उसके चरणों में [illegible]

राजवंश का गौरव

का ही राजवंश, जो समस्त संसार के राजवंशों में सबसे प्राचीन है, नाना प्रकार के कष्ट और अनेक आपत्तियां सहकर अपनी मान-मर्यादा, कुल-गौरव तथा स्वातंत्र्यप्रियता के लिये सांसारिक सुख-संपत्ति और ऐश्वर्य को निछावर करते हुए भी अपने अटल पथ से विचलित न हुआ। इसी कारण भारतवासी हिन्दूमात्र उदयपुर के महाराणाओं को पूज्य दृष्टि से देखते हैं और 'हिन्दुआ सूरज' कहते हैं। इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, किंतु हिन्दुओं के विरोधी स्वयं मुसलमान बादशाहों तथा मुसलमान इतिहास-लेखकों ने उक्त वंश के महत्त्व का उल्लेख किया है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

बाबर बादशाह ने अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़ुके बाबरी' में लिखा है कि "हिन्दुओं में बीजानगर (विजयनगर) के सिवा दूसरा प्रबल राजा राणा सांगा है, जो अपनी वीरता तथा तलवार के बल से शक्तिशाली हो गया है। उसने मांडू (मालवे) के बहुतसे इलाक़े—रणथंभोर, सारंगपुर, भिलसा और चंदेरी—ले लिये हैं"। आगे फिर लिखा है कि "हमारे हिन्दुस्तान में आने से पहले राणा सांगा की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि दिल्ली, गुजरात और मांडू (मालवे) के सुलतानों में से एक भी बड़ा सुलतान हिन्दू राजाओं की सहायता के बिना अकेला उसका सामना नहीं कर सकता था। मेरे साथ की लड़ाई में बड़े बड़े राजा व रईस राणा सांगा की अध्यक्षता में लड़ने को आये थे। मुसलमानों के अधीनस्थ देशों में भी २०० शहरों में राणा का झंडा फहराता था, जहां मसजिदें तथा मक़बरे बर्बाद हो गये थे और मुसलमानों की औरतें तथा बाल-बच्चे क़ैद कर लिये गये थे। उसके अधीन १०००००००० रुपये की आमद का मुल्क है, जिसमें हिन्दुस्तान के क़ायदे के अनुसार एक लाख सवार रह सकते हैं"।

बादशाह जहांगीर ने अपनी 'तुज़ुके जहांगीरी' में लिखा है कि "राणा अमरसिंह हिंदुस्तान के सबसे बड़े सरदारों तथा राजाओं में से एक है। उसकी तथा उसके पूर्वजों की श्रेष्ठता और अध्यक्षता इस प्रदेश (राजपूताना आदि) के सब राजा और रईस स्वीकार करते हैं। बहुत काल तक उनके वंश का राज्य पूरब में रहा। उस समय उनकी पदवी राजा थी। फिर वे दक्षिण में आये और वहां के कई प्रदेशों पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया तथा रावल

कहलाने लगे; वहां से मेवात (मेवाड़) के पहाड़ी प्रदेश की ओर वढ़ते हुए शनैः शनैः चित्तोड़ का क़िला उन्होंने ले लिया। उस समय से मेरे इस आठवें जुलूस (राज्यवर्ष=वि० सं० १६७०=ई० स० १६१३) तक १४७१ (?) वर्ष वीते हैं। इतने दीर्घ काल में उन्होंने हिंदुस्तान के किसी नरेश के आगे सिर नहीं झुकाया और वहुधा लड़ाइयां लड़ते ही रहे। वादशाह वावर के साथ इधर के सव राजाओं, रईसों तथा सरदारों को लेकर १८०००० सवार तथा कई लाख पैदल सेना सहित राणा सांगा ने वयाने के पास युद्ध किया। ईश्वर की सहायता और भाग्य के वल से इस्लाम की सेना ने विजय प्राप्त की। मेरे पिता (अकवर वादशाह) ने भी इन सरकशों (विद्रोहियों) को दवाने की वहुत कुछ कोशिश की और कई वार उनपर सेनाएं भेजीं। अपने सन् जुलूस (राज्यवर्ष) १२वें (वि० सं० १६२४=ई० स० १५६७) में चित्तोड़ के क़िले को, जो संसार के वांके गढ़ों में से एक है, छीनने और राणा के राज्य को नष्ट करने के लिये वे (वादशाह) स्वयं गये। चार मास और दस दिन घेरा रहने के वाद क़िला छीना और उसको नष्ट कर वे लौट आये। कई वार वादशाही सेनाओं ने राणा (प्रताप) को इस विचार से तंग किया कि या तो वह क़ैद हो जाय या भागता फिरे, परंतु इसमें निष्फलता ही हुई। जिस दिन वे दक्षिण को विजय करने चढ़े उसी दिन मुझे वड़ी सेना और विश्वासपात्र सरदारों के साथ राणा पर भेजा, परंतु ये दोनों चढ़ाइयां दैवयोग से निष्फल हुईं। मैंने तख़्त पर वैठते ही जो मुख्य मुख्य उमराव उस समय राजधानी में थे उनको साथ देकर शाहज़ादे परवेज़ को राणा पर भेजा और उसके साथ वहुतसा खज़ाना और तोपखाना भी भेजा, परंतु खुसरो का झगड़ा खड़ा हो जाने से आगरे की रक्षा के लिये परवेज़ को पीछा वुला लेना पड़ा (वह भी हारकर लौटा था)। फिर महावतखां, अब्दुल्लाखां और दूसरे सरदारों की अधीनता में प्रवल सेनाएं भेजीं और उस समय से अव तक लड़ाइयां होती रही हैं, परंतु जव उनसे भी मेरा मनोरथ सिद्ध न होता देखा तव मैं स्वयं आगरे से इसकी सिद्धि के लिये रवाना हुआ और अजमेर में ठहर कर वहां से वावा ख़ुर्रम (पीछे से वादशाह शाहजहां) की अध्यक्षता में एक प्रवल सेना राणा पर भेजी"।

आगे वादशाह ने फिर लिखा है कि "जव मैं अजमेर के निकट शिकार खेल रहा था तो मुहम्मद वेग सुलतान ख़ुर्रम की अर्ज़ी लेकर पहुंचा, जिसमें

लिखा था कि राणा अपने बेटों सहित मेरे पास उपस्थित हो गया है। यह खबर पढ़कर मैंने ख़ुदा का सिजदा (दंडवत् प्रणाम) शुकर (धन्यवाद) अदा किया और इस ख़ुशख़बरी के इनाम में मुहम्मद बेग को हाथी, घोड़ा, जड़ाऊ खंजर और ज़ुल्फ़िकारखां का ख़िताब दिया[1]"।

महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर की अधीनता स्वीकार की, परंतु बादशाही दरबार में किसी राजा आदि को बैठक नहीं मिलती थी और उनको घंटों खड़ा रहना पड़ता था इसलिये यह शर्त करा ली गई कि मेवाड़ के महाराणा शाही दरबार में कभी उपस्थित न होंगे और अपने बड़े कुंवर को भेज देंगे। यह शर्त स्वीकार हुई, जिससे मेवाड़ के किसी राणा ने मुसलमान बादशाहों के दरबार में जाकर कभी सिर नहीं झुकाया था।

'एचीसन ट्रीटीज़' में लिखा है कि उदयपुर का राजवंश पद-प्रतिष्ठा में हिन्दुस्तान के राजपूत राजाओं में सबसे बढ़कर है और हिंदू उनको राम का प्रतिनिधि मानते हैं। ऐसे ही बर्नियर, मिल, एलिफन्स्टन, माल्कम आदि अनेक यूरोपियन इतिहास-लेखकों ने भी इस वंश की महत्ता को स्वीकार किया है।

राजवंश के संबंध में पिछले लेखकों का भ्रम

भारतीय राजवंशों का इतिहास जानने का आधार पहले केवल बड़वे भाटों की पुस्तकों (ख्यातों) और परंपरागत दंतकथाओं पर ही विशेषकर निर्भर था। कई राजवंशों के प्राचीन दानपत्र, शिलालेख आदि इतिहास के साधन कभी कभी उपलब्ध होने पर भी उनकी लिपि प्राचीन होने के कारण वे नहीं पढ़े जाते थे। इसलिये राजपूत जाति का पुराना हाल प्रायः अंधकार में ही रहा, और भाटों आदि ने उस विषय में पीछे से मनमानी कल्पना की और कई मनगढ़ंत क़िस्से कहानी उसके साथ जोड़कर उस समस्या को और भी जटिल बना दिया। पहले के विद्वानों को उन्हीं का आश्रय लेकर अपने इतिहास लिखने पड़े। राजपूतों का इतिहास लिखनेवालों में सर्वप्रथम बादशाह अकबर का मंत्री अबुल्फ़ज़ल था। उसने अपने बड़े ग्रंथ 'आईने अकबरी' में अकबर के राज्य के प्रत्येक सरकार (सूबे) के वर्णन में वहां का पुराना इतिहास लिखने का यत्न किया, परंतु उस समय प्राचीन संस्कृत ऐतिहासिक पुस्तकों का, जो भिन्न भिन्न स्थानों के पुस्तक-संग्रहों में पड़ी हुई थीं, किसी ने संग्रह भी नहीं

(१) ए. रॉजर्स; 'मैमॉयर्स ऑफ़ जहांगीर'; जि० १, पृ० २७२।

किया था और प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र तो पढ़े ही नहीं जाते थे। ऐसी दशा में अबुल्फ़ज़ल को भिन्न भिन्न राजपूत वंशों का इतिहास भाटों की ख्यातों से ही, जो उसको राजाओं की तरफ से प्राप्त हो सकीं, लिखना पड़ा। अतएव उसका लिखा हुआ राजपूतों का प्राचीन इतिहास इस समय की प्राचीन शोध से जो इतिहास ज्ञात हुआ है, उसके सामने सर्वथा विश्वासयोग्य नहीं है। उस समय तक मेवाड़वालों ने अकबर बादशाह की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, जिससे अकबर उनका कट्टर शत्रु हो रहा था और वह उनको नष्ट करना चाहता था, जैसा कि जहांगीर के लिखने से अनुमान होता है।

अबुल्फ़ज़ल ने सरकार (सूबे) अजमेर के प्रसंग में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास लिखने का यत्न किया है, जो कुछ भी महत्त्व का नहीं है। उसने मनमानी कल्पना कर मेवाड़ के राजवंश को ईरान के बादशाह नौशेरवां आदिल की संतान होना लिख दिया, परंतु अबुल्फ़ज़ल के पहले की अरबी अथवा फ़ारसी तवारीख़ों, भाटों की ख्यातों, जैनों के पुस्तकों तथा प्राचीन शिलालेख आदि में कहीं इसका उल्लेख नहीं है। यह कल्पना अबुल्फ़ज़ल की मनगढ़ंत होने से आधुनिक विद्वान् इसको कुछ भी प्रामाणिक नहीं समझते[१]।

अबुल्फ़ज़ल के आधार पर 'मासिरुल्उमरा' के कर्त्ता ने भी, और पीछे से हिजरी सन् १२०४[२] (वि० सं० १८४७=ई० स० १७९०) में लक्ष्मीनारायण शफीक़ औरंगाबादी ने अपनी किताब 'बिसातुल ग़नाइम्' में लिखा है कि "यह तो भली भांति प्रसिद्ध है कि उदयपुर के राजा हिंद (हिंदुस्तान) के तमाम राजाओं में सर्वोपरि हैं और दूसरे हिंदू राजा अपने पूर्वजों की गद्दी पर बैठने के पूर्व राजतिलक उदयपुर के राजाओं से प्राप्त करते हैं। उनका खिताब राणा है और वे नौशेरवां के, जिसने कई देशों तथा हिन्दुस्तान के कई विभागों पर विजय प्राप्त की थी, वंशज हैं। उसकी जीवित दशा में उसके पुत्र नौशेज़ाद ने, जिसकी माता रूम (तुर्की) के कैसर की पुत्री थी, अपना प्राचीन धर्म छोड़कर ईसाई मत को ग्रहण किया और वह बड़ी सेना के साथ हिंदुस्तान में

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० १०२; और विलियम क्रुक-संपादित टॉड राजस्थान का सटिप्पण नवीन ऑक्सफर्ड-संस्करण, जि० १, पृ० २७८, टिप्पण २।

(२) टॉड; 'राजस्थान'; जि० १, पृ० २७५-७६

आया। यहां से बड़ी सेना लेकर वह अपने पिता से लड़ने को ईरान पर चढ़ा, परंतु लड़ाई में मारा गया, तो भी उसकी संतान हिंदुस्तान में रही, उसके वंश में उदयपुर के राणा हैं[1]"।

कर्नल टॉड ने प्रथम तो यह लिखा कि "मेवाड़ के राजा सूर्यवंशी हैं और राणा तथा रघुवंशी कहलाते हैं; हिंदू जाति एकमत होकर मेवाड़ के राजाओं को राम की गद्दी के वारिस मानती है और उनको 'हिंदुआ सूरज' कहती है। राणा ३६ राजवंशों में सर्वोपरि माने जाते हैं[2]"। परंतु आगे चलकर लिखा कि "सूर्य वंश का राजा कनकसेन अपनी राजधानी लोहकोट (लवपुर, लाहोर) छोड़कर सौराष्ट्र में आया और परमार राजा का राज्य छीनकर वहां पर ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी (ई० स० १४४) में वीरनगर (वीरपुर) बसाया। उससे चार पीढ़ी बाद विजयसेन हुआ, जिसको आंबेर का राजा (सवाई जयसिंह) नौशेरवां मानता है। उसने सौराष्ट्र में विजयपुर नगर और विदर्भ बसाया, जिसका नाम पीछे से सिहोर हुआ, परंतु उसकी मुख्य राजधानी वलभीपुर (वळा) थी। वि० सं० ५८० में वलभी के राजा शीलादित्य के समय विदेशियों ने वलभी का नाश किया उस समय उसकी राणी पुष्पावती ही जो अंबा भवानी की यात्रा को गई थी बचने पाई और उसका पुत्र गोह (गुरुदत्त) मेवाड़ का राजा हुआ[3]"। आगे चलकर टॉड ने अबुल्फ़ज़ल, मासिरुल्उमरा और लक्ष्मीनारायण औरंगाबादी के कथन को उद्धृत कर यह बतलाने की खींच-तान की है कि वलभीपुर के राजा नौशेरवां के बेटे नौशेज़ाद या यज्दजर्द की लड़की माहबानू के वंशज होने चाहियें।

फिर आगे चलकर लिखा है कि 'यद्यपि यह सर्वथा असंभव प्रतीत होता है कि राणा ईरानी वंश की पुरुष शाखा के वंशधर हों, तो भी यज्दजर्द की भाग जानेवाली पुत्री माहबानू का विवाह सौराष्ट्र के राजा के साथ होना यह संभव है और कदाचित् वह शीलादित्य की माता सुभगा हो'।

कनकसेन का काठियावाड़ में जाना, उसके वंश में शीलादित्य का होना, उसके समय में वलभी का नाश होना और शीलादित्य के पुत्र गोहा का मेवाड़

(१) टॉड राजस्थान; जि० १, पृ० २७५–७७।

(२) वही; जि० १, पृ० २४७।

(३) वही; जि० १, पृ० २५१–२६०।

का स्वामी होना तथा वलभीपुर के एवं उसी से निकले हुए मेवाड़ के राजवंश का नौशेरवां के पुत्र नौशेज़ाद[1] या यज़्दजर्द की पुत्री माहबानू के वंश में होना इत्यादि कर्नल टॉड का सारा कथन कपोलकल्पित है, क्योंकि ई० स० १४४ (वि० सं० २००) में सौराष्ट्र (काठियावाड़) का स्वामी कनकसेन नहीं, किंतु क्षत्रप वंश का प्रतापी राजा रुद्रदामा था, जिसके अधीन सारा काठियावाड़ तथा दूर दूर के देश थे, जैसा कि ऊपर पश्चिमी क्षत्रपों के इतिहास (पृ० १०३-५; ११०) में बतलाया गया है। सौराष्ट्र पर परमारों का कभी राज्य ही नहीं रहा। कनकसेन से पांचवीं पीढ़ी में विजयसेन का वहां होना भी कल्पित ही है, क्योंकि उस समय वहां क्षत्रपवंशियों का राज्य था, जैसा कि उनके इतिहास में लिखा गया है। अबुल्फ़ज़ल के कथन पर विश्वास कर आंबेर के राजा (जयसिंह) का विजयसेन को नौशेरवां मानना केवल भ्रम ही है, क्योंकि नौशेरवां आदिल ई० स० ५३१ (वि० सं० ५८८) के आसपास ईरान का बादशाह हुआ; उसके बेटे नौशेज़ाद ने ई० स० ५५१ (वि० सं० ६०८) में अपने पिता से विद्रोह किया और क़ैद होकर वह अंधा किया गया अथवा मारा गया। यज़्दजर्द ईरान का अंतिम बादशाह था, जिसको ख़लीफा उमर के सेनापति ने ई० स० ६३६-३७ (वि० सं० ६९३-९४) में परास्त किया और ई० स० ६५१-५२ (वि० सं० ७०८-७०९) में वह अपने एक सामंत के हाथ से मारा गया था[2]। कर्नल टॉड ने वलभी का नाश वि० सं० ५८० (ई० स० ५२४) में होना, वहां के राजा शीलादित्य का युद्ध में मारा जाना, उसकी राणी पुष्पावती का मेवाड़ में आना और वहां गोहा (गुहदत्त) का जन्म होना लिखा है। ये सब घटनाएं नौशेरवां के ई० सं० ५३१ में ईरान के तख़्त पर बैठने से पूर्व की हैं, अतएव नौशेज़ाद या माहबानू के वंश में न तो वलभी के राजाओं का और न टॉड के कथनानुसार उनसे निकले हुए मेवाड़ के राजाओं का होना संभव हो सकता है।

श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के

---

(१) नौशेज़ाद के हिंदुस्तान में आने का कोई प्रमाण नहीं है; वह तो बग़ावत करने पर मारा गया था (माल्कम, हिस्टरी ऑफ़ पर्शिया; जि० १, पृ० ११२ और आगे; द्वितीय संस्करण)। ऐसा ही टॉड-राजस्थान के ऑक्सफर्ड-संस्करण के संपादक विलियम क्रुक ने भी माना है (टॉ; रा; जि० १, पृ० २७६; टिप्पण २)।

(२) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० १८,

जर्नल में एक लेख प्रकाशित कर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि मेवाड़ के राजा ब्राह्मण (नागर) हैं। उक्त लेख में इस कथन की पुष्टि के जो प्रमाण दिये हैं, उनको नीचे लिखकर प्रत्येक के साथ उसकी जांच भी की जाती है—

(१) "आटपुर (आहाड़) से मिले हुए वि० सं० १०३४ के शिलालेख में लिखा है कि 'आनंदपुर (वड़नगर) से निकले हुए ब्राह्मणों के कुल को आनंद देनेवाला महीदेव गुहदत्त, जिससे गुहिल वंश चला, विजयी है'[1]; यह मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं का ब्राह्मण होना प्रकट करता है"।

जिस श्लोक का अनुवाद ऊपर दिया है उससे तो यही ज्ञात होता है कि गुहदत्त आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण-कुल का सम्मान करनेवाला था। उसी लेख के छठे श्लोक में गुहिल के वंशज नरवाहन के वर्णन में उसको 'विजय का निवास-स्थान' एवं 'क्षत्रियों का क्षेत्र' अर्थात् क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान कहा है[2]। इससे स्पष्ट है कि गुहदत्त और उसके वंशज ब्राह्मण नहीं, किंतु क्षत्रियों में श्रेष्ठ थे, परंतु भंडारकर महाशय ने उक्त छठे श्लोक का उल्लेख भी नहीं किया।

अब यह भी देखना चाहिये कि संवत् १०३४ से पूर्व गुहिलवंशियों की उत्पत्ति के विषय में क्या माना जाता था। इसी वंश के राजा बापा (बप्प) का सोने का एक सिक्का मिला है, जिसपर चंवर और छत्र के चिह्नों के बीच सूर्य का भी चिह्न बना हुआ है, जो उनका सूर्यवंशी होना प्रकट करता है[3]। एकलिंगजी के मंदिर के निकट उक्त देवालय के मठाधिपति का बनवाया हुआ पाशुपत संप्रदाय का लकुलीश का मंदिर है, जिसके बाहर लगे हुए वि० सं० १०२८ के मेवाड़ के

---

(१) *आनंदपुरविनिर्गतविप्रकुलानंदनो महीदेवः।*
जयति श्रीगुहदत्तः प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य ॥
इं. ऐं; जि० ३९, पृ० १९१।

(२) *अविकलकलाधारो धीरः स्फुरद्वरलसत्करो*
विजयवसतिः क्षत्रक्षेत्रं क्षताहतिसंहतिः।
समजनि जना.................प्रतापतरूद्धृतो
विभवभवनं विद्यावेदी नृपो नरवाहनः ॥ [६ ॥]
वही; जि० ३९, पृ० १९१।

(३) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४५–६८।

राजा नरवाहन के समय के शिलालेख में वहां के मठाधिपतियों (तपस्वियों) को 'शाप और अनुग्रह के स्थान, तथा हिमालय से सेतुपर्यंत रघुवंश की कीर्ति को फैलानेवाला कहा है"। ये मठाधीश एकलिंगजी के मंदिर के क्रमागत पुजारी और मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं के गुरु थे, जिनको उन राजाओं की तरफ से कई सहस्र रुपयों की जागीर मिली हुई थी, अतएव 'रघुवंश की कीर्ति' से यहां अभिप्राय 'मेवाड़ के राजाओं की कीर्ति' से ही है। भंडारकर महाशय ने जहां यह लेख प्रकाशित किया है, वहां मूल में 'रघुवंश' शब्द छपा है, परंतु लेख का सारांश देने में उस शब्द को छोड़कर अर्थ यह किया कि 'उन तपस्वियों की कीर्ति हिमालय से सेतुपर्यन्त फैली हुई है' जो सर्वथा अशुद्ध है।

मेवाड़ में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि यहां के राजवंश के मूल पुरुष गुहिल (गुहदत्त) का, उसके पिता के मारे जाने पर, एक ब्राह्मण ने पालन किया था। मुंहणोत नैणसी ने भी अपनी ख्यात के प्रारंभ में ही मेवाड़ के राजाओं के विषय में लिखा है कि "सीसोदिये प्रारंभ में गहिलोत (गुहिलोत) कहलाते थे, पहले इनका राज्य दक्षिण में नासिक-त्र्यंबक की तरफ था। इनका पूर्वज सूर्य की उपासना करता था, मंत्राराधना करने पर सूर्य आकर प्रत्यक्ष होता था, जिससे कोई योद्धा उसको नहीं जीत सकता था। उसके पुत्र न हुआ तो उसने पुत्र-प्राप्ति के लिये सूर्य से विनती की, जिसपर सूर्य ने कहा कि अंबा देवी की यात्रा बोलो और पुत्र की इच्छा करो, जिससे राणी के गर्भ रहेगा। राजा ने यात्रा बोली और राणी के गर्भ रहा। जब राणी यात्रा को निकली उस समय राजा की सूर्य की उपासना मिट गई, जिससे शत्रुओं ने उसपर आक्रमण कर दिया। राजा युद्ध में मारा गया और बांसला नामक उसका गढ़ शत्रुओं ने छीन लिया। राणी अंबाजी की यात्रा कर नागदा गांव में पहुंची, जहां उसको अपने पति के मारे जाने के समाचार मिले। वह चिता बनवाकर सती होने को तैयार हुई तो उसको रोकने के लिये ब्राह्मणों ने कहा कि सगर्भा स्त्री के सती होने का निषेध

(१) तेभ्यो ....

.... क्लेशसमुद्गतात्ममहसः .... योगिनः ।

शापानुग्रहभूमयो हिमशिलाव(ब)न्धोज्ज्वलादागिरे-

रासेतो रघुवंशकीर्तिपिशुनास्ते .... ॥

बंब० ए० सो० ज; जि० .. ..

है और आपके प्रसव के दिन भी निकट हैं। इसपर वह रुक गई और पंद्रह दिन बाद उसके पुत्र हुआ। फिर १५ दिन हो जाने पर उसने स्नान किया और चिता तैयार करवाई। राणी जलने को चली और लड़का उसकी गोद में था। वहीं कोटेश्वर महादेव के मंदिर में ब्राह्मण विजयादित्य, पुत्र के लिये आराधना किया करता था। उसको बुलाकर राणी ने वस्त्र में लिपटा हुआ वह बालक दे दिया। विजयादित्य ने माल (दौलत) समझकर उसे ले लिया। इतने में लड़का रोया, जिससे ब्राह्मण ने कहा 'मैं इस राजपूत के लड़के को लेकर क्या करूं? बड़ा होने पर यह शिकार में जानवर मारेगा और दुनिया से लड़ाई-झगड़े करेगा, जिससे मैं पाप में पड़ूंगा और मेरा धर्म जाता रहेगा, अतएव यह दान मुझसे नहीं लिया जाता'। इसपर राणी ने उससे कहा कि तुम्हारा कथन ठीक है, परंतु यदि मैं सती होकर जलती हूं तो मेरा यह वचन है कि इस पुत्र के वंश में जो राजा होंगे, वे १० पुश्त तक तेरे कुल के आचार का पालन करेंगे और तुझको बड़ा आनंद देंगे। तब विजयादित्य ने उस लड़के को रख लिया। फिर राणी ने उसको द्रव्य, भूषण आदि दिया और वह सती हो गई। विजयादित्य के उस लड़के के वंशजों ने १० पीढ़ी तक ब्राह्मण धर्म का पालन किया और वे नागदा (नागर) ब्राह्मण कहलाये। विजयादित्य का यह सूर्यवंशी पुत्र गुहिलोत (गुहिल) सोमदत्त कहलाया। उसके पीछे सीलादत (शीलादित्य) आदि हुए[1]"।

नैणसी की यह कथा प्राचीन काल से चली आती हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वि० सं० १०३४ के उपर्युक्त शिलालेख में राजा गुहदत्त (गुहिल) को 'आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण-कुल को आनंद देनेवाला' कहा है, जो उक्त विजयादित्य के कुल का सूचक होना चाहिये।

(२-३) "रावल समरसिंह के समय की वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) की चित्तोड़ की प्रशस्ति में बापा को 'विप्र[2]' कहा है और वि० सं० १३४२

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; पृ० १; ना. प्र. प; भाग १, पृ० २६१-६४।

(२) *जीयादानंदपूर्वं तदिह पुरमिलाखंडसौंदर्यशोभि-*
क्षोणीप्र(पृ)ष्ठस्थमेव त्रिदशपुरमधः कुर्व्वदुच्चैः समृध्या ।
यस्मादागत्य विप्रश्चतुरुदधिमहीवेदिनिक्षिप्तयूपो

(ई० स० १२८५) की उसी राजा के समय की आबू की प्रशस्ति में लिखा है कि "ब्रह्मा के सदृश हारीत से बप्प (बापा) ने पैर के कड़े के बहाने से क्षात्र तेज प्राप्त किया और अपनी सेवा के छल से ब्रह्मतेज मुनि को दे दिया[1]। ये दोनों कथन बापा का ब्राह्मण होना प्रकट करते हैं"।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि बापा के सोने के सिक्के पर वंशसूचक सूर्य का चिह्न है, वि० सं० १०२८ में इनको रघुवंशी माना है, वि० सं० १०३४ के लेख में 'क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान' कहा है और ऊपर दिये हुए नैणसी की ख्यात के कथन से पाया जाता है कि गुहिल की माता ने अपना क्षत्रिय पुत्र विजयादित्य को यह कहकर सौंपा था कि १० पीढ़ी तक इसके वंशज ब्राह्मणकुल के आचार का पालन करेंगे, अतएव आबू की प्रशस्ति के उक्त कथन का अभिप्राय यही होना चाहिये कि बापा के पूर्व के राजाओं ने ब्राह्मण धर्म का भी पालन किया, किंतु बापा ने केवल क्षात्र धर्म धारण कर लिया, क्योंकि उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट लिखा है कि 'उस वंश के राजा मूर्तिमान् क्षात्रधर्मरूप' आज भी पृथ्वी पर शोभते हैं[2]।

उसी रावल समरसिंह की माता जयतलदेवी ने वि० सं० १३३५ (ई० स० १२७८) में चित्तोड़ पर श्यामपार्श्वनाथ का मंदिर बनवाया, जिसके शिलालेख में गुहिलोतवंशी सिंह के नाम का उल्लेख करते हुए गुहिल को क्षत्रिय बतलाया है[3], परंतु उसका श्रीयुत भंडारकर ने उल्लेख भी नहीं किया।

(४-५) "वि० सं० १५१७ की राणा कुंभा की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में तथा उसी राणा के समय के बने हुए 'एकलिंगमाहात्म्य' में 'आनंदपुर से निकले हुए ब्राह्मण (नागर) वंश को आनंद देनेवाला'—इस अभिप्राय का वि० सं०

बप्पाख्यो वीतरागश्चरणयुगमुपासीत(सीष्ट)हारीतराशेः ॥

चित्तोड़ का लेख, श्लोक ६ (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७५)।

(१) *हारीतात्किल बप्पकोऽह्रिवलयव्याजेन लेभे महः*

क्षात्रं धातृनिभाद्वितीर्य मुनये ब्राह्मं स्वसेवाच्छलात् ।

(२) *एतेऽद्यापि महीभुजः क्षितितले तद्वंशसंभूतयः*

शोभंते सुतरामुपात्तवपुषः क्षात्रा हि धर्मा इव ॥ ११ ॥

आबू का शिलालेख. (इं० [illegible] ० १६, पृ० ३४७)

(३) देखो ऊपर पृ० ३७०, टिप्पण १।

१०३४ की प्रशस्ति का श्लोक (आनंदपुरविनिर्गत०) उद्धृत किया गया है जो इनका ब्राह्मण होना सूचित करता है"।

वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) की प्रशस्तिवाले उक्त श्लोक के विषय में हम ऊपर (पृ० ३७८) लिख आये हैं और यह भी बतला चुके हैं कि उसी लेख के छठे श्लोक में राजा नरवाहन को 'क्षत्रियों का क्षेत्र' अर्थात् 'क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान' भी कहा है, जिसके विषय में भंडारकर महाशय ने कुछ भी नहीं लिखा।

राणा कुंभा के पिता मोकल ने अपनी राणी वाघेली (बघेली) गौरांबिका के पुण्य के निमित्त एकलिंगजी से ६ मील दूर शृंगी ऋषि नामक स्थान पर वि० सं० १४८५ में एक बावड़ी बनवाई, जिसके शिलालेख में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति और एकलिंगमाहात्म्य के विरुद्ध उक्त महाराणा मोकल के दादा क्षेत्र (क्षेत्रसिंह, खेता) को 'क्षत्रिय वंश का मंडनमणि' कहा है[1]।

राणा कुंभा के पुत्र रायमल के समय के वि० सं० १५५७ के नारलाई गांव (जोधपुर राज्य में) के जैन मंदिर के शिलालेख में गुहिदत्त (गुहदत्त), वप्प (बापा), खुम्माण आदि राजाओं को सूर्यवंशी बतलाया है[2]।

(६) "मुंहणोत नैणसी की ख्यात का नीचे लिखा हुआ पद्य गुहिलवंशियों का ब्राह्मण होना प्रकट करता है"—

आद मूल उतपत्ति ब्रह्म पिण खत्री जाणां।
आणंदपुर सिंगार नगर आहोर वखाणां॥

इस पद्य के लिखने के पहले नैणसी ने गहलोत (गुहिलोत, गुहिल) वंश के मूल पुरुष के मारे जाने, उसकी सगर्भा राणी के नागदा में पहुंचने और वहां उसके पुत्र उत्पन्न होने, विजयादित्य ब्राह्मण (नागर) को उसे सौंपकर सती होने, विजयादित्य का उस क्षत्रिय बालक का पालन करने, उसके वंशजों का १०

(१) एवं सर्वमकंटकं समगमद्भूमंडलं भूपति-
हंमीरो ललनास्मरः सुरपदं संपाल्य काश्चित्समाः।
सम्यग्वर्महरं ततः स्वतनयं सुस्थाप्य राज्ये निजे
क्षेत्रं क्षत्रियवंशमंडनमणिं प्रत्यर्थिकालानलं॥ ५॥
शृंगी ऋषि की बावड़ी का शिलालेख (अप्रकाशित)।

(२) ना. प्र. प; भाग १, पृ० २६८; टिप्पण २३।

(कहीं आठ) पीढ़ी तक ब्राह्मणकुल का आचार पालन करने और गुहदत्त का सूर्यवंशी क्षत्रिय होने का हाल विस्तार से लिखा है, जिसके विषय में भी भंडारकर चुपकी साध गये हैं।

(७) "चाटसू (जयपुर राज्य में) से मिले हुए गुहिलवंशी राजा बालादित्य के शिलालेख में, जो ई० स० की १०वीं शताब्दी का है, लिखा है कि 'गुहिल के वंश में राम के समान पराक्रमी और शत्रुओं का नाश करनेवाला ब्रह्मक्षत्र गुणयुक्त भर्तृपट्ट हुआ'[1]। यहां राम से तात्पर्य परशुराम से है। परशुराम ब्राह्मण वंश का था और क्षात्र कर्म करता था। अतएव 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द से यही पाया जाता है कि भर्तृपट्ट भी ब्राह्मण था"।

ब्रह्मक्षत्र शब्द का प्रयोग कई पुराणों में मिलता है और विष्णु, वायु, मत्स्य तथा भागवत आदि में पौरव (पांडु) वंश का वर्णन करते हुए अंतिम राजा क्षेमक के प्रसंग में लिखा है कि 'पुरु वंश में २५ राजा होंगे; इस संबंध में प्राचीन ब्राह्मणों का कथन है कि ब्रह्मक्षत्र को उत्पन्न करनेवाले तथा देवताओं एवं ऋषियों से सत्कार पाये हुए इस (पौरव) कुल में अंतिम राजा क्षेमक होगा' (देखो ऊपर पृ० ६६ का टिप्पण २)। यहां 'ब्रह्मक्षत्र' से यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रियगुणयुक्त', अर्थात् जैसे सूर्य वंश में विष्णुवृद्ध, हरित आदि क्षत्रियों ने, जो मांधाता के वंशज थे, ब्रह्मत्व प्राप्त किया, उसी तरह चंद्र वंश में विश्वामित्र, अरिष्टसेन आदि क्षत्रिय भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर चुके थे। देवपारा से मिले हुए बंगाल के सेनवंशी राजा विजयसेन के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वजों को चंद्रवंशी, और राजा सामंतसेन को ब्रह्मवादी तथा 'ब्रह्मक्षत्रिय कुल' का शिरोमणि कहा है (देखो ऊपर पृ० ६६, टिप्पण २)। ऐसे ही मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के दरबार के पंडित हलायुध ने 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में राजा मुंज को 'ब्रह्मक्षत्र कुल' का कहा है (देखो ऊपर पृ० ६६, टिप्पण २)। ऐसी दशा में यह नहीं कह सकते कि सभी (२५) पुरुवंशी

(१) *अस्त(स्त्र)ग्रामोपदेशैरवनतनृपतीन्भूतलं भूरिभूत्या*
भूदेवान्भूमिदानैस्त्रिदिवमपि मखैर्न्न[न्दय]न्नन्दितात्मा ।
ब्र(ब्र)ह्मक्षत्रान्वितोऽस्मिन्समभवदसमे रामतुल्यो विशल्यः
सौ(शौ)र्याढ्यो भर्तृपट्टो रिपुभटविटपिच्छेदकेलीपटीयान् ॥

ए. इं;

राजा, बंगाल का चंद्रवंशी राजा सामंतसेन तथा मालवे का परमार राजा मुंज, ये सब ब्राह्मण थे। 'ब्रह्मक्षत्र' का आशय यही है कि ब्रह्मत्व और क्षात्रत्व दोनों गुणयुक्त।

चाटसू के लेख में भर्तृपट्ट(भर्तृभट) को 'ब्रह्मक्षत्र गुणयुक्त' कहा है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि वह ब्राह्मण वंश का था। इसका अर्थ यही है कि वह ब्रह्मत्व और क्षात्रत्व दोनों गुणों से संपन्न था। उसकी तुलना राम (परशुराम) से करने का तात्पर्य यही है कि वह परशुराम के समान शौर्याढ्य (शूरवीर) और अपने शत्रुओं का संहार करनेवाला था।

भंडारकर महाशय ने अपना लेख लिखते समय जो प्रमाण अपने मंतव्य के अनुकूल देखे उनको तो ग्रहण किया और जो उसके प्रतिकूल थे उनको छोड़ दिया या उनका उलटा अर्थ कर दिया, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

बापा के सोने के सिक्के[1] पर सूर्य का चिह्न होना, वि० सं० १०२८ (ई० स० ९७१) के शिलालेख में मेवाड़ के राजाओं को रघुवंशी बतलाना, वि० सं० १०३४ (ई० स० ९७७) के शिलालेख में उनको क्षत्रियों का उत्पत्ति-स्थान मानना, रावल समरसिंह के समय के आबू के वि० सं १३४२ (ई० स० १२८५) के लेख में उन राजाओं को 'मूर्तिमान् क्षात्रधर्म' कहना, रावल समरसिंह की माता जयतलदेवी के वि० सं० १३३५ (ई० स० १२७८) के लेख में क्षत्रिय बतलाना, वि० सं० १४८५ के शिलालेख में 'क्षत्रियवंश का मंडनमणि' मानना, राणा रायमल के समय के वि० सं० १५५७ (ई० स० १५००) के शिलालेख में सूर्यवंशी बतलाना और मुंहणोत नैणसी का गुहदत्त (गुहिल) को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहना—ये सब बातें उदयपुर के राजवंश का सूर्य वंश में होना सूचित करती हैं। इतिहास के अंधकार की दशा में कई जनश्रुतियां और कथाएं प्रसिद्ध होती रही हैं। नैणसी की ख्यात आदि में जो कथाएं मिलती हैं वे ऊपर उद्धृत की गई हैं। वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लगाकर सोलहवीं शताब्दी तक के शिलालेखों से यही पाया जाता है कि एक ही समय का एक लेखक गुहिल-वंशियों को ब्राह्मण कहता है, तो उसी समय का दूसरा लेखक उनको क्षत्रिय बतलाता है, जिसका कारण नैणसी की लिखी हुई उपर्युक्त वंशपरंपरागत कथा ही है[2]।

(१) बापा के सोने के सिक्के के लिये देखो ना. प्र. प; भाग १, पृ० २४१-२८८।

(२) भंडारकर महाशय की उपर्युक्त दलीलों का यह विवेचन लिखने के पूर्व उनका मूल

कर्नल टॉड ने लिखा है कि वलभी संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२४) में वलभी का नाश होने पर वहां के राजा शीलादित्य की सगर्भा राणी पुष्पावती मेवाड़ में आई, जिसका पुत्र गोहा (गुहिल, गुहदत्त) मेवाड़ के राजवंश का संस्थापक हुआ; परंतु मेवाड़ की किसी ख्यात, शिलालेख और दानपत्र से, या वि० सं० १७३२ (ई० स० १६७५) के बने हुए 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' के समय तक भी, मेवाड़ के राजाओं का वलभीपुर से आना कोई जानता ही नहीं था।

राजवंश और वलभी का संबंध

अबुल्फज़ल ने 'आईने अकबरी' लिखी उस समय भी मेवाड़ के राजाओं के वलभीपुर से आने की बात अज्ञात थी, क्योंकि उसने लिखा है कि 'चित्तोड़ के ज़मींदार (राजा) गहलोत (गुहिल) वंश के हैं; इनके पूर्वज बराड़ देश में जाकर परनाला के ज़मींदार हो गये। अब से आठ सौ वर्ष पहले परनाला शत्रु ने ले लिया और बहुतसे मारे गये। बापा नामक एक छोटे लड़के को लेकर उसकी माता मेवाड़ में चली आई'।

वि० सं० १७०६ के आसपास मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात लिखी, उसमें भी मेवाड़ के राजाओं का दक्षिण में नासिक-त्र्यंबक की तरफ राज्य करना लिखा है। सारांश यह कि उस समय (वि० सं० १७०६=ई० स० १६४९) तक भी इनका वलभी से आना कोई नहीं जानता था।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्नल टॉड को मेवाड़ के राजाओं का वलभी के अंतिम राजा शीलादित्य के वंश में होना तथा वलभी का नाश होने पर गोहा (गुहिल) की माता का मेवाड़ में आना बतलाने का आधार कहां से मिला? इसका उत्तर यह है कि जैनों को वलभी का परिचय था, क्योंकि उनमें यह बात प्रसिद्ध थी कि वीर संवत् ९८० (वि० सं० ५१०=ई० स० ४५३) में वलभी में जैन संघ एकत्र हुआ, जहां देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने जैन सूत्रों (सिद्धांतों) का नया संस्कार किया[1]। जैनों को मुसलमानों के द्वारा वलभी का नाश होने का हाल भी मालूम था, परंतु उसका ठीक समय ज्ञात न था, जिससे भिन्न भिन्न लेखकों

लेख हमारे एक मित्र द्वारा खो जाने के कारण पीछा हस्तगत न हो सका, परन्तु उसमें लिखी हुई सब दलीलें मुझे स्मरण थीं, तदनुसार वे ऊपर दर्ज की गई हैं। संभव है कि उनका क्रम शायद कुछ उलट-पुलट हुआ हो।

(१) 'सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट'; जि० २२ की भूमिका, पृ० ३७।

ने उस घटना के संवत् अलग अलग माने[1]। वि० सं० १३६१ की बनी हुई 'प्रबंधचिंतामणि' नामक जैन पुस्तक में वलभी के राजा शीलादित्य के विषय में यह लिखा है कि "रंक नामक महाजन वलभीपुर में रहता था; प्रारंभ में वह बहुत ही ग़रीब था, परंतु सुवर्णपुरुष (सोने का कल्पित पोरसा अर्थात् पुरुष, जिसका अंग काटने से पीछा उतना ही बढ़ जाना माना जाता है) की सिद्धि मिल जाने से वह बड़ा ही धनाढ्य हो गया। राजा शीलादित्य ने उसकी पुत्री की रत्नजटित कंघी अपनी पुत्री के लिये बलात् छीन ली, जिसपर क्रुद्ध होकर वह म्लेच्छों (मुसलमानों) के पास गया और बहुतसा धन देकर उनको वलभीपुर पर चढ़ा लाया। उन्होंने राजा शीलादित्य को मारकर नगर को नष्ट किया"। ऐसी ही कथा 'शत्रुंजयमाहात्म्य' में भी मिलती है।

वास्तव में वलभी में शीलादित्य नाम के ६ राजा हुए, परंतु जैन लेखकों को केवल एक (अर्थात् अंतिम) शीलादित्य का होना ही ज्ञात था। मेवाड़ में भी शीलादित्य नाम का राजा वि० सं० ७०३ में हुआ था। ऐसी दशा में जैनों ने वलभी के शीलादित्य और मेवाड़ के शीलादित्य को, जो वलभी के शीलादित्य से भिन्न था, एक मानकर मेवाड़ के राजाओं का वलभी से आना मान लिया और टॉड ने उसको स्वीकार कर उसकी पुष्टि में नीचे लिखी हुई दलीलें पेश कीं—

(१) "वलभी नगर का अस्तित्व जैन पुस्तक 'शत्रुंजयमाहात्म्य' से निश्चित हुआ। वहां से राणा (के पूर्वज) दूसरे देश में जा बसे, जिसके संतोषजनक प्रमाण की त्रुटि को १२वीं शताब्दी का एक लेख—जो राणा के वर्तमान राज्य की पूर्वी सीमा पर के ऊपरमाळ से मिला—पूरी कर देता है। उस लेख में 'वल्लभी की दीवार' का उल्लेख मिलता है[2]"।

'शत्रुंजयमाहात्म्य' धनेश्वरसूरि ने बनाया था, जिसमें वह अपने को वलभी के राजा शीलादित्य का गुरु बतलाता है, और उक्त शीलादित्य का वि०

(१) मेरुतुंग ने 'प्रबंधचिंतामणि' में वलभीभंग का समय वि० सं० ३७५ दिया है ('प्रबंधचिंतामणि', पृ० २७६); कर्नल टॉड ने किसी जैन ग्रंथ के आधार पर वलभी (गुप्त) संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२४) माना है जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि ई० स० ६३६ (वि० सं० ६६६) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग वलभी में गया, उस समय वह नगर बड़ी उन्नत दशा में था। वलभी का नाश वि० सं० ८२६ में सिंध के अरबों ने किया था (हि. टॉ. रा; खंड १, पृ० ३१८)।

(२) टॉ; रा; जि० १, पृ० २५३।

सं० ४७७ (ई० स० ४२०) में विद्यमान होना मानता है; परंतु वास्तव में वह पुस्तक वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी या उससे भी पीछे की बनी हुई होनी चाहिये, क्योंकि उसमें राजा कुमारपाल का, जिसने वि० सं० ११९९ से १२३० (ई० स० ११४२ से ११७३) तक राज्य किया था, वृत्तांत मिलता है। ऐसी दशा में धनेश्वरसूरि का वलभीपुर-संबंधी कथन बहुत पिछला होने से विश्वासयोग्य नहीं है और न उसमें मेवाड़ के राजाओं के मूल पुरुष का वलभीपुर से मेवाड़ में आना लिखा है। ई० स० की १२वीं शताब्दी में मेवाड़ की पूर्वी सीमा पर के जिस शिलालेख का प्रमाण टॉड ने दिया है, वह उनके गुरु से ठीक ठीक पढ़ा भी नहीं गया था। वह लेख मेवाड़ के राजाओं का नहीं, किंतु अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय का वि० सं० १२२६ (ई० स० ११६९) का ऊपर लिखा हुआ बीजोल्यां के एक चट्टान पर का लेख है। उसमें 'वलभी' शब्द अवश्य है, परंतु वह वलभी नगर का नहीं किंतु 'झरोखे' का सूचक है। जिस श्लोक में इस शब्द का प्रयोग हुआ है उसका आशय यह है कि 'विग्रहराज (वीसलदेव चौथे) ने ढिल्लिका (दिल्ली) लेने से थके हुए और आसिका (हांसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को प्रतोली (पोल, द्वार) और वलभी (झरोखे) में विश्रांति दी'[1] अर्थात् दिल्ली और हांसी विजय कर उसने अपना यश दरवाज़े दरवाज़े और झरोखे झरोखे में फैलाया। इसी 'वलभी' शब्द पर से कर्नल टॉड ने राणा के पूर्वजों के दूर देश (मेवाड़) में जा बसने का संतोषजनक प्रमाण मान लिया, जिसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है? आगे चलकर फिर इसी लेख में चौहान वाक्पतिराज के प्राकृत (लौकिक) रूप 'वप्पयराज' का प्रयोग देखकर टॉड ने वप्पय को मेवाड़ का राजा बापा मान लिया और उसी 'वलभी' शब्द पर फिर लिखा कि 'यहां वलभीपुर के द्वार का स्मरण दिलाया है, जो सौराष्ट्र के गहलोतों की राजधानी थी'[2]। परंतु यह भी कपोलकल्पना ही है।

(२) "राणा राजसिंह (प्रथम) के राज्य की यादगार में बनी हुई एक पुस्तक के प्रारंभ में लिखा है कि पश्चिम में सोरठ (सौराष्ट्र) देश प्रसिद्ध है;

---

(१) प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः ।
ढिल्लिकाग्रहणश्रांतमासिकालाभलंभितं ॥

(२) टॉ. रा; जि० २, पृ० १७१७–१८ ।

जंगली लोगों ने उसपर चढ़ाई कर बाल-का-नाथ[1] को परास्त किया और परमार राजा की पुत्री के सिवा सब वलभी के पतन में मारे गये[2]"। टॉड ने यह अवतरण जैन याति मान के, वि० सं० १७३४ (ई० स० १६७७) के बने हुए 'राजविलास' नामक हिंदी काव्य से लिया है। इसमें बाल-का-नाथ शब्द का अर्थ या तो बाल (भाल) क्षेत्र (काठियावाड़ में) का राजा, या वलभी का राजा होना चाहिये। राजविलास में आगे यह भी लिखा है कि वहां के राजा का रघुवंशी पुत्र गुहादित्य (गुहदत्त, गुहिल) मेवाड़ में आया और नागद्राह (नागदा) नगर में उसने सोलंकी राजा संग्रामसी की पुत्री धनवती के साथ विवाह किया। यह भी जैनों की पिछले समय की कपोलकल्पना है। वाल्लिका अर्थात् वलभीपुर का नाश होने के बाद वहां के राजवंश का यहां आना संभव नहीं है, जैसा कि हम आगे बतलावेंगे।

(३) "सांडेराव (जोधपुर राज्य में) के यति के यहां की पुस्तक में लिखा है कि जब वलभी का नाश हुआ उस समय लोग वहां से भागे और उन्होंने वाली, सांडेराव और नाडौल बसाये"। यह भी गढ़ंत है और इसमें मेवाड़ में आने का उल्लेख भी नहीं है।

मेवाड़ के राजाओं को वलभी के राजाओं के वंशधर मानने के संबंध में कर्नल टॉड के ये तीनों प्रमाण निर्मूल हैं। वलभी का नाश टॉड के कथनानुसार वलभी संवत् २०५ (वि० सं० ५८०=ई० स० ५२३) में हुआ; यह कथन भी कल्पित है, क्योंकि ई० स० ६३९ (वि० सं० ६९६) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग वलभी में पहुंचा जहां का आंखों देखा बहुतसा हाल उसने लिखा है। वलभी के अंतिम राजा शीलादित्य (छठे) का अलीना का दानपत्र गुप्त (वलभी) संवत् ४४७ (वि० सं० ८२३=ई० स० ७६६) का मिल चुका है। उसके पीछे वलभी का नाश हुआ। जैन लेखकों को वलभी के नाश के ठीक संवत् का पता न था, जिससे उन्होंने उस घटना के मनमाने संवत् लगाये और उन्हीं पर विश्वास

(१) मूल में वाल्लिका' शब्द है, न कि बाल

पच्छिम दिशा प्रसिद्ध देश सोरठ धर दीपत।
नगर वाल्लिकानाथ जंग करि आसुर जीपत॥

'राजविलास' (नागरीप्रचारिणी सभा का संस्करण); पृ० १८।

(२) टॉ. रा. जि० १, पृ० २२१।

कर टॉड ने भी उनके कथनानुसार लिख दिया। वलभी में शीलादित्य नाम के ६ राजा हुए, जिनमें से अंतिम वि० सं० ८२३ (ई० स० ७६६) में विद्यमान था। मेवाड़ में भी शीलादित्य नाम का राजा हुआ, जो सामोली के लेख के अनुसार वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) में यहां राज्य कर रहा था। गुहिल उसका पांचवां पूर्वपुरुष होने से उसका समय वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास स्थिर होता है। ऐसी दशा में गुहिल को वलभी के अंतिम शीलादित्य का पुत्र मानना असंभव है। वास्तव में मेवाड़ के राजाओं का वलभी से कोई संबंध नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि मेवाड़ के राजाओं का मूल पुरुष वलभी (वलभीपुर) से नहीं आया तो वह कहां से आया? इसका ठीक ठीक उत्तर देना अशक्य है, क्योंकि अब तक इस विषय का संतोषजनक निर्णय करने के लिये आवश्यक साधन उपलब्ध नहीं हुए हैं। राजा गुहिल के २००० चांदी के सिक्के ई० स० १८६५ (वि० सं० १६२२) में आगरे से मिले तथा गुहिलवंशी राजा भर्तृभट (प्रथम) के वंशज वि० सं० १००० के आसपास तक चाटसू (जयपुर राज्य में) तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर राज्य करते थे, ऐसा चाटसू से मिले हुए राजा बालादित्य के शिलालेख से निश्चित है। ऐसे ही अजमेर ज़िले के नासूण गांव से मिले हुए वि० सं० ८८७ (ई० स० ८३०) के शिलालेख से यह भी अनुमान होता है कि चाटसू के गुहिलवंशियों की एक शाखा का अधिकार उस समय अजमेर के आसपास के प्रदेश पर भी रहा था; अतएव यह अनुमान करना अन्यथा नहीं कि गुहदत्त के पूर्वजों का राज्य पहले आगरे के आसपास के प्रदेश पर रहा हो और वहीं से गुहिल का मेवाड़ में आना हुआ हो। दूसरा अनुमान यह भी हो [illegible] है कि गुहिल के पूर्वज पहले मेवाड़ के किसी [illegible] गुहिल ने प्रबल एवं स्वतंत्र राजा होकर [illegible] अपने नाम के सिक्के चलाये हों। [illegible] और जब तक प्राचीन शोध से [illegible] विषय को संदिग्ध ही [illegible] गुहिल के मेवाड़ में [illegible])

मेवाड़ का [illegible] ते-मालवा, [illegible]

राजवंश की शाखाएं

सिंह के समय की वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) की चित्तोड़ की प्रशस्ति में गुहिल वंश की अपार (अनेक) शाखाएं होने का उल्लेख है (ऊपर पृ० ३६६, टिप्पण २)। मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में गुहिल वंश की नीचे लिखी हुई २४ शाखाओं के नाम दिये हैं—

(१) गैहलोत (गुहिलोत), (२) सीसोदिया, (३) आड़ा (आहाड़ा), (४) पीपाड़ा, (५) हुल, (६) मांगलिया, (७) आसायच, (८) कैलवा (कैलपुरा), (९) मंगरोपा, (१०) गोधा, (११) डाहलिया, (१२) मोटसीरा, (१३) गोदारा, (१४) भींवला, (१५) मोर, (१६) टीवणा, (१७) माहिल, (१८) तिबडकिया, (१९) बोसा, (२०) चंद्रावत, (२१) धोरणिया, (२२) बूटीवाला, (२३) बूंटिया और (२४) गोतमा।

इनमें से अधिकतर शाखाएं तो उनके निवास के गांवों से प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि सीसोदा गांव (उदयपुर राज्य में) से सीसोदिया; आहाड़ (उदयपुर के निकट) से आहाड़ा; पीपाड़ (जोधपुर राज्य में) से पीपाड़ा; कैलवे (कुंभलगढ़ के नीचे) से कैलवा या कैलपुरा; मंगरोप (मेवाड़ में) से मंगरोपा; डाहल देश से डाहलिया[1]; भींवल (भीमल, मेवाड़ में) से भींवला या भीमला आदि। कुछ शाखाएं मूल पुरुषों के नाम से भी प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि गुहिल के गहलोत (गुहिलोत), चंद्रा के चंद्रावत आदि[2]।

कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचन्द्र के मांडल (मेवाड़ में) के उपासरे के पुस्तक-संग्रह में एक पत्रा मुझे मिला, जिसमें गुहिल वंश की शाखाओं के नाम नीचे लिखे अनुसार दिये हैं—

---

(१) डाहल (चेदि) के राजा गयकर्णदेव का विवाह मेवाड़ के राजा विजयसिंह की पुत्री आल्हणदेवी के साथ हुआ था, इस प्रसंग से मेवाड़ के कोई गुहिलवंशी वहां गये हों और डाहल देश के नाम पर वे डाहलिये कहलाये हों, यह संभव है। मध्य प्रदेश के दमोह ज़िले के दमोह स्थान से एक शिलालेख वहां के गुहिलवंशियों का मिला है, जिसमें क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह के नाम मिलते हैं। विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तोड़ में आकर लड़ा और उसने दिल्ली के मुसलमानों को परास्त किया था।

(२) सीसोदे के राणा भुवनसिंह के पुत्र चंद्रा से चंद्रावत शाखा की उत्पत्ति हुई। अन्य शाखाओं की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता और बहुतसी शाखाएं तो अब नष्ट हो चुकी हैं।

(१) गहिलोत, (२) अहाड़ा, (३) सीसोदिया, (४) पीपाड़ा, (५) मांगलिया, (६) अजवरिया, (७) कैलवा, (८) मंगरोपा, (९) कूड़ेचा, (१०) धोराणा, (११) भीमला, (१२) हुल, (१३) गोधा, (१४) सोहाड़िया, (१५) कोढकरा, (१६) आसपेचा, (१७) नादोड्या, (१८) ओड़लिया, (१९) पालरा, (२०) दुघासा, (२१) कुचेरा, (२२) भटेवरा, (२३) सुंघरायता और (२४) बूसा।

कर्नल टॉड ने अपने 'राजस्थान' में इन २४ शाखाओं के जो नाम दिये हैं, उनमें से कितने एक ऊपर दी हुई दोनों नामावलियों से नहीं मिलते।

उदयपुर के राजवंश के अधिकार में अब तक कई राज्य हैं। राजपूताने में उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ हैं, जिनका इतिहास इस पुस्तक में आगे लिखा जायगा।

गुहिल वंश के अधीन वर्त्तमान राज्य

नेपाल का बड़ा राज्य भी इसी वंश का है, वहां के राजाओं का मूल पुरुष मेवाड़ के रावल समरसिंह के पुत्र रत्नसिंह का छोटा भाई कुंभकर्ण माना जाता है। रावल रत्नसिंह के समय दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी ने चित्तोड़ का क़िला ले लिया, जिससे उसके भाई-बेटे इधर उधर चले गये। उसके भाई कुंभकर्ण के वंशज समय पाकर कमाऊं की पहाड़ियों में होते हुए पहले पालपा में जा जमे, फिर क्रम-क्रमशः वे अपना राज्य बढ़ाने लगे और पृथ्वीनारायणशाह ने नेपाल पर अपना अधिकार जमा लिया[1]। कुंभकर्ण से लगाकर पृथ्वीनारायणशाह तक का इतिहास बहुधा अंधकार में ही है[2]।

(१) इंपीरियल गैज़ेटियर ऑफ़ इंडिया, जि० १६, पृ० ३२-३३।

(२) कुंभकर्ण से लगाकर पृथ्वीनारायणशाह तक की नामावली उदयपुर राज्य के इतिहास में इस तरह लिखी मिलती है—

(१) कुंभकर्ण, (२) अयुत, (३) परावर्म, (४) कविवर्म, (५) यशवर्म, (६) उदुंबरराय, (७) भट्टराय, (८) जिल्लराय, (९) अजलराय, (१०) अटलराय, (११) तुत्थाराय, (१२) भामसीराय, (१३) हरिराय, (१४) ब्रह्मनिकराय, (१५) मन्मन्थराय, (१६) भूपालखान, (१७) मींचाखान, (१८) जयंतखान, (१९) सूर्यखान, (२०) मीयाखान, (२१) विचित्रखान, (२२) जगदेवखान, (२३) कुलमंडनशाह, (२४) आसोवनशाह, (२५) द्रव्यशाह, (२६) पुरंदरशाह, (२७) [illegible], (२८) रामशाह, (२९) डंबरशाह, (३०) श्रीकृष्णशाह, (३१) पृथ्वीपति-[illegible] (३२) वीरभद्रशाह, (३३) नरभूपालशाह और पृथ्वी[illegible]नारायणशाह।

पृथ्वीनारायणशाह के वंशज महाराजाधिराज राजेन्द्रविक्रमशाह ने 'राजकल्पद्रुम' नाम तंत्रग्रंथ लिखा, जिसमें विक्रम (झिल्लराज का पिता) से लगाकर अपने समय तक की वंशावली दी है जो ऊपर लिखी हुई वंशावली से बहुत कुछ मिलती हुई है। उक्त पुस्तक में अपने मूल पुरुष विक्रम का चित्रकूट (चित्तोड़) से आना बतलाया है। महाराणा जवानसिंह के समय से नेपाल के लोगों का मेवाड़ में आना-जाना शुरू है।

बंबई इहाते के सूरत ज़िले में धरमपुर का राज्य सीसोदियों का है, वहां के महाराणा अपने को राणा राहप के वंशधर रामराज या रामशाह की संतान मानते हैं। रामराजा ने मेवाड़ से गुजरात में जाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया हो।

मालवे में बड़वानी का राज्य सीसोदियों का है, जहां के राणा अपने को मेवाड़ के राजवंश में होना मानते हैं। उनका प्राचीन इतिहास प्रसिद्धि में नहीं आया। राणा लीमजी से उनका शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है।

काठियावाड़ में भावनगर के महाराजा, पालीताणा के ठाकुर तथा लाठी और वळा के ठाकुर भी गुहिलवंशी हैं। ऐसे ही रेवाकांठा एजेंसी में राजपीपला के महाराणा भी गुहिलवंशी हैं। इन पांचों को 'गोहिल' कहते हैं और वे अपनी उत्पत्ति चंद्रवंशी पैठण (प्रतिष्ठान, दक्षिण में) के शालिवाहन से बतलाते हैं। वे अपना मूल निवासस्थान खेड़ (जोधपुर राज्य में) होना और वहां से काठियावाड़ तथा गुजरात में जाना प्रकट करते हैं, परंतु यह इतिहास के अज्ञान में भाटों की की हुई कल्पना ही है। पैठण (प्रतिष्ठान) का राजा शालिवाहन चंद्रवंशी नहीं, किंतु आंध्र(सातवाहन)वंशी था। खेड़ के गोहिल मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, जिनसे राठोड़ों ने खेड़ का इलाक़ा छीना था। मेवाड़ के शालिवाहन के नाम से परिचित न होने और पैठण के शालिवाहन का नाम अधिक प्रसिद्ध होने के कारण भाटों ने पीछे से उसको दक्षिण का शालिवाहन मान लिया, जो चंद्रवंशी भी नहीं था। काठियावाड़ के गोहिल वि० सं० की १५वीं शताब्दी तक अपने को सूर्यवंशी ही मानते थे, जैसा कि गंगाधर-कृत 'मंडलीक काव्य' से ज्ञात होता है। इस विषय का अधिक विवेचन हम अगले अध्याय में मेवाड़ के राजा शालिवाहन के प्रसंग में करेंगे।

कोल्हापुर और सावंतवाड़ी के राजा भी मेवाड़ के राजाओं के वंश से ही निकले हैं, परंतु अब वे मरहटों में मिल गये हैं।

तीसरा अध्याय

उदयपुर राज्य का प्राचीन[1] इतिहास

भारतवर्ष के अन्य प्राचीन राजवंशों के समान उदयपुर के राजवंश का प्राचीन इतिहास भी अंधकार में लीन है। प्राचीन लिखित इतिहास न होने के कारण पीछे से कई दंतकथाएं गढ़ंत की गईं और समय पाकर उनकी भी गणना इतिहास के साधनों में होने लगी। वि० सं० १७३२ के बने हुए 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' तथा भाटों की ख्यातों में दी हुई इस वंश की पुरानी वंशावलियां परस्पर बहुधा मिलती हुई हैं; अन्तर इतना ही है कि भाटों की ख्यातों में नाम अशुद्ध रूप में लिखे मिलते हैं और राजप्रशस्ति में उनके शुद्ध रूप हैं। अनुमान तो यही होता है कि 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' की वंशावली भाटों से ही ली गई हो। उक्त काव्य में सूर्य[2] से लगाकर राजा सुमित्र तक की[3] वंशावली तो 'भागवत'

---

(१) इस प्रकरण में प्राचीन काल से लगाकर महाराणा हम्मीर के चित्तोड़ लेकर वहां अपने वंश का राज्य पीछा स्थिर करने तक का इतिहास लिखा जायगा।

(२) भागवत आदि पुराणों में नारायण (विष्णु) के नाभिकमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से मरीचि, उससे कश्यप और कश्यप से विवस्वान् (सूर्य) का उत्पन्न होना लिखा है। विवस्वान् का अर्थ सूर्य भी होता है, जिससे विवस्वान् के वंशज सूर्यवंशी कहलाये।

(३) भिन्न भिन्न पुराणों में भी विवस्वान् (सूर्य) से लगाकर सुमित्र तक की नामावली में कहीं कहीं अंतर पाया जाता है। कितने एक पुराणों में कुछ नाम छूट भी गये हैं इसलिये कई पुराणों की वंशावलियों का परस्पर मिलान करने से ही ठीक वंशावली स्थिर हो सकती है। विष्णु, भागवत, वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड और अग्नि पुराणों की वंशावलियों का मिलान करने से विवस्वान् (सूर्य) से सुमित्र तक की नामावली नीचे लिखे अनुसार स्थिर होती है—

विवस्वान् (सूर्य), मनु (वैवस्वत), इक्ष्वाकु, विकुक्षि (शशाद), ककुत्स्थ (पुरंजय), अनेना (सुयोधन), पृथु, विश्वगश्व, आर्द्र (चंद्र), युवनाश्व, श्रावस्त (शाबस्त), बृहदश्व, कुवलयाश्व (धुंधुमार), दृढाश्व, हर्यश्व, निकुंभ, संहताश्व, कृशाश्व, प्रसेनजित्, युवनाश्व (दूसरा), मांधाता, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, संभूत, अनरण्य, पृषदश्व, हर्यश्व, सुमना, त्रिधन्वा, त्रय्यारुण, सत्यव्रत (त्रिशंकु), हरिश्चंद्र, रोहित (रोहिताश्व), हरित, चंचु, विजय, रुरुक, वृक, बाहु, सगर, असमंजस, अंशुमान्, दिलीप, भगीरथ, श्रुत, नाभाग, अंबरीष, सिंधुद्वीप, अयुतायु (अयुताश्व), ऋतुपर्ण, सर्वकाम, सुदास, सौदास (मित्रसह, कल्माषपाद), अश्मक,

पुराण से उद्धृत कर लिखा है कि सुमित्र के पीछे सूर्य वंश में क्रमशः वज्रनाभ, महारथी, अतिरथी, अचलसेन, कनकसेन, महासेन, विजयसेन, अजयसेन अभंगसेन, मदसेन और सिंहरथ राजा हुए, जिन्होंने अयोध्या में राज्य किया। सिंहरथ का पुत्र विजयभूप अयोध्या से दक्षिण में गया और वहां के राजाओं को विजय कर वहीं रहा। विजयभूप के पीछे क्रमशः पद्मादित्य, हरदत्त, सुजसादित्य (सुयशादित्य), सुमुखादित्य, सोमदत्त, शिलादित्य (शीलादित्य), केशवादित्य, नागादित्य, भोगादित्य, देवादित्य, आशादित्य, कालभोजादित्य, गुहादित्य और वप्पा (बापा) हुए[1], जिनमें से पिछले कुछ नाम पुराने शिलालेखों में भी मिल जाते हैं[2], परंतु उक्त काव्य तथा ख्यातों में वे उलट-पुलट दिये गये हैं। बापा से हम्मीर तक के नामों में भी कुछ तो छोड़ दिये गये हैं, कुछ कृत्रिम धरे हुए हैं और सीसोदे की छोटी शाखा नाम भी मुख्य वंश में मिला दिये गये हैं[3]। ख्यातों में

मूलक, दशरथ (शतरथ), इडविड, कृतशर्मा, विश्वसह, दिलीप दूसरा (खट्वांग, दीर्घबाहु) रघु, अज, दशरथ (दूसरा), राम, कुश, अतिथि, निषध, नल, नभ, पुंडरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अहीनगु, पारियात्र, दल, बल (शल), उक्थ, वज्रनाभ, शंखनाभ (शंखण), ध्युपिताश्व (व्युपिताश्व) विश्वसह (दूसरा), हिरण्यनाभ, पुष्य, ध्रुवसंधि, सुदर्शन, अग्निवर्ण, शीघ्र, मरु, प्रसुश्रुत, सुसंधि, अमर्ष, महस्वान्, विश्रुतवान्, बृहद्बल (श्रुतायु), बृहत्क्षय, उरुक्षय, वत्स (वत्सवृद्ध), वत्सव्यूह, प्रतिव्योम, दिवाकर (भानु), सहदेव, बृहदश्व (ध्रुवाश्व), भानुरथ, प्रतीकाश्व, सुप्रतीक, मरुदेव, सुनक्षत्र, किन्नराश्व (पुष्कर), अंतरिक्ष, सुतपा (सुपर्ण), अमित्रजित्, बृहद्भ्राज (भरद्वाज), धर्मी (बर्ही), कृतंजय, रणंजय (रणेजय), संजय, शाक्य, शुद्धोदन, राहुल, प्रसेनजित्, क्षुद्रक, कुलक (रणक), सुरथ और सुमित्र।

(१) सुमित्र से बापा तक की वंशावली 'राजप्रशस्ति महाकाव्य'; सर्ग १, श्लो० ३२ से ३५; और सर्ग २, श्लोक २–६ से उद्धृत की गई है (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १४६–१५०)।

सुमित्र से बापा तक की वंशावली को हम विश्वास के योग्य नहीं समझते, क्योंकि बापा, गुहादित्य (गुहिल) का पुत्र नहीं, किंतु उससे ८वीं पीढ़ी में हुआ था, ऐसा शिलालेखों से पाया जाता है।

(२) शीलादित्य, नाग (नागादित्य), भोज (भोगादित्य), कालभोज (कालभोजादित्य) और गुहिल (गुहादित्य), ये नाम शिलालेखों में मिलते हैं, परंतु उनमें क्रम यह है—गुहिल (गुहदत्त), भोज, महेन्द्र, नाग, शील (शीलादित्य), अपराजित, महेन्द्र (दूसरा) और कालभोज (बापा)।

(३) रावल रणसिंह (कर्णसिंह) से गुहिल वंश की शाखाएं हुईं। बड़ी

बापा से हम्मीर तक के जो संवत् दिये हैं, वे मनमाने होने से सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं हैं। उनमें हम्मीर से पीछे की वंशावली अवश्य शुद्ध है, परंतु हम्मीर से राणा कुंभा[1] तक के संवत् संशयरहित नहीं हैं। कुंभा (कुंभकर्ण)

शाखावाले मेवाड़ के स्वामी रहे और रावल कहलाये, छोटी शाखावालों को सीसोदे की जागीर मिली और वे राणा कहलाये। रावल शाखा का अंतिम राजा रत्नसिंह हुआ, जिससे वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तोड़ छीन लिया और रत्नसिंह के साथ ही मेवाड़ की रावल शाखा की समाप्ति हुई।

वि० सं० १३८२ (ई० स० १३३५) के आसपास सीसोदे के राणा हम्मीरसिंह ने चित्तोड़गढ़ पीछा लेकर मेवाड़ पर राणा शाखा का राज्य स्थिर किया, जो अब तक चला आता है। भाटों ने रत्नसिंह के पीछे सीसोदे की शाखा के मूल पुरुष कर्णसिंह (रणसिंह) से लगाकर हम्मीर तक के सब राणाओं को मेवाड़ के राजा मान लिया, जिसका मुख्य कारण यह था कि बापा के राज्य का प्रारंभ वि० सं० ७९१ (ई० स० ७३४) से हुआ, जिसको उन्होंने वि० सं० १९१ मान लिया। ६०० वर्ष के इस अंतर को निकालने के लिए उन्होंने सीसोदे के राणाओं के नाम भी मेवाड़ के राजाओं की वंशावली में शामिल कर दिये तो भी संवतों का हिसाब ठीक हुआ, जिससे संवत् मनमाने धर दिये और बापा का तो १०१ वर्ष राज्य करना लिखा।

(१) भाटों की ख्यातों से बापा से हम्मीर तक की मेवाड़ के राजाओं की नामावली तथा उनके गद्दीनशीनी के संवत् नीचे दिये जाते हैं—

संख्या	नाम	संवत्	संख्या	नाम	संवत्
१	बापा	१९१	१६	कर्णादित्य	८०७
२	खुम्माण	२९२	१७	भावसिंह	८३६
३	गोविंद	३५२	१८	गात्रसिंह	८८०
४	महेंद्र	३८१	१९	हंसराज	९२६
५	अल्लू	४५१	२०	योगराज	९६१
६	सिंह	५२१	२१	वैरड़	९९६
७	शक्तिकुमार	५६२	२२	वैरिसिंह	१०३६
८	शालिवाहन	५८७	२३	तेजसिंह	१०६६
९	नरवाहन	६१८	२४	समरसिंह	११०६
१०	अम्बपसाव	६४६	२५	रत्नसिंह	११५८
११	कीर्तिवर्मा	६६१	२६	कर्णसिंह	११५९
१२	नरवर्म	७२२	२७	राहप	१२०१
१३	नरवै	७५३	२८	नरपति	१२६२
१४	उत्तम	७७९	२९	दिनकरण	१२९५
१५	भैरव	७९६	३०	जसकरण	१३०१

के पीछे ख्यातों के संवत् अवश्य शुद्ध हैं। इन सब बातों से अनुमान होता है कि भाटों ने वि० सं० की १६वीं शताब्दी के आसपास अपनी ख्यातें लिखना आरंभ किया हो, जिससे जो नाम उस समय मालूम थे वे ही उनमें शुद्ध मिलते हैं।

शिलालेखों में मेवाड़ के राजाओं की वंशावली गुहिल (गुहदत्त) से आरंभ होती है। वि० सं० की ११वीं शताब्दी के प्रारंभ तक के लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक तो वहांवालों को उक्त वंशावली का ठीक ठीक ज्ञान था, परंतु उसके बाद वि० सं० की १५वीं शताब्दी के अंत तक के शिलालेखों से पाया जाता है कि उस समय लोग पुराने नाम भूल गये थे, क्योंकि कितने एक नाम जो स्मरण थे, वे ही उस समय के शिलालेखों में दर्ज किये गये हैं। वि० सं० १०२८ के शिलालेख में गुहिल के वंश में बप्प (बापा) का होना लिखा है, परंतु वि० सं० १३३१, १३४२ और १४६६ के शिलालेखों में बप्प (बापा) को, जो गुहिल से आठवीं पुश्त में हुआ था, गुहिल का पिता मान लिया। बापा किसी राजा का नाम नहीं, किंतु उपनाम था और पीछे से तो वे यह भी भूल गये कि किस राजा का उपनाम बापा था। राणा कुंभा बड़ा ही विद्वान् राजा था जिसको अपने कुल की वंशावली की त्रुटि ज्ञात होने से उसने पहले के शिलालेखों का संग्रह कराकर वंशावली को ठीक करने, और बापा किस राजा का नाम था, यह निश्चय करने का उद्योग कर वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में अपनी शोध के अनुसार वंशावली दी, परंतु उसमें भी कुछ त्रुटियां रह गईं। उसमें शील (शीलादित्य) को बापा ठहरा दिया, जो ठीक नहीं है। अब हम गुहिल से लगाकर शक्तिकुमार तक की नामावली भिन्न भिन्न शिलालेखों से नीचे उद्धृत करते हैं, जिससे पाठकों को भिन्न भिन्न समय के वंशावली लिखनेवालों के तद्विषयक ज्ञान का भली भांति परिचय हो सकेगा।

संख्या	नाम	संवत्	संख्या	नाम	संवत्
३१	नागपाल	१३०६	३६	जयसिंह	१३२६
३२	पूर्णपाल	१३११	३७	गढ़ लक्ष्मणसिंह	१३३१
३३	पृथ्वीपाल	१३१५	३८	अरिसिंह	१३४६
३४	भूणसिंह	१३१६	३९	अजयसिंह	१३५६
३५	भीमसिंह	१३२२	४०	हम्मीरसिंह	१३५७

इस वंशावली में राजाओं के कई नाम कृत्रिम हैं और संवत् तो एक भी शुद्ध नहीं है।

संख्या	आटपुर (आहाड़) का लेख वि० सं० १०३४ का	चित्तोड़ का लेख वि० सं० १३३१ का	आबू का लेख वि० सं० १३४२ का	राणपुर का लेख वि० सं० १४९६ का	कुंभलगढ़ का लेख वि० सं० १५१७ का	शिलालेखों से निश्चित ज्ञात संवत्
१		बप्प	बप्प (बप्पक)	बप्प	...	...
२	गुहदत्त	गुहिल	गुहिल	गुहिल	गुहिल	...
३	भोज	भोज	भोज	भोज	भोज	...
४		...	...	...	महेंद्र	...
५	नाग	...	...	...	नाग	...
	शील	शील	शील	शील	बप्प	वि० सं० ७०३ (शीलादित्य का लेख)
७	अपराजित	...	...	...	अपराजित	वि० सं० ७१८.
८	महेंद्र (दूसरा)	...	...	...	महेंद्र (दूसरा)	...
९	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	कालभोज	...
	खोम्माण	...	...	...	खुम्माण	...